प्रमुख जैनाचार्यों का संस्कृत काव्यशास्त्र में योगदान

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की पी० एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

रश्मि पन्त

निर्देशक

डा० सुरेशचन्द्र पाण्डे

प्राध्यापक संस्कृत - विभाग

संस्कृत - विभाग

इलाहाबाद - विश्वविद्यालय

१९९२

प्राक्कथन

सामान्यतया कवि के कर्म को काव्य कहा जाता है। अतः सर्वप्रथम काव्य के साथ शास्त्र पद जोड़कर काव्यशास्त्र नाम प्रयुक्त हुआ है। काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों को भामह, रूद्रट, वामन आदि आचार्यों ने "काव्यालंकार" संज्ञा से अभिहित किया। अतः कालान्तर में अलंकार-शास्त्र का भी प्रयोग होने लगा। चूँकि शब्द तथा अर्थ के साहित्य (सहितयोः भावः साहित्यम्) का नाम काव्य है। अतः इसे साहित्य-शास्त्र भी कहा जाता है। इस प्रकार काव्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र और साहित्यशास्त्र नाम एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये जाने से पर्याय ही हैं।

साहित्य का बहुत व्यापक अर्थ है। इसमें सर्जनात्मक और अनुशासनात्मक या समीक्षात्मक साहित्य सभी कुछ आ जाता है। अनुशासनात्मक साहित्य सर्जनात्मक साहित्य का नियामक है। अलंकारशास्त्र का सम्बन्ध इसी अनुशासनात्मक या समीक्षात्मक साहित्य से है। अतः इसका ज्ञान अत्यावश्यक है।

अद्यावधि जिन अलंकारशास्त्रों का शोध-दृष्टि से अध्ययन किया गया है, उनमें जैनाचार्यों द्वारा रचित अलंकारशास्त्रों की गणना स्वल्प है, अतः उनकी शोध - खोज आवश्यक है जिससे सुधीजनों को जैनाचार्यों

की काव्यशास्त्रविषयक मान्यताओं पर विचार करने का अवसर प्राप्त होगा। प्रस्तुत शोध – प्रबन्ध "प्रमुख जैनाचार्यों का संस्कृतकाव्यशास्त्र में योगदान" इसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

जैनधर्म प्रारम्भ से ही बहुव्यापी तथा बहुजीवी धर्म रहा है उसकी परम्परा आज भी अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। साहित्य की प्रत्येक विधा को न्यूनाधिक रूप से जैन – मनीषियों ने अपनी प्रतिभा द्वारा संवारा है। धर्म – दर्शन तथा आचार – नियम के अतिरिक्त व्याकरण, साहित्य, कोश आदि विषयों पर अनेक ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनके रचयिता जैन थे। काव्यशास्त्र जैसे गम्भीर विषय पर भी जैनाचार्यों द्वारा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया गया है।

जैनाचार्यों की मूल भाषा प्राकृत है, परन्तु कालान्तर में उन्होंने संस्कृत भाषा को अपनी भावाभिव्यक्ति का साधन बनाया क्योंकि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में संस्कृत – भाषा का प्रचार – प्रसार था। इस भाषा का अध्ययन व चिन्तन – मनन न करने वालों के लिये अपने विचारों को सुरक्षित रख पाना कठिन हो गया था। भारतीय दार्शनिक दर्शन सम्बन्धी गूढ़ तत्वों को अपने ग्रन्थों में संस्कृत भाषा में ही संजोते थे। साथ ही तत्कालीन समाज में संस्कृत भाषा में लिखना तथा शास्त्रार्थ आदि में संस्कृत – भाषा का प्रयोग करना विद्वत्ता का प्रतीक बन गया था। तर्क,

लक्षण तथा साहित्य उस युग की महाविद्यायें थी तथा इस महत्त्रयी का पाण्डित्य राजदरबार तथा जनसमाज में अग्रगण्य होने के लिये आवश्यक था। अतः जैनाचार्यों ने अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने व प्रतिभा को कसौटी पर कसने हेतु संस्कृत भाषा को भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं द्वारा पल्लवित व पुष्पित किया जिनमें काव्यशास्त्र भी एक है।

प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध को सप्त अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय, "संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख जैनाचार्य व्यक्तित्व व कृतित्व" में छः जैनाचार्यों - आचार्य वाग्भट प्रथम, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट द्वितीय व भावदेवसूरि का ऐतिहासिक क्रम से परिचय है, जिनमें उनके माता-पिता, गुरू, कुल - गोत्र व समय आदि पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। साथ ही उनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए उनके अलंकारशास्त्र विषयक ग्रन्थों का सामान्य परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय "काव्य-स्वरूप, हेतु व प्रयोजन" में सर्वप्रथम काव्य-स्वरूप पर विचार करते हुए विभिन्न आधारों पर काव्य के भेद किये गये हैं। काव्य-भेदों के अन्तर्गत महाकाव्य के स्वरूप व उसके वर्णनीय विषयों का उल्लेख है। इसी प्रसंग में काव्य के अन्य भेद-आख्यायिका, कथा, चम्पू,

व अनिबद (मुक्तक) पर विशेष रूप से विचार किया है। तत्पश्चात् ध्वनि के आधार पर मान्य काव्य-भेद, ध्वनि-भेद, काव्य-हेतु व काव्य-प्रयोजन पर क्रमशः प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय "जैनाचार्यों की दृष्टि में रस-स्वरूप विवेचन" में पूर्वकथित छः प्रमुख जैनाचार्यों की रस विषयक मान्यताओं पर विचार किया गया है। इसमें सर्वप्रथम रस का महत्त्व व उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। आ. रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रस विषयक इस मान्यता की कि "रस सुख-दुःखात्मक है" की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इसी क्रम में रसों के सभी भेदों पर पृथक्-पृथक् विचार किया है तथा अनुयोगद्वारसूत्रकार द्वारा भयानक रस के स्थान पर मान्य व्रीडनक-रस का विवेचन किया है। तत्पश्चात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव, सात्त्विकभाव, स्थायिभाव व रसाभास व भावाभास पर विचार किया है।

चतुर्थ अध्याय "दोष-विवेचन" में दोष का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए जैनाचार्यों द्वारा मान्य पददोष, पदांशदोष, वाक्यदोष, उभयदोष, अर्थदोष व रसदोषों पर पृथक्-पृथक् विचार किया गया है। तत्पश्चात् दोष-परिहार का भी उल्लेख है।

पंचम अध्याय "गुण-विवेचन व जैनाचार्य" में गुण सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए गुण के स्वरूप व भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा मान्य

गुण-भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

षष्ठ अध्याय "अलंकार-विवेचन व जैनाचार्य" में अलंकार के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् शब्द व अर्थ की प्रधानता को ध्यान में रखकर अलंकार के शब्दालंकार आदि भेदों पर विचार किया गया है तथा अन्त में प्रकृति के आधार पर मान्य अर्थालंकारों के वर्गीकरण का विवेचन है।

सप्तम अध्याय "नाट्य का समावेश" में नाट्यशास्त्रीय तत्वों पर विचार किया गया है। इनमें जैनाचार्यों द्वारा रचित अलंकारशास्त्रों में पाये जाने वाले नाट्य तत्त्व ही प्रमुख हैं। नाट्य की उत्पत्ति, नाट्यशास्त्रीय प्रमुख ग्रन्थों का परिचय, नायक-स्वरूप उसके सात्त्विक गुण तथा उसके भेद, प्रतिनायकस्वरूप, नायक के अन्य सहायक पात्रों - विदूषक आदि, नायिका - स्वरूप, नायिका-भेद, नायिका के सत्त्वज अलंकार, प्रतिनायिका तथा नाट्य वृत्तियां विवेच्य विषय हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण में, मैं श्रद्धेय गुरूवर्य डा. सुरेशचन्द्र जी पाण्डे (प्राध्यापक, संस्कृत - विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) की हृदय से आभारी हूँ, जिनके कुशल - निर्देशन, कृपा व सज्जनता से यह शोध - प्रबन्ध अनुप्राणित हुआ है। साथ ही मैं श्रद्धेय गुरूवर्य डा. सुरेशचन्द्र जी श्रीवास्तव (अध्यक्ष, संस्कृत - विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) की भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपनी कृपा व स्नेह

का पात्र मुझे सर्वदा समझा।

इस प्रसंग में, मैं अपने समस्त गुरूजनों की भी ह्रदय से कृतज्ञ हूँ जिनकी सद्भावना व स्नेह मेरे अवलम्ब रहे।

मुझे अपने मित्रों से सदा इस कार्य को सम्पन्न करने हेतु प्रेरणा तथा उत्साह प्राप्त होता रहा, जिसकी अभिलाषा मुझे सर्वदा ही रहेगी।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी के निदेशक आदरणीय डा. सागरमल जी जैन व अधिकारियों तथा केन्द्रीय पुस्तकालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अधिकारियों की भी मैं आभारी हूँ, जिनकी कृपा से अनेक ग्रन्थों के अवलोकन तथा उपयोग करने की सुविधा मिली।

इलाहाबाद
दि.— ९.७.१९९२

रश्मि पन्त

विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय: संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख जैनाचार्य व्यक्तित्व व कृतित्व

जैनाचार्यों ने जहां न्याय, व्याकरण, कोश आदि विविध विषयों पर मौलिक ग्रन्थों की रचना की है, वहीं, काव्यशास्त्र जैसे लोकोपयोगी विषयों पर भी ग्रन्थों का प्रणयन किया है, जिससे उनके काव्यशास्त्रीय ज्ञान का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि इन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की गणना स्वल्प रही है तथापि इनमें कतिपय ग्रन्थरत्न ऐसे हैं जिसमें उन्होंने अपनी कुछ विशिष्ट मान्यताएं प्रतिपादित की हैं। अत: संस्कृत काव्यशास्त्र में जैनाचार्यों की देन महत्वपूर्ण है।

काल की दृष्टि से प्रथम जैनाचार्य आर्यरक्षित ईसा की प्रथम शताब्दी के हैं। तथा अन्तिम आचार्य सिद्धिचन्द्रगणि ईसा की षोडश शती के हैं, इसके अतिरिक्त कई टीकाकार हैं, जिनकी परंपरा अष्टादश शती तक विस्तृत है। आर्यरक्षित यद्यपि विशुद्ध आलंकारिक नहीं हैं तथापि इनके द्वारा रचित 'अनुयोगद्वारसूत्र' से उनके अलंकारशास्त्रीय ज्ञान की झलक मिलती है। तत्पश्चात् एक लम्बी अवधि तक जैनाचार्यों द्वारा रचित अलंकारशास्त्रों का अभाव है। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में किसी अज्ञातनामा जैनाचार्य द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध "अलंकारदप्पण" नामक ग्रन्थ मिलता है।

प्रथम शती के आर्यरक्षित व एकादश शती के अलंकारदप्पणकार के अनन्तर वाग्भट प्रथम से प्रारम्भ होने वाली जैन आलंकारिकों की परंपरा में हम प्रविष्ट होते हैं, जो द्वादश शताब्दी से अविच्छन्न चलती है।

आचार्य वाग्भट प्रथम के "वाग्भटालंकार" में काव्यशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र कृत "काव्यानुशासन" ग्रन्थ उनका अलंकारविषयक एकमात्र ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में अलंकारशास्त्रीय गुण-दोष,

अलंकार आदि विषयों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्रीय नायक - नायिकादि विविध विषयों का संभवतः प्रथमतः वर्णन मिलता है।

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र विरचित "नाट्यदर्पण" तो नाट्यशास्त्रीय ज्ञान हेतु दर्पण ही है , इसमें अनेक नवीन मान्यताओं को स्थान दिया गया है। आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि कृत "अलंकारमहोदधि" आठ तरंगों में विभक्त है, जिसमें अलंकारशास्त्रीय समस्त विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अमरचन्द्रसूरि की "काव्यकल्पलता - वृत्ति" व विनयचन्द्रसूरि की "काव्य-शिक्षा" ये दोनों ग्रन्थ काव्य - रचना के इच्छुकों हेतु अत्युपयोगी हैं। दस परिच्छेदों में विभक्त विजयवर्णी की "श्रृंङ्गारार्णवचन्द्रिका" अलंकारविषयक ग्रन्थ है। अजितसेन द्वारा रचित "अलंकारचिन्तामणि" पाँच परिच्छेदों में विभक्त है, इसके द्वितीय, तृतीय, व चतुर्थ परिच्छेदों में केवल अलंकारों का विवेचन किया गया है, जो अजितसेन के अलंकारशास्त्रीय गंभीर ज्ञान का सूचक है। आचार्य वाग्भट द्वितीय ने भी "काव्यानुशासन" नाम से एक ग्रन्थ की रचना की है, इसमें अधिकांश सामग्री हेमचन्द्राचार्य के "काव्यानुशासन" के आधार पर विवेचित है। मंडनमन्त्री का "अलंकारमण्डन" और भावदेवसूरि का "काव्यालंकारसार" - ये दो अलंकारशास्त्रीय लघु ग्रन्थ हैं, जिनमें प्राचीन पद्धति का अनुसरण किया गया है। पद्मसुन्दरगणि का "अकबरसाहिश्रृंङ्गारदर्पण" नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, इसमें विविध महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन है। सिद्धिचन्द्रगणि का "काव्य-प्रकाशखण्डन" आचार्य मम्मट के प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्यप्रकाश" के खण्डन की दृष्टि से लिखित है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थ व टीकाएँ भी हैं, जो यत्र-तत्र विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारों में उपलब्ध हैं अथवा जिनका यत्र-तत्र ग्रन्थों में उल्लेख मात्र मिलता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उक्त जैनाचार्यों में से, छः प्रमुख जैनाचार्यों- आचार्य वाग्भट प्रथम, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र , आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि, आचार्य वाग्भट द्वितीय एवं आचार्य भावदेवसूरि के ग्रन्थों - क्रमशः "वाग्भटालंकार", "काव्यानुशासन", "नाट्यदर्पण", "अलंकारमहोदधि", "काव्यानुशासन" एवं "काव्यालंकारसार" - के आधार पर संस्कृत काव्यशास्त्र में उनके योगदान का उल्लेख किया गया है।

आचार्य वाग्भट प्रथम

संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य वाग्भट प्रथम की प्रसिद्धि उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ "वाग्भटालंकार" के कारण है। इनके सम्बन्ध में इतना तो निस्सन्दिग्ध है कि ये जैनधर्मानुयायी थे। "वाग्भटालंकार" का प्रारम्भ मंगल जैनधर्म तथा जैनदर्शन के प्रति वाग्भट की आस्था व मनस्तुष्टि का परिचायक है।[1] यद्यपि आचार्य वाग्भट प्रथम एवं आचार्य हेमचन्द्र दोनों समकालिक हैं तथापि काल की दृष्टि से वाग्भट प्रथम हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती हैं, किन्तु वाग्भट प्रथम की अपेक्षा आचार्य हेमचन्द्र को अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, इसलिये कुछ विद्वानों ने आचार्य हेमचन्द्र को पूर्व में स्थान दिया है एवं वाग्भट प्रथम को पश्चात् में।[2]

"वाग्भटालंकार" प्रणेता वाग्भट को वाग्भट प्रथम कहना आवश्यक है क्योंकि इसी नाम के एक और आलंकारिक हो चुके हैं जिन्होंने "काव्यानुशासन"

---

1. "श्रियं दिशतु वो देवः श्रीनाभेयजिनः सदा।
   मोक्षमार्गं सतां ब्रूते यदागमपदावली

   वाग्भटालंकार, 1/1

2. द्रष्टव्य - संस्कृत साहित्य का इतिहास
   अनु. मंगलदेव शास्त्री, पृ. 468
   द्रष्टव्य - अलंकार धारणा विकास व विश्लेषण,
   पृ. 224 व पृ. 229

की रचना की है। इन्हें अभिनव वाग्भट अथवा "वाग्भट द्वितीय" के नाम से अभिहित किया जाता है। एगलिंग (Eggeling) ने भ्रांतिवश इन दोनों लेखकों को एक ही व्यक्ति समझकर उसे दोनों ग्रन्थों का रचयिता मान लिया है।[1] किन्तु काव्यानुशासनकार वाग्भट द्वितीय द्वारा अपने ग्रन्थ में स्वयं वाग्भट प्रथम का उल्लेख[2] दोनों के परस्पर भिन्न होने किंवा भिन्न - भिन्न अलंकार - ग्रन्थों के प्रणयन करने का एक प्रामाणिक संकेत है जिसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता।

आयुर्वेद के प्रकरण ग्रन्थ "अष्टांगहृदय" के रचयिता भी "वाग्भट" नाम के ही आचार्य हो चुके हैं किन्तु इन्हें "वाग्भटालंकार" के प्रणेता वाग्भट प्रथम से अभिन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों की वंश-परम्परा भिन्न - भिन्न है तथा दोनों का कार्यकाल भी एक नहीं।

वाग्भट प्रथम ने अपने वंश के सम्बन्ध में कुछ थोड़ा सा संकेत "वाग्भटालंकार" में किया है जिससे ज्ञात होता है कि इनका प्राकृत नाम "बाहड" तथा पिता का नाम सोम था।[3]

---

1. संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास - पृ. 176-77
   लेखक - सुशील कुमार डे
   अनुवादक - श्री मायाराम शर्मा

2. "दण्डिवामनवाग्भटादिप्रणीता दश काव्यगुणाः। वयं तु माधुर्यौजः प्रसादलक्षणांस्त्रीनेव गुणान्मन्यामहे।
   काव्यानुशासन, पृ. 31

3. बम्भण्डसुत्तिसम्पुडमुक्तिअमणिणो पहासमूह व्व।
   सिरिवाहड त्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स।।
   {ब्रह्माण्डशुक्तिसम्पुटमौक्तिकमणेः प्रभासमूह इव।
   श्रीवाहड इति तनय आसीद्बुधस्तस्य सोमस्य।।
   वाग्भटालंकार, 4/147 पृ. 95

वाग्भटालंकार के व्याख्याकार श्री सिंहदेवगणि ने भी यही निर्देश किया है।[1] इनके अतिरिक्त व्याख्याकार जिनवर्धनसूरि एवं क्षेमहंसगणि ने भी इसकी पुष्टि की है। प्रभावकचरित में कई स्थलों पर वाहड के स्थान पर थाहड का प्रयोग प्राप्त होता है[2] तथा ज्ञात होता है कि वाग्भट प्रथम धनवान तथा उच्चकोटि के श्रावक थे। एक बार इन्होंने स्वयं द्वारा किसी प्रशंसनीय कार्य मे धन - व्यय करने हेतु गुरू से आज्ञा माँगी। गुरू ने जिनमंदिर बनवाने में व्यय किये गये धन को सफलीभूत बतलाया था, तदनंतर गुरू की आज्ञानुसार वाग्भट ने एक भव्य जिनालय का निर्माण कराया था जिसमें विराजमान वर्धमान स्वामी की प्रतिमा अद्भुत शोभा से युक्त थी, जिसके तेज से चन्द्रकान्त एवं सूर्यकान्त मणि की प्रभा फीकी पड़ गई[3] थी।

"वाग्भटालंकार" के उदाहरणों में कर्णदेव के पुत्र अनहिलपट्टन के चालुक्यवंशी राजा जयसिंह की स्तुति पायी जाती है।[4] इससे यह निश्चित हो

---

1. "इदानीं ग्रन्थकारः इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथयैकया निदर्शयति।"
   वाग्भटालंकार, पृ. 95
2. अथास्ति थाहडो नाम धनवान् धार्मिकाग्रणीः
   प्रभावकचरित - वादिदेवसूरिचरित, 67
3. प्रभावकचरित - वादिदेवसूरिचरित, 67-70

4.(क) जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघः।
जयति प्रतापपूषा जयसिंह क्षमाभृदधिनाथः।। वाग्भटालंकार 4-45
अलहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृप सूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च जगतीह रत्नानि।। वा० 4-131

(ख) इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुः, एरावतेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः
दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः, स्वर्गोऽप्ययं ननुमुधा यदि तत्पुरी सा
वही, 4/75

जाता है कि आचार्य वाग्भट प्रथम राजा जयसिंह के समकालीन थे। राजा जयसिंह का राज्यकाल वि0सं0 1150 से 1199 (1093 ई. से 1143 ई.) तक माना जाता है।[1] अतः वाग्भट प्रथम का भी यही काल प्रतीत होता है।

वाग्भट प्रथम के उपर्युक्त कार्यकाल की पुष्टि प्रभावकचरित के इस कथन से भी होती है कि वि0सं0 1178 में मुनिचन्द्रसूरि के समाधिरमण होने के एक वर्ष पश्चात् देवसूरि के द्वारा थाहड (वाग्भट) ने मूर्ति प्रतिष्ठा कराई।[2] इस प्रकार वाग्भट का काल पूर्वोक्त राजा जयसिंह का ही काल ज्ञात होता है।

---

1. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान, पृ. 7
   –गणेश त्र्यंबक देशपाण्डेने वाग्भट का लेखनकाल रिव. 1122 से 1156 मानां है।
   (पृ. 135, भारतीय साहित्यशास्त्र)

2. शतैकादशके साष्टासप्ततौ विक्रमार्कतः।
   वत्सराणां व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरयः।।
   आराधनाविधिश्रेष्ठं कृत्वा प्रायोपवेशनम्।
   शमपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिवं ययुः।।
   वत्सरे तत्र चैकत्र पूर्णे श्री देवसूरिभिः।
   श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स थाहडो कारयन्मुदा।।
   – प्रभावकचरित – वादिदेवसूरिचरित, 71–73

वाग्भटालंकार

उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार वाग्भट प्रथम का एकमात्र आलंकारिक ग्रन्थ "वाग्भटालंकार" ही प्राप्त है। रसिकलाल पारीख का कथन है कि यह कृति जयसिंह के मालवा विजय (1136 ई.) तथा उसकी मृत्यु (1143 ई.) के मध्यवर्ती काल में समाप्त हुई होगी क्योंकि इसमें उस विजय का उल्लेख तो है परन्तु कुमारपाल की प्रशंसा मे उसमें एक भी श्लोक नहीं है।[1] वाग्भटालंकार की अनेक प्राचीन टीकाएं हैं जो जैन विद्वानों के अतिरिक्त जैनेतर विद्वानों द्वारा भी लिखी गई हैं। इनमें पाँच प्रसिद्ध हैं —

(1) जिनवर्धनसूरिप्रणीत टीका।

(2) सिंहदेवगणिप्रणीत टीका।

(3) क्षेमहंसगणिप्रणीत टीका।

(4) अनन्तभट्टसुत गणेशप्रणीत टीका।

(5) राजहंसोपाध्याय प्रणीत टीका।

इतनी अधिक टीकाओं से इस ग्रन्थ की महत्ता सिद्ध होती है।

---

1. महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमण्डल, से उद्धृत
   पृ. 21

"वाग्भटालंकार" पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें कुल मिलाकर 260 पद्य हैं। अधिकांश पद्य अनुष्टुप् में हैं। परिच्छेद के अंत में कतिपय पद्य अन्य छंदों में रचे गये हैं।

प्रथम परिच्छेद में, मंगलाचरण के पश्चात् काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्य में अर्थ-स्फूर्ति के पाँच हेतु - मानसिक आह्लाद, नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि, प्रभातवेला, काव्य-रचना में अभिनिवेश तथा समस्त शास्त्रों का अनुशीलन आदि का निरूपण किया गया है। तदनन्तर कवि - समय का वर्णन किया गया है, इसके अन्तर्गत लोकों व दिशाओं की संख्या निर्धारण, यमक, श्लेष एवं चित्रबन्ध के अनुस्वार तथा विसर्ग की छूट आदि का सोदाहरण वर्णन किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद में, काव्य-शरीर निरूपण के अनंतर काव्य की रचना संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा भूतभाषा - इन चार भाषाओं में की जा सकती है, यह वर्णित है। काव्य के छन्द - निबद्ध तथा गद्य - निबद्ध - ये दो तथा गद्य, पद्य एवं मिश्र - ये तीन प्रकार के भेद किये गये हैं। इसके बाद पद और वाक्य के आठ दोषों के लक्षण का उदाहरणों के साथ विवेचन करके अर्थ - दोषों का निरूपण किया गया है।

तृतीय परिच्छेद में, औदार्य, समतादि दस काव्यगुणों का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि वाग्भटालंकार में सर्वत्र पद्यों का प्रयोग किया

किया गया है तथापि ओजगुण (3.14) का उदाहरण गद्य में प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद में, प्रथमतः अलंकारों की उपयोगिता पर प्रकाश डालने के अनंतर चित्रादि चार शब्दालंकारों एवं जाति आदि पैंतीस अर्थालंकारों का सोदाहरण वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् गौडीया एवं वैदर्भी - इन दो रीतियों का विवेचन किया गया है।

पंचम व अंतिम परिच्छेद में, रस-स्वरूप, सभेद श्रृंगारादि नौ रस और उनके स्थायी भाव, अनुभाव तथा भेदों एवं नायक-नायिकाओं के भेद तथा तत्सम्बन्धी अन्य विषयों का निरूपण किया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र –

भारतवर्ष के प्राचीन विद्वानों में बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न जैन श्वेताम्बराचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि का अत्यन्त उच्च स्थान है। पं० शिवदत्त शर्मा के अनुसार 'संस्कृत साहित्य और विक्रमादित्य के इतिहास में जो स्थान कालिदास का, श्रीहर्ष के दरबार में बाणभट्ट का है, प्रायः वही स्थान ईसवी सन् की बारहवीं सदी के चालुक्यवंशी सुप्रसिद्ध गुर्जर – नरेन्द्रशिरोमणि सिद्धराज जयसिंह के इतिहास में हेमचन्द्र का है।'[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने युगान्तकारी तथा युगसंस्थापक व्यक्तित्व के आधार पर तत्कालीन गुजरात के सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक इतिहास के निर्माण में अद्भुत योग दिया।

जर्मन विद्वान् स्वर्गीय डा. बूल्हर ने अपने "लाइफ आफ हेमचन्द्र" नामक ग्रन्थ (हि. अनुवादक – कस्तूरमल बांठिया) में आचार्य हेमचन्द्र के जीवन का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है।[2] हेमचन्द्र के जीवन का विशद विवेचन करने में डा. बूल्हर ने जिन चार ग्रन्थों की सहायता ली है वे इस प्रकार हैं —

---

1. हेमचन्द्राचार्य जीवनचरित्र" – अनु० कस्तूरमल बांठिया
2. हेमचन्द्राचार्य जीवनचरित्र – अनु० कस्तूरमल बांठिया

1. प्रभाचन्द्रसूरि का प्रभावकचरित
2. मेरूतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि
3. राजशेखर का प्रबन्धकोश
4. जिनमण्डन उपाध्याय का कुमारपाल प्रतिबोध।

इन विभिन्न ग्रन्थों से सहायता लेने के अतिरिक्त स्वयं हेमचन्द्र द्वारा रचित द्वयाश्रय काव्य, सिद्धहेमव्याकरण की प्रशस्ति, "त्रिषष्टिशलाका पुरूषचरितान्तर्गत", महावीरचरित" आदि से भी डा बूल्हर ने हेमचन्द्र के जीवन के साक्ष्य एकत्रित किये हैं।

इनके अतिरिक्त हेमचन्द्र के जीवन पर प्रकाश डालने वाले निम्न ग्रन्थ भी सामने आये हैं –

1. सोमप्रभसूरिकृत "कुमारपालप्रतिबोध"
2. यशपालकृत मोहराजपराजय
3. पुरातनप्रबन्धसंग्रह (अज्ञात)

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों में प्रथम दो हेमचन्द्र के समकालीन ग्रन्थ हैं अंतिम "पुरातन प्रबन्ध संग्रह" अनेक विवरणों का एकत्र संकलन मात्र है।

पूर्वोक्त ग्रन्थों मे सोमप्रभसूरिकृत "कुमारपालप्रतिबोध" हेमचन्द्र की समसामयिक रचना होने के कारण उनकी जीवनविषयक प्रामाणिक सामग्री दे सकती थी पर लेखक स्वयं ही इस बात को स्वीकार करता है कि उसने हेमचन्द्र तथा कुमारपाल के जीवन से सम्बद्ध उन्हीं घटनाओं को लिया है जिनका संबंध

उनके जैनधर्म स्वीकार करने के बाद के जीवन से है। अतः हेमचन्द्राचार्य का जीवन - चरित्र लिखते समय श्री सोमप्रभसूरिकृत "कुमारपालप्रतिबोध" को आधार मानकर, अन्य लेखकों द्वारा निर्दिष्ट सामग्री का उपयोग करना भी आवश्यक प्रतीत होता है-

जीवनचरित्र - आचार्य हेमचन्द्र का जन्म गुजरात में अहमदाबाद से साठ मील दूर दक्षिण - पश्चिम में स्थित "धुन्धुका" नगर में वि. सं. 1145 (1088 ई.) कार्तिकी पूर्णिमा की रात्रि में हुआ था।[1] संस्कृत ग्रन्थ में इसे "धुंधुकनगर" या "धुंधुकपुर" भी कहा गया है। यह प्राचीनकाल में सुप्रसिद्ध व समृद्धिशाली नगर था। इनके माता - पिता मोढवंशीय वैश्य थे तथा पिता का नाम चाचिग व माता का नाम पाहिणी देवी था[2]। इनकी कुलदेवी "चामुण्डा" और कुलयक्ष "गोनस" था। माता - पिता ने देवता - प्रीत्यर्थ उक्त दोनों देवताओं के आद्यन्ताक्षर लेकर बालक का नाम चांगदेव रखा। अतः आचार्य हेमचन्द्र का मूलनाम चांगदेव पड़ा।[3]

डा. मुसलगांवकर के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र के पिता व्यापारी तथा देव व गुरू की उपासना करने वाले शैव थे पर इनकी माता एवं मामा नेमिनाग जैन धर्मावलम्बी थे।[4]

---

1. आचार्य हेमचन्द्र, पृ. 9 लेखक - डा, वि. भा. मुसलगांवकर
2. वही, पृ, 9-10
3. आचार्य हेमचन्द्र - पृ. 10
4. आचार्य हेमचन्द्र - पृ. 11-12

हेमचन्द्र के जन्म के पूर्व ही उनकी भवितव्यता के लक्षण प्रकट होने लगे थे। जब वे गर्भ में ही थे, तभी उनकी माता ने एक सुन्दर तथा आश्चर्य-जनक स्वप्न देखा था। इस सन्दर्भ में विविध ग्रन्थों - "कुमारपालप्रतिबोध", "प्रबन्धकोश", एवं "प्रभावक चरित" आदि में अनेक प्रकारसेउल्लेख मिलता है। डा. मुसलगांवकर ने भी इसकी विस्तृत चर्चा "आचार्य हेमचन्द्र" नामकपुस्तक में की है।

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि चांगदेव धार्मिक प्रवृत्ति का बालक था। माता के साथ नित्यप्रति मंदिर जाना, प्रवचन सुनना, गुरूजनों के प्रति श्रद्धाभाव रखना, धार्मिक क्रियाकलाप आदि उसके दैनिक कार्य थे।

मेरूतुंगसूरिकृत "प्रबन्ध चिन्तामणि" के अनुसार एक बार देवचन्द्राचार्य अणहिलपत्तन से प्रस्थान कर तीर्थयात्रा के प्रसंग में धन्धुका पहुँचे। वहाँ वे जब मोढवंशियों के जैन - मंदिर में देवदर्शन कर रहे थे तभी आठ वर्षीय बालक चांगदेव अपने बालचापल्य स्वभाव से देवचन्द्राचार्य की गद्दी पर जा बैठा। उसके अलौकिक शुभ-लक्षणों को देखकर आचार्य बालक को प्राप्त करने की इच्छा से चाचिंग के निवास स्थान पर पहुँचे। उस समय चाचिग बाहर गये थे अतः देवचन्द्र ने उनकी पत्नी से बालक चांगदेव को प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट की । पाहिणी देवी ने आचार्य के प्रस्ताव का हृदय से स्वागत करते हुए भी गृहपति की अनुपस्थिति में बालक को देने में असमर्थता व्यक्त की। पर बाद में उपस्थित जन समुदाय का अनुरोध स्वीकार करते हुए अपने गुणी पुत्र को

आचार्य देवचन्द्रसूरि को सौंप दिया। आचार्य ने बालक से पूछा "वत्स! तू हमारा शिष्य बनेगा"? चांगदेव ने उत्तर दिया "जी हाँ अवश्य बनूँगा"। इस उत्तर से आचार्य अति प्रसन्न हुए। उन्होंने बालक को कर्णावती में उदयन मन्त्री के पास रख दिया जो उस समय जैन संघ का सबसे बड़ा प्रभावशाली व्यक्ति था।

चाचिग ने घर लौटकर जब वृतान्त सुना तो वह पुत्र-दर्शन की इच्छा से आचार्य के पास गया। उसके मन की बात जानकर उसका मोह दूर करने के लिये आचार्य ने उसे समझाया तथा मंत्रिवर उदयन को भी अपने पास बुलाया। उदयन मंत्री ने उसे अपने घर ले जाकर सत्कारादि के अनंतर उसकी गोद में चांगदेव को बैठाकर पञ्चांग सहित तीन दुशाले एवं तीन लाख रूपये भेंट किये तथा पुत्र की याचना की। तब स्नेह विह्वल चाचिग ने कहा- "मेरा पुत्र अमूल्य है, किन्तु आपका भक्तिभाव अपेक्षाकृत अधिक अमूल्य है। अतः इस बालक के मूल्य में अपनी भक्ति ही रहने दीजिये। आपके इस द्रव्य को मैं शिवनिर्माल्य के समान स्पर्श भी नहीं कर सकता।" चाचिग के कथन को सुनकर उदयन मंत्री बोला "आप अपने पुत्र को मुझे सौंपेंगे, तो उसका कुछ भी अभ्युदय नहीं हो सकेगा", परन्तु यदि इसे आप पूज्यपाद गुरू देवचन्द्राचार्य के चरणों में समर्पित करेंगे तो वह गुरूपद प्राप्तकर बालेन्दु के समान त्रिभुवन में पूज्य होगा।" तब चाचिग ने "आपका वचन ही प्रमाण है, मैंने अपने पुत्र रत्न को गुरूजी को भेंट कर दिया।" ऐसा कहकर अपने पुत्र को देवचन्द्रसूरि को सौंप दिया तभी उसका दीक्षा महोत्सव मंत्री

के सहयोग से चाचिग ने सम्पन्न किया। गुरू के द्वारा दिये गए हेमचन्द्र नाम से प्रसिद्ध यह 36 सूरिगुणों से अलंकृत सूरिपद पर अभिषक्त हुआ।[1]

यही वृतान्त किंचित् रूपांतर के साथ सोमप्रभसूरिकृत "कुमारपाल प्रतिबोध" (वि. सं. 1241), प्रभाचन्द्रसूरिकृत "प्रभावकचरित" (वि. सं. 1334), जिनमंडनउपाध्यायकृत "कुमारपाल प्रबन्ध" (वि. सं. 1392) में तथा राजशेखर सूरि ने प्रबन्धकोश (वि. सं. 1405) में प्रस्तुत किया है जिसकी चर्चा डा. मुसलगांवकर द्वारा की जा चुकी है।[2]

सोमप्रभसूरि के अनुसार चांगदेव मामा नेमिनाग की अनुमति से देवचन्द्राचार्य के साथ स्तम्भतीर्थ (खम्भात) पहुँचा जहां जैनसंघ की अनुमति से चांगदेवको दीक्षा दी गई तथा उसका नाम सोमचन्द्र रक्खा गया। अपार ज्ञानराशि संचित कर लेने पर उन्हें श्रमणों का नेता गान्धार अथवा आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। सोमचन्द्र का शरीर सुवर्ण के समान तेजस्वी एवं चन्द्रमा के समान सुन्दर था इसलिये वे हेमचन्द्र कहलाये।[3]

---

1. आचार्य हेमचन्द्र, पृ. 13-16
2. आचार्य हेमचन्द्र, पृ. 12 व 16
3. आचार्य हेमचन्द्र पृ. 13

श्री कृष्णमाचारियर के अनुसार एक बार सोमचन्द्र ने शक्ति प्रदर्शन के लिये अपने बाहु को अग्नि में रख दिया। लेकिन आश्चर्यजनकरूप से सोमचन्द्र का जलता हाथ सोने का बन गया। इस घटना के पश्चात् सोमचन्द्र हेमचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हो गये।[1]

डा. मुसलगांवकर ने कुमारपाल प्रबन्धादि के निर्देशानुसार तथा ज्योतिष की काल गणनानुसार(माघशुक्ल चतुर्दशी, शनिवार को वि. सं0 1154 में)बतलाते हुए, चांगदेव का दीक्षासंस्कार चतुर्विध संघ के समक्ष स्तम्भतीर्थ के पार्श्वनाथ चैत्यालय में देवचन्द्राचार्य द्वारा चाचिग की उपस्थिति में ही होना सिद्ध किया है। साथ ही कर्णावती के स्थान पर "खम्भात" में ही दीक्षा हुई - ऐसा स्वीकार किया है।[2] दीक्षानाम सोमचन्द्र रखा गया था, बाद में हेमचन्द्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। काव्यानुशासन की प्रस्तावना से भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात हो जाता है कि आचार्य हेमचन्द्र के गुरू आचार्य देवचन्द्रसूरि थे। आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयं "त्रिषष्ठिशलाकापुरूष-चरित" के दसवें पर्व की प्रशस्ति में अपने गुरू का स्पष्ट उल्लेख किया है

---

1. आचार्य हेमचन्द्र पृ. 13 से उद्धृत

   "To demonstrate his powers he set his arms in a blazing fire and his father found to his surprise the flashing arm turned in to gold"
   - History of Classical Sanskrit Literature
   - Krishanmachariar, Page 173-174

2. आचार्य हेमचन्द्र, पृ. 17

3. काव्यानुशासन - हेमचन्द्र, प्रो0 पारीख की अंग्रेजी प्रस्तावना

तथा अपने विद्याध्ययन का सम्पूर्ण श्रेय हेमचन्द्र अपने गुरू को देते हैं।[1] आचार्य देवचन्द्रसूरि से दीक्षित होने के पश्चात् आ. हेमचन्द्र ने तर्क, लक्षण तथा साहित्य उसयुगकी जो महाविद्यायें थी पर अल्प अवधि में ही प्रवीणता प्राप्त कर ली। तत्पश्चात् उन्होंने अपने गुरू के साथ विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते हुए अपने शास्त्रीय व व्यावहारिक ज्ञान में काफी वृद्धि की।[2] आचार्य हेमचन्द्र की साहित्य साधना दो महान् राजाओं की छत्रछाया में परिवर्द्धित व विकसित हुई – सिद्धराज जयसिंह तथा सम्राट कुमारपाल। वे इन दोनों राजाओं के राजगुरू थे।

जयसिंह सिद्धराज का शासनकाल वि.सं. 1151–1199 (1093 से 1143 ई.) तक रहा। आचार्य हेमचन्द्र तथा उनके आश्रयदाता सिद्धराज जयसिंह समकालीन ही नहीं समवयस्क भी थे। राजा जयसिंह से उनका प्रथम परिचय 1136 ई. में मालव विजयोत्सव के समारोह के अवसर पर हुआ था। उस समय उनकी अवस्था 46 वर्ष की थी। इसके बाद 7 वर्ष तक राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ उनका सम्बन्ध रहा। इन सात वर्षो के थोड़े से काल में राजा जयसिंह के प्रोत्साहन व प्रेरणा से उन्होंने विपुल तथा महत्वपूर्ण साहित्य की रचना की है।

---

1. शिष्यस्तस्य च तीर्थमकमवने पावित्र्यकृज्जंगमम्।
   सूरर्भूरितपः प्रभाववसतिः श्री देवचन्द्रोऽभवत्।
   आचार्यो हेमचन्द्रोऽभूतत्पादाम्बुजषट्पदः
   तत्प्रसादादधिगतज्ञानसम्पन्न महोदयः।।
   त्रि. श. पु०च. प्रशास्ति श्लोक 14, 15
   (आचार्य हेमचन्द्र पृष्ठ 19 से उद्धृत)

2. काव्यानुशासन – हेमचन्द्र, प्रो० पारीख की अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ. 266

सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु के अनंतर वि०सं० 1199 (समय 1143-1173 ई.) में कुमारपाल राज्याभिषिक्त हुआ, जिसके साथ आ. हेमचन्द्र का 30 वर्ष तक सम्बन्ध रहा।

आचार्य हेमचन्द्र का कुमारपाल के साथ गुरू शिष्य सदृश संबंध था। कुमारपाल की प्रार्थना पर आचार्य हेमचन्द्र ने "योगशास्त्र", "वीतरागस्तुति" एवं "त्रिषष्ठिशलाकापुरूषचरित" पुराण की रचना की। संस्कृत में द्वयाश्रयकाव्य के अंतिम सर्ग तथा प्राकृत द्वयाश्रय कुमारपाल के समय में ही लिखे गये। "प्रमाणमीमांसा" की रचना इसी समय में हुई। कुमारपाल ने 700 लेखकों को बुलाकर हेमचन्द्र के ग्रन्थ लेखबद्ध करवाये।[1]

वि०सं० 1229 (1173ई.) में 84 वर्ष की अवस्था में आ. हेमचन्द्र ने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की "प्रभावकचरित" के अनुसार राजा कुमारपाल को आचार्य का वियोग असह्य रहा तथा छ: मास पश्चात् वह भी स्वर्ग सिधार गया।[1]

आचार्य हेमचन्द्र की साहित्य साधना अत्यन्त विशाल तथा व्यापक है। उन्होंने व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, दर्शन, पुराण, इतिहास आदि विविध विषयों पर सफलता पूर्वक साहित्य सृजन किया है। साहित्यसृजन की असाधारण क्षमता तथा अलौकिक प्रतिभा मानो एकाकार होकर आचार्य हेमचन्द्र के रूप में मूर्तरूप हो गई थी। उनकी साहित्य सेवा को देखकर विद्वानों

---

1. आ. हेमचन्द्र, पृ. 36

ने उन्हें 'कलिकाल सर्वज्ञ,' जैसी उपाधि से विभूषित किया है।[1]

शब्दानुशासन, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, द्वयाश्रय महाकाव्य, योगशास्त्र, द्वात्रिंशिकाएँ, अभिधान चिन्तामणि तथा त्रिषष्टिशला - कापुरुषचरित - ये उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

काव्यानुशासन

संस्कृत अलंकार ग्रन्थों की परम्परा में "काव्यानुशासन" आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रणीत अलंकार विषयक एकमात्र ग्रन्थ है। इसकी रचना वि. सं0 1196 के लगभग हुई है।[2]

यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई की "काव्यमाला" ग्रन्थावली में स्वोपज्ञ दोनों वृत्तियों के साथ प्रकाशित हुआ था। फिर महावीर जैन विद्यालय बम्बई से सन् 1938 में प्रकाशित हुआ। जिसमें डा. रसिक लाल पारिख की प्रस्तावना एवं आर. व्ही. आठवले की व्याखा है।

"काव्यानुशासन" में सूत्रात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। काव्य-प्रकाश के पश्चात् रचे गये प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्वन्यालोक, लोचन, अभिनवभारती,

---

1. हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (एम. विन्टरनित्स) वाल्यूम सेकेण्ड, पृ. 282
2. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 100

काव्य-मीमाँसा तथा काव्यप्रकाश से लम्बे - लम्बे उद्धरण प्रस्तुत किये गये है। फलत: कतिपय विद्वान इसे संग्रह - ग्रन्थ की कोटि में परिगणित करते हैं, किन्तु कतिपय नवीन मान्यताओं का प्रस्तुत ग्रन्थ में विवेचन मिलता है। आचार्य मम्मट ने 67 अलंकारों का उल्लेख किया है जबकि हेमचन्द्र ने मात्र 29 अलंकारो का उल्लेख कर शेष का इन्हीं में अन्तर्भाव कर दिया है। मम्मट काव्यप्रकाश को दस उल्लासों में विभक्त करके भी उतना विषय नहीं दे पाये हैं, जितना हेमचन्द्राचार्य ने काव्यानुशासन के मात्र आठ अध्यायों में प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्राचार्य ने अलंकारशास्त्र में सर्वप्रथम नाट्यविषयक तत्वों का समावेश कर एक नवीन परम्परा का प्रणयन किया जिसका अनुकरण परवर्ती आचार्य विश्नाथ आदि ने भी किया है।

"काव्यानुशासन" के तीन प्रमुख भाग हैं - 1. सूत्र (गद्य में,), 2. व्याख्या तथा 3, वृत्ति। "काव्यानुशासन" मे कुल सूत्र 208 हैं। इन्हीं सूत्रों को "काव्यानुशासन" कहा जाता है। सूत्रों की वयाख्या हेतु अलंकार-चूणामणि" तथा इस व्याख्या को अधिक स्पष्ट करने हेतु उदाहरणों सहित "विवेक" नामक वृत्ति लिखी गयी है। तीनों के कर्ता आचार्य हेमचन्द्र ही हैं।

यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में 25 सूत्र हैं। सर्वप्रथम मंगलाचरण के पश्चात् आचार्य ने काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, कवि-समय, काव्य-लक्षण, गुण-दोष का सामान्य लक्षण, अलंकार का सामान्य लक्षण, अलंकारों के ग्रहण तथा त्याग का नियम,

शब्दार्थ स्वरूप, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थ का स्वरूप, शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य में नानार्थनिबन्धन, अर्थशक्तिमूल व्यंग्य के वस्तु तथा अलंकार इन दो भेदों तथा इसके पद वाक्य तथा प्रबंध के अनेक भेदों का विवेचन किया है। साथ ही अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के स्वतः संभवी, कविप्रोढोक्तिमात्रनिष्पन्न-शरीर, इन अथवा कविनिबद्धवक्तृप्रोढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर इन भेदों के कथन को अनुचित बताया गया है।

द्वितीय अध्याय में 59 सूत्र हैं, जिनमें रस-विषयक सांगोपांग विवेचन किया गया है। रस-स्वरूप, रस-भेद, रस की अलौकिकता रसांगों का विशद विवेचन, रसाभास व भावाभास आदि इस अध्याय के प्रमुख विवेच्य हैं। अन्त में काव्यभेद – निरूपण के साथ अध्याय की समाप्ति की गई है।

तृतीय अध्याय में 10 सूत्र हैं। यह अध्याय काव्य-दोषों से सम्बद्ध है। इसमें काव्य के रसगत, पदगत, वाक्यगत, उभयगत तथा अर्थगत दोषों पर विचार किया गया है। अन्त में तीन सूत्रों में दोष-परिहार की चर्चा की गई है।

चतुर्थ अध्याय में 9 सूत्र हैं। काव्यगुणों से सम्बद्ध इस अध्याय में, माधुर्य, ओज एवं प्रसाद इन तीन गुणों के सभेद लक्षण तथा उदाहरण व तद्-तद् गुणों में आवश्यक वर्णों का गुम्फन किया है।

पंचम अध्याय में, 9 सूत्र हैं, जिसमें अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति तथा पुनरूक्तवदाभास – इन छः शब्दालंकारों के सभेद लक्षण तथा

उदाहरणों का विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में, 31 सूत्र हैं जिसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शना दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्त, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति (स्वभावोक्ति), व्याजस्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, परिसंख्या, कारणमाला व संकर - इन 29 अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है।

सप्तम अध्याय में 52 सूत्र हैं। इसमें नायक का स्वरूप, उसके आठ सात्त्विक गुण, नायक के भेद तथा लक्षण, अवस्थाभेद से नायक के भेद, प्रतिनायक का स्वरूप, नायिका का स्वरूप, नायिका के भेद, स्त्रियों के सत्त्वज अलंकारों का सलक्षण सोदाहरण निरूपण तथा प्रतिनायिका आदि की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की गई है।

अष्टम अध्याय में 13 सूत्र हैं। इसमें प्रबन्धात्मक काव्य भेदों का निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम प्रबन्धकाव्य के दो भेद- दृश्य तथा श्रव्य, पुनः दृश्य के दो भेद - पाठ्य तथा गेय, तत्पश्चात् पाठ्य के नाटक, प्रकरण नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, प्रहसन, भाण, वीथी तथा सट्टक आदि भेदों का लक्षण किया गया है। इसी श्रृंखला में गेय के डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिंगक, भाणिका, प्रेरण, रामक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित, राग तथा काव्य का लक्षण दिया गया है।

तदनंतर महाकाव्य,आख्यायिका, कथा आख्यान, निदर्शन प्रवाह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा, बृहत्कथा तथा चम्पू इन श्रव्य काव्यों का सलक्षण विवेचन किया गया है। अन्त में मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक व कोश का सलक्षण विवेचन है।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के सभी अंगों का सविस्तार विवेचन "काव्यानुशासन" में प्राप्त होता है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र

संस्कृत साहित्य में आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र का नामोल्लेख प्राय: साथ - साथ होता है। जहाँ तक इन विद्वानों के माता - पिता तथा वंश इत्यादि का प्रश्न है, इसके विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

"नाट्यदर्पण" के प्रत्येक विवेक की अन्तिम पुष्पिका में प्राप्त उल्लेखानुसार "नाट्यदर्पण" रामचन्द्र-गुणचन्द्र के सम्मिलित प्रयास का प्रतिफल है।[1] काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र के सम्मान में लिखे गये इसी ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से इनके हेमचन्द्र के शिष्य होने की बात स्पष्ट होती है।[2] इसकी पुष्टि रामचन्द्र की अन्य कृतियों में प्राप्त उल्लेखों से भी होती है।[3] प्रभावकचरितानुसार एक बार राजा जयसिंह हेमचन्द्र के उत्तराधिकारी के दर्शनार्थ हेमचन्द्र के पास गये थे। इस समय हेमचन्द्र ने अपने प्रतिभाशाली शिष्य रामचन्द्र को अपना उत्तराधिकारी बताया था एवं उसी समय यह भी कहा कि उसको मैं आज के पूर्व ही आपको दिखा चुका हूँ तथा उस समय उसने आपकी अपूर्व ढंग से स्तुति भी की थी।

---

1. इति रामचन्द्रगुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविवृतौ नाटकनिर्णय: प्रथमो विवेक:॥।॥ हि. नाट्यदर्पण, पृ. 198
2. शब्द-प्रमाण-साहित्य-छन्दोलक्ष्मविधायिनाम्।
   श्रीहेमचन्द्रपादानां प्रसादाय नमो नम: ॥ हि. नाट्यदर्पण, पृ. 409
   अन्तिम प्रशस्ति, पद्य।
3. (क) सूत्रधार: दत्त: श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्येण रामचन्द्रेण विरचितं नलविलासाभिधानमाद्यं रूपकमभिनेतुमादेश:(नलविलास, पृ. 1)
   (ख) श्रीमदाचार्य हेमचन्द्रशिष्यस्य प्रबन्ध कर्तुर्महाकवे: रामचन्द्रस्य भूयांस: प्रबन्धा:। - निर्भयभीमव्यायोग, पृ. 1

इससे विदित होता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने राजा जयसिंह सिद्धराज के सामने ही अर्थात् अपनी मृत्यु से लगभग 40-42 वर्ष पूर्व ही रामचन्द्र को अपना उत्तराधिकारी व प्रमुख शिष्य घोषित कर दिया था।

आचार्य रामचन्द्र बाल्यकाल से ही प्रतिभा के धनी थे। एक बार राजा जयसिंह सिद्धराज द्वारा अपने पारिषदों से यह पूछे जाने पर कि गर्मी मे दिन लम्बे क्यों हो जाते हैं? लोगों ने भिन्न प्रकार के उत्तर दिए। आचार्य रामचन्द्र से पूछे जाने पर उन्होंने अपनी कवित्वप्रतिभा एवं तत्कालीन सामंती परम्परा के अनुरूप ही उत्तर दिया।[1] इसी प्रकार किसी अन्य अवसर पर सिद्धराज ने रामचन्द्र से "अण्हिलपट्टन" नगर का तत्काल वर्णन करने को कहा। रामचन्द्र ने तनिक सी देर मे ही पद्य - रचना करदी।[2] उनकी असाधारण प्रतिभा व कवि-कर्मकुशलता से प्रसन्न होकर जयसिंह सिद्धराज ने रामचन्द्र को "कविकटारमल्ल" की उपाधि से अलंकृत किया।

---

1. देव! श्रीगिरिदुर्गमल्ल! भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे,
   धावद्वीरतुरंगनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्षमामण्डलात्।
   वातोद्धूतरजो मिलत्सुरसरित्संजातपंकस्थली -
   दूर्वाचुम्बनचञ्चुरा रविहयास्तेनातिवृद्धं दिनम्।।
   (हिन्दी नाट्यदर्पण भूमिका से उद्धृत, पृ. 9)

2. एतस्यास्य पुरस्य पौरवनिताचातुर्यता निर्जिता,
   मन्ये नाथ! सरस्वती जडतया नीरं वहन्ती स्थिता।
   कीर्तिस्तम्भमिषोच्चदण्डरुचिरामुत्सृज्य वाहावली-
   तन्त्रीकां गुरुसिद्धभूपतिसरस्तुम्बीं निजां कच्छपीम्।।
   (हिन्दी नाट्यदर्पण, भूमिका से उद्धृत, पृ. 9)

महाकवि रामचन्द्र समस्यापूर्ति करने में भी निपुण थे। एक बार काशी से विश्वेश्वर नामक विद्वान् अणहिलपट्टन आए तथा वे आचार्य हेमचन्द्र की सभा में गए। वहां आचार्य हेमचन्द्र को आशीर्वाद देते हुए श्लोकार्द्ध पढ़ा-

पातु वो हेम! गोपालः कम्बलं दण्डमुद्वहन्।

वहां पर हेमचन्द्राचार्य सहित आस - पास की सभी मंडली जैन थी अतः "कृष्ण तुम्हारी रक्षा करे" यह बात उतनी रुचिकर नहीं मालूम पड़ी। उस समय कवि रामचन्द्र भी वहां पर उपस्थित थे उन्हें कृष्ण का यह रक्षा करने का गौरव पसन्द नहीं आया उन्होंने तुरन्त ही शेष आधे श्लोक की पूर्ति इस प्रकार कर दी -

षड्दर्शनपशुग्रामं चारयन् जैन गोचरे

आचार्य रामचन्द्र की विद्वत्ता का परिचय उनकी स्वलिखित कृतियों में भी मिलता है। "रघुविलास" में उन्होंने अपने को "विद्यात्रयी-चणम्" कहा है। इसी प्रकार नाट्यदर्पण विवृति की प्रारंभिक प्रशस्ति में "त्रैविद्यवेदिनः" तथा अंतिम प्रशस्ति में व्याकरण-न्याय तथा साहित्य का ज्ञाता कहा है।[2]

---

1. नाट्यदर्पण, भूमिका, पृ. 10
2. वही, प्रारंभिक प्रशस्ति, 9 पृ. 7 एवं अंतिम प्रशस्ति 4, पृ. 409

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्यत्व तथा राज सम्बन्धों के नैरन्तर्य को ध्यान में रखते हुए यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि इनके भी जीवन का कार्यक्षेत्र गुजरात तथा निवास गुजरात प्रान्त की समसामयिक राजधानी "अणहिलपट्टन" में रहा होगा।

यह तो ज्ञात ही है कि आचार्य हेमचन्द्र तथा जयसिंह समकालीन थे तथा उस समय तक रामचन्द्र अपनी असाधारण प्रतिभा के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। सिद्धराज जयसिंह ने सं० 1150 से सं० 1199 (ई. सन् 1093 - 1142) पर्यन्त राज किया था। मालवा पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में सिद्धराज का स्वागत समारोह वि. सं. 1193 (1136 ई.) में हुआ था, तभी हेमचन्द्र का सिद्धराज से प्रथम परिचय हुआ था।[1] सिद्धराज की मृत्यु सं० 1199 में हुयी थी। इसी बीच रामचन्द्र का परिचय सिद्धराज से हो चुका था तथा प्रसिद्धि भी प्राप्त कर चुके थे। सिद्धराज जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल ने सं० 1193 -1230 तथा उसके भी उत्तराधिकारी अजयदेव ने सं० 1230 से 1233 तक गुर्जर भूमि पर राज्य किया था। इसी अजयदेव के शासनकाल में रामचन्द्र को राजाज्ञा द्वारा ताम्र-पट्टिका पर बैठाकर मारा गया था।

उपर्युक्त विवेचन से अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र का साहित्यिक काल वि. सं. 1193 से 1233 के मध्य रहा होगा।

---

1. हिन्दी नाट्यदर्पण, भूमिका, पृ. 3

महाकवि रामचन्द्र "प्रबन्धशतकर्ता" नाम से विख्यात हैं। उन्होंने स्वयं अनेक ग्रन्थों में अपने को सौ ग्रन्थों का निर्माता बतलाया है। किंतु दुर्भाग्य से उनके समस्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

रामचन्द्र ने "नाट्यदर्पण" में स्वरचित 11 रूपकों का उल्लेख किया है। इसकी सूचना प्रायः "अस्मदुपज्ञे ....." इत्यादि पदों से दी गई है। जिनके नाम निम्न हैं—(1) सत्यहरिश्चन्द्र नाटक, (2) नलविलास नाटक, (3) रघुविलास नाटक, (4) यादवाभ्युदय, (5) राघवाभ्युदय, (6.) रोहिणीमृगांक प्रकरण, (7.) निर्भयभीमव्यायोग, (8.) कौमुदीमित्राणन्द – प्रकरण, (9.) सुधाकलश, (10.) मल्लिकामकरन्द प्रकरण तथा (11) वनमाला – नाटिका।

कुमारविहारशतक, द्रव्यालंकार, और यदुविलास ये उनके अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त छोटे – छोटे स्तव आदि तक को मिलाकर इस समय तक उनकी केवल 39 कृतियाँ उपलब्ध हैं।[1]

आचार्य गुणचन्द्र के विषय में कुछ अधिक परिचय नहीं प्राप्त होता है। केवल इतना विदित होता है कि ये रामचन्द्र के सहपाठी, घनिष्ठ मित्र तथा आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने अपने तीसरे साथी वर्धमानगणि के साथ सोमप्रभाचार्यविरचित "कुमारपाल प्रतिबोध" का श्रवण किया था। इन गुणचन्द्र ने रामचन्द्र के साथ मिलकर दो ग्रन्थों की रचना की है। एक तो "नाट्यदर्पण" ही है तथा द्वितीय "द्रव्यालंकारवृत्ति" ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त गुणचन्द्र की और

---

1. हिन्दी नाट्यदर्पण, भूमिका, पृ. 16

कोई कृति उपलब्ध नहीं होती है।

नाट्यदर्पण

नाट्यशास्त्रीयग्रन्थों में "नाट्यदर्पण" का महत्वपूर्ण स्थान है। यह वह शृंखला है जो धनंजय के साथ विश्वनाथ कविराज को जोड़ती है। यद्यपि इसकी रचना भरतमुनि के "नाट्यशास्त्र" के आधार पर की गई है तथापि इसमें अनेक विषय महत्वपूर्ण तथा परंपरागत सिद्धान्त से विलक्षण हैं। आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ में पूर्वाचार्य स्वीकृत नाटिका के साथ प्रकरणिका नामक नवीन विधा का संयोजन कर द्वादश रूपकों की स्थापना की है। इसी प्रकार रस की सुख-दुःखात्मकता स्वीकार करना इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है।[1] इसमें नौ रसों के अतिरिक्त तृष्णा, आर्द्रता, आसक्ति, अरति तथा संतोष को स्थायीभाव मानकर क्रमशः लौल्य, स्नेह, व्यसन, दुःख तथा सुख रस की भी संभावना की गई है। इसमें शान्त रस का स्थायिभाव शम स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थों मे ऐसे अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो अद्यावधि अनुपलब्ध हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में दो भाग पाये जाते हैं — प्रथम कारिकाबद्ध मूलग्रन्थ तथा द्वितीय उसके ऊपर लिखी गई स्वोपज्ञ विवृति। कारिकाओं में ग्रन्थ का लाक्षणिक भाग निबद्ध है तथा विवृति में तद्विषयक उदाहरण व कारिका का स्पष्टीकरण।

---

1. स्थायीभावः श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभिः
   स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रसः।।

   हि. नाट्यदर्पण, 3/7

नाट्यदर्पण का प्रतिपाद्य विषय रूपक भेद ही है। यह चार विवेकों में विभक्त है।

प्रथम विवेक में मंगलाचरण के पश्चात् रूपक प्रकार, रूपक के प्रथम भेद नाटक का स्वरूप, नायक के चार भेद, वृत्त चरित के सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य कल्पनीय एवं उपेक्षणीय नामक चार भेद तथा कुछ अन्य भेदों के साथ काव्य में चरित निबन्धन विषयक शिक्षाओं का विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् अंक, अर्थप्रकृति, कार्यावस्था, अर्थोपक्षेपक, सन्धि व सन्ध्यंग का विवेचन है।

द्वितीय विवेक में, नाटक के अतिरिक्त प्रकरण, नाटिका प्रकरणी, व्यायोग, समवकार, भाण, प्रहसन, डिम, उत्सृष्टिकांक, ईहामृग तथा वीथि नामक शेष ।। रूपकों का लक्षणोदाहरण सहित विवेचन है। पुनः वीथि के ।3 अंगों का भी प्रतिपादन है।

तृतीय विवेक में भारती, सात्त्वती, कैशिकी व आरभटी नामक चार वृत्तियों का विवेचन है, पुनः रस स्वरूप, उसके भेद, काव्य में रस का सन्निवेश, विरूद्ध रसों का विरोध तथा परिहार, रसदोष, स्थायीभाव, व्यभिचारिभाव, अनुभाव तथा वाचिक, आंगिक, सात्विक तथा आहार्य नामक चार अभिनयों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

चतुर्थ विवेक में, समस्त रूपकों के लिये उपयोगी कुछ सामान्य बातों को प्रस्तुत किया गया है । इसमें नान्दी, ध्रुवा का स्वरूप, उसके प्रावेशिकी,

नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी व आन्तरी नामक 5 भेदों का सोदाहरण प्रतिपादन, पुरूष तथा स्त्री पात्रों के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेदों का कथन, मुख्य नायक का स्वरूप, उसके आठ गुण, नायक के सहायक, नायिका-स्वरूप, उसके मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा - तीन सामान्य भेद तथा प्रोषितपतिकादि आठ प्रसिद्ध भेद तथा स्त्रियों के बीस अलंकारों का विवेचन किया गया है। पुनः नायिकाओं का नायक से सम्बन्ध, नायिकाओं की सहायिकाएँ तथा पात्रों के सम्बोधन प्रकारादि का विवेचन है। अन्त में, 12 रूपकों के अतिरिक्त सट्टक, श्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रस्थान, रासक, गोष्ठी, हल्लीसक, शम्पा, प्रेक्षणक, नाट्य-रासक, काव्य, भाण तथा भाणिका नामक 13 अन्य रूपकों का संक्षिप्त लक्षण किया है।

नरेन्द्रप्रभसूरि

नरेन्द्रप्रभसूरि हर्षपुरीयगच्छ के आचार्य नरचन्द्रसूरि के शिष्य थे। इनके गुरू नरचन्द्रसूरि न्याय, व्याकरण साहित्य तथा ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान थे।[1]

तेरहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में गुजरात के धोलका नामक नगर के वाघेला - वंशीय राजा वीरधवल के महामात्य वस्तुपाल एक विद्या - मण्डल का संचालन करते थे, जिसने संस्कृत साहित्य के विकास में अमूल्य योगदान दिया है। विद्यामंडल के संपर्क में अनेक विद्वान थे, उनमें नरचन्द्रसूरि भी एक थे। महामात्य वस्तुपाल तथा नरचन्द्रसूरि में प्रगाढ़ मैत्री थी। एक बार वस्तुपाल ने श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर नरचन्द्रसूरि से निवेदन किया कि अलंकारविषयक कुछ ग्रन्थ विस्तृत तथा दुर्बोध हैं, कुछ संक्षिप्त तथा दोषपूर्ण हैं, दूसरे कुछ ग्रन्थों में विषयान्तर की भी बहुत बातें हैं और वे कठिनाई से ही समझे जा सकते हैं, ऐसे काव्य-रहस्य निर्णय से रहित अनेक ग्रन्थों को सुनते सुनते मेरा मन ऊब गया है। अत: कृपाकर मुझे ऐसे शास्त्र का ज्ञान कराइए जो अत्यन्त लम्बा न हो, जिसमें अलंकार का सार हो।[1] तथा जो साधारण बुद्धियों के द्वारा भी ग्राह्य हो।[2] वस्तुपाल की इस प्रकार की प्रार्थना सुनकर नरचन्द्रसूरि ने अपने सुयोग्य शिष्य नरेन्द्रप्रभसूरि को उक्त प्रकार का ग्रन्थ रचने की आज्ञा दी। गुरू के आदेशानुसार नरेन्द्रप्रभसूरि ने वस्तुपाल की प्रसन्नता हेतु

---

1. द्रष्टव्य - महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल तथा संस्कृत साहित्य में उसकी देन विभाग2, अध्याय 5, पृष्ठ 102.
2. अलंकारमहोदधि - प्रारंभिक प्रशस्ति, 1/17-18

"अलंकारमहोदधि" नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[1] इसका रचना काल वि. सं. 1280 (ई. सन् 1223) है[2] एवं इसकी स्वोपज्ञ टीका का लेखनकाल वि. सं. 1282 (ई. सन् 1225) है[3]। अतः नरेन्द्रप्रभसूरि का समय विक्रम की 13वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है। अलंकारमहोदधि के अतिरिक्त भी, नरेन्द्रप्रभसूरि ने "काकुत्स्थकेलि" नामक एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की थी, ऐसा राजशेखरसूरि की न्यायकन्दलीपंजिका से उद्धृत श्लोक से ज्ञात होता है।[4] यह एक नाटक था जिसकी कोई प्रति अद्यावधि मिली नहीं है।

इसके अतिरिक्त नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा रची हुई वस्तुपाल पर दो स्तुतियाँ "वस्तुपाल प्रशस्ति" भी हैं। साथ ही गिरनार के वस्तुपाल के एक शिलालेख के श्लोक भी नरेन्द्रप्रभसूरि रचित हैं।[5]

---

1. "तेषां निर्देशादथ सद्गुरूणां श्रीवस्तुपालस्य मुदे तदेतत्।
   चकार लिप्यक्षरसंनिविष्टं सूरिनरेन्द्रप्रभनामधेयः।।"
   वही, 1/19
2. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 109
3. नयन-वसु-सूर 1282 वर्षे निष्पन्नायाः प्रमापमेतस्याः।
   अजनि सहस्त्रचतुष्टयमनुष्टुभामुपरि पञ्चशती ।।॥।।
   – अलंकारमहोदधि ग्रन्थान्तप्रशस्ति, पृष्ठ. 340
4. तस्य गुरोः प्रियशिष्यः प्रभुनरेन्द्रप्रभः प्रभावाढ्यः।
   योऽलंकारमहोदधिमकरोत् काकुत्स्थकेलिं च ।।
   महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमण्डल व संस्कृत साहित्य में उसकी देन, विभाग2, अध्याय5,(पृ. 104)
5. महामात्य वस्तुपाल का सा. व संस्कृत सा. में उसकी देन, विभाग 2,अ. 5 पृ. 106

इनके धार्मिक विषयों पर भी, विवेक - पादप तथा विवेककलिका नाम के दो सुभाषित संग्रह हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इनका कवि उपनाम "विबुधचन्द्र" था।[1]

अलंकारमहोदधि

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में सर्वोच्च, यह एक अलंकार विषयक ग्रन्थ है। लेखक द्वारा इस ग्रन्थ की मौलिकता का कोई दावा नहीं किया गया है। वह कहता है कि ऐसी कोई बात नहीं है कि जिस पर अलंकारशास्त्री पूर्वाचार्यों ने नहीं विवेचन किया और इसलिये यह रचना उनकी उक्तियों का चयन मात्र ही है।[2]

"अलंकारमहोदधि" पर काव्यप्रकाश की छाया प्रतीत होती है। अतः डा. भोगीलाल सांडेसरा का यह कथन कि "अलंकारमहोदधि" का सम्पूर्ण तृतीय तरंग काव्यप्रकाश के चौथे अध्याय का एक लम्बा तथा सरलीकृत संस्करण है,[3] उचित ही है। उपर्युक्त कथन यह भी स्पष्ट करता है कि "अलंकारमहोदधि" "काव्यप्रकाश" जैसे दुरूह ग्रन्थ की अपेक्षा सरल है।

---

1. वही, पृ. 106
2. नास्ति प्राच्यैरलंकारकारैराविष्कृतं न यत्।
   कृतिस्तु तद्वचः सारसंग्रहव्यसनादियम्।।
   अलंकारमहोदधि, 1/21
3. महा. वस्तु. का सा. व संस्कृत सा. में उसकी देन,
   विभाग 3, अध्याय 14, पृ. 225

इसके साथ ही प्रस्तुत ग्रन्थ पर हेमचंद्राचार्य के काव्यानुशासन का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। कवि शिक्षा प्रसंग में "काव्यानुशासन" की स्वोपज्ञ "अलंकारचूपामपि" नामक टीका का एक सम्पूर्ण अंश ही प्रायः उद्धृत कर लिया गया है।[1] लेकिन इसके साथ ही "अलंकारमहोदधि" में कतिपय ऐसी विशिष्टतायें प्राप्त होती है जो उसे काव्यप्रकाश तथा काव्यानुशासन से पृथक् सिद्ध करती हैं। उदाहरणार्थ "काव्यप्रकाश" मे 61 अर्थालंकारों तथा "काव्यानुशासन" में मात्र 35 का समावेश किया गया है जबकि "अलंकारमहोदधि" में 70 अर्थालंकारों का समावेश किया गया है। इसी प्रकार काव्यप्रकाश में कुल मिलाकर 603 उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, जबकि "अलंकारमहोदधि" में 982 । लेखक ने कतिपय आनुषंगिक बातें भी इसमें जोड़ दी है जो काव्यप्रकाश में अप्राप्य थीं। इससे इस ग्रन्थ का आकार भी बहुत विस्तृत हो गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ आठ तरंगों में विभक्त है। ग्रन्थ की रचना कारिका तथा वृत्ति में हुई है। कारिकाएं अनुष्टुप छन्द में हैं तथा प्रत्येक अध्याय का अंतिम श्लोक भिन्न छन्द में है। कारिकाएं कु 296 हैं।

प्रथम तरंग में, सर्वप्रथम मंगलाचरण तथा गुरूपरम्परा का अनुसरण करते हुए महामात्य वस्तुपाल तथा तेजपाल का यशोगान किया गया है। तदनन्तर

---

1. तुलनीय – अलंकारमहोदधि 1/10 की टीका तथा काव्यानुशासन 1/10 की स्वोपज्ञ अलंकारचूपामपि टीका।

ग्रन्थ – रचना के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। पुनः काव्यप्रयोजन, काव्य हेतु, कवि–शिक्षा, काव्य – लक्षण तथा उसके भेदों का निरूपण किया गया है।

द्वितीय तरंग में शब्द स्वरूप, शब्द–शक्तियाँ यथा-अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना का सभेद विवेचन करते हुए संयोगादिकों का निरूपण किया गया है।

तृतीय तरंग में सर्वप्रथम अर्थवैचित्र्य का सभेद निरूपण, रस–स्वरूप उसके भेद–प्रभेद, स्थायीभाव, सात्त्विक – -भाव, व्यभिचारिभाव आदि का विवेचन किया गया है। इसी क्रम में शब्द–शक्तिमूला तथा अर्थशक्तिमूला ध्वनि के स्वरूप तथा भेद–प्रभेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

चतुर्थ तरंग में गुणीभूत व्यंग्य काव्य के भेदों का सोदाहरण निरूपण किया गया है तथा अन्त में ध्वनि का द्वितीय स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

पंचम तरंग में, काव्य–दोषों का सामान्य स्वरूप, पद–दोष, वाक्य दोष, उभयदोष, अर्थदोष, वक्ता आदि की विशेषता से दोषों का भी गुण होना तथा रस–दोषादि का सभेद निरूपण किया गया है। अन्त में, रस–विरोध परिहार का निरूपण है।

षष्ठ तरंग में,काव्य के तीन गुणों – माधुर्य, ओजस् तथा प्रसाद का विवेचन किया गया है।

सप्तम तरंग में, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा वक्रोक्ति नामक चार शब्दालंकारों का सभेद - प्रभेद विवेचन किया है।

अष्टम तरंग में, अतिशयोक्ति आदि 70 अर्थालंकारों का सलक्षणोदाहरण सभेद - प्रभेद निरूपण किया है। अन्त में, अलंकारदोषों का विवेचन करते हुए ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

वाग्भट द्वितीय

अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान वाग्भट द्वितीय के विषय में पूर्वोक्त जैनाचार्यों की अपेक्षा कम जानकारी उपलब्ध होती है। इन्होंने "काव्यानुशासन" नामक अलंकार ग्रन्थ की रचना की थी। ये अभिनव वाग्भट के नाम से भी जाने जाते हैं।[1] आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने भिन्न - भिन्न विद्वानों द्वारा मान्य अनेक वाग्भटों की सूची प्रस्तुत की है, जिसमें "काव्यानुशासन" तथा "छन्दोनुशासन" आदि के कर्ता जैन कुलोत्पन्न नेमिकुमार के पुत्र वाग्भट का भी उल्लेख किया है।[2] इसी प्रकार पं० नाथूराम प्रेमी ने चार वाग्भटों में से एक को "काव्यानुशासन" तथा "छन्दोनुशासन" का कर्ता स्वीकार किया है।[3]

वाग्भट द्वितीय का समय विक्रम की 14वीं शताब्दी है, क्योंकि उन्होंने उदात्तालंकार के प्रसंग में स्वोपज्ञ "अलंकार तिलक" नामक टीका में "अलंकार-महोदधि" से एक पद्य उद्धृत किया है, जो "अलंकारमहोदधि" के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं पाया जाता है।[4] अलंकार-महोदधि का लेखन समाप्ति काल वि. सं. 1282 है।[5] इसी प्रकार पं. आशाधर जी की रचना "राजीमती विप्रलम्भ" अथवा "राजीमती परित्याग" के कुछ पद्यों का उल्लेख भी इसमें किया गया है।[6] पं. आशाधर जी के अनगारधर्मामृत की भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक टीका का लेखनकाल वि. सं० 1300 है। अतः वाग्भट द्वितीय का

1. तीर्थंकर महावीर तथा उनकी आचार्य परम्परा, चतुर्थ खंड, पृ. 37
2. वाग्भट विवेचन, पृ. 28।
3. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान से उद्धृत, पृ. 39
4. वही. पृ. 40
5. वही, पृ. 40
6. तीर्थंकर महावीर तथा उनकी आचार्य परम्परा, चतुर्थ खंड, पृ. 39

समय उपर्युक्त विद्वानों के पश्चात् विक्रम की 14वीं शताब्दी मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है।

"काव्यानुशासन" तथा उसकी टीका से ज्ञात होता है कि वाग्भट द्वितीय मेदपाट (मेवाड़) निवासी नेमिकुमार के पुत्र तथा मवकलप तथा महादेवी के पौत्र थे।[1] इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम श्री राहड था, जिनके प्रति वाग्भट को अगाध श्रद्धा थी।[2] इनके पिता नेमिकुमार ने अपने द्वारा अर्जित किये गये धन से राहडपुर में उत्तुंग शिखर वाला भगवान् नेमिनाथ एवं नलोटकपुर में 22 देवकुलिकाओं से युक्त आदिनाथ का मंदिर बनवाया था।[3]

आचार्य वाग्भट द्वितीय ने अनेक नवीन तथा सुन्दर नाटकों एवं महाकाव्यों के अतिरिक्त छन्द तथा अलंकारविषयक ग्रन्थों का निर्माण किया है।[4] काव्यानुशासन के अतिरिक्त उनकी दो अन्य रचनाएँ भी उपलब्ध हैं—
1. ऋषभदेवचरित महाकाव्य तथा, 2. छन्दोनुशासन। इसका उल्लेख काव्यानुशासन में मिलता है।

---

1. काव्यानुशासन – वाग्भट द्वितीय, अलंकारतिलक, वृत्ति, पृ. 9
2. वही, पृ. 1
3. वही, पृ. 1
4. क – श्रीमन्नेमिकुमारस्य नंदनो विनिर्मितानेकनव्यभव्यनाटकच्छन्दो – लंकारमहाकाव्यप्रमुखमहाप्रबन्धबन्धुरो पारतरशास्त्रसागर-समुत्तरणतीर्थायमानशेषमुषी सम्भ्यस्तसमस्तानवद्यविद्याविनोद-कन्दलितसकलकलाकलापसंपदुद्दो महाकविः श्रीवाग्भटो भीष्ट-देवतानमस्कारपूर्वमुपक्रमते।
   काव्या. पृ. 1–2

   ख– नव्यानेकमहाप्रबंधरचनाचातुर्यविस्फूर्जितस्फारोदारयशःप्रचारसतत-व्याकीर्णविश्वत्रयः श्रीमन्नेमिकुमारसूनुखिलप्रज्ञालुचूडामणिः काव्या-नामनुशासनं वरमिदं चक्रेकविर्वाग्भटः।।
   वही, पृ. 68

काव्यानुशासन

"काव्यानुशासन" की रचना सूत्र शैली में की गई है। इस पर आचार्य वाग्भट द्वितीय ने अलंकारतिलक नामक स्वोपज्ञवृत्ति की भी रचना की है। इस पर हेमचन्द्रकृत् काव्यानुशासन की छाया प्रतीत होती है। साथ ही काव्य-मीमांसा तथा काव्यप्रकाश का भी इसमें उपयोग किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाँच अध्यायो में विभक्त है -

प्रथम अध्याय में, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-शिक्षा, काव्य-स्वरूप, महाकाव्य, मुक्तक, रूपक, आख्यायिका तथा कथा आदि का स्वरूप निरूपण किया गया है।

द्वितीय अध्यायमेंसर्वप्रथम 16 शब्द - दोषों का विवेचन है जो पद तथा वाक्य दोनों में होते हैं। पुनः विसंधि आदि वाक्य दोषों तथा कष्ट-अपुष्ट आदि अर्थ - दोषों का निरूपण किया गया है। अन्त में, कान्ति सौकुमार्यादि दस गुणों का विवेचन कर तीन गुणों के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट अभिप्राय तथा तीन रीतियों का उल्लेख है।

तृतीय अध्याय में, जाति, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि 63 अर्थालंकारों का सभेद निरूपण है। इसमें अन्य अपर, आशिष् आदि विरल अलंकारों का समावेश किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में, चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक तथा पुनरूक्तवदाभास नामक शब्दालंकारों का भेद – प्रभेद सहित विवेचन है।

पंचम अध्याय में, सर्वप्रथम नव रसों का सांगोपांग निरूपण है। तत्पश्चात् रस-दोष, नायक के धीरोदात्तादि चार भेद, धीरललित के अनुकूल, शठ, धृष्ठ तथा दक्षिण नामक चार प्रभेद, नायक के गुण, नायिका-भेद, स्त्री की आठ अवस्थाएँ, दस कामावस्थाएँ तथा कालादि-औचित्यों का विवेचन किया गया है।

आचार्य भादेवसूरि

आचार्य भावदेव सूरि कालिकाचार्य- संतानीय खंडिलगच्छीय परंपरा के आचार्य जिनदेवसूरि के शिष्य थे। इनका समय 14वीं शताब्दी का पूर्वार्ध प्रतीत होता है, क्योंकि इन्होंने पार्श्वनाथ चरितं की रचना वि. सं. 1412 मे श्रीपत्तन नामक नगर में की थी, जिसका उल्लेख पार्श्वनाथ-चरित" की प्रशस्ति में किया गया है।[1]

आचार्य भावदेवसूरि ने "काव्यालंकारसार" - इस अलंकारविषयक ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य कितने ग्रन्थों की रचना की, यह स्पष्टरूपेण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन ग्रन्थों में, परस्पर एक दूसरे का कहीं भी उल्लेख नहीं है, किन्तु "पार्श्वनाथचरित[2], "जइदिणचरिया (यतिदिनचर्या) [3] और कालिकाचार्यकथा[4] नामक ग्रन्थों मे कालिकाचार्य सन्तानीय भावदेवसूरि का

---

1. तेषां विनेयविनयी बहु भावदेव सूरिः प्रसन्न जिनदेवगुरूप्रसादात्।
   श्रीपतनारव्यनगरे रवि विश्ववर्षे पार्श्वाप्रभोख्यचरितरत्नमिदं ततान।।
   पार्श्वनाथचरितप्रशस्ति, 14
   ("जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान" पृ. 43 से उद्धृत।)
2. "जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान" पृ. 44 से उद्धृत।
3. सिरीकालिकसूरीणं वसव्यव भावदेवसूरीहिं।
   संकलिया दिणचरिया"एसा योवमइजणे (ई)जोग्गा।।
   - यतिदिनचर्या - प्रान्ते, गा0 (अलंकारमहोदधि प्रस्तावना, पृ. 17)
4. तत्पादपद्ममधुपाः विज्ञाः, श्रीभावदेवसूरीणाः
   श्रीकालकाचरित्तं पुनः कृतं यैः स्वर्गाः पूर्त्या।।
   जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग 14, किरण2, पृ. 38

स्पष्ट उल्लेख किया गया है, अतः यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों के रचयिता भावदेवसूरि ही होंगे।

अगरचन्दनाहटा[1] के एक लेख से ज्ञात होता है कि भावदेवसूरि पर एक रास की रचना की गई। रास में यह कथित है कि सं0 1604 में भावदेवसूरि को प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त उक्त लेख से यह भी विदित होता है कि अनूप संस्कृत लाइब्रेरी से सूरि जी के शिष्य मालदेव रचित "कल्पान्तर्वाच्य" नामक ग्रन्थ की प्रति उपलब्ध है जिसकी रचना सं0 1612 या 14 में की गई है, उसकी प्रशस्ति के एक पद्य में "कालकाचरित" का उल्लेख है इत्यादि। उक्त रास के नायक भावदेवसूरि को सं0 1604 में प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी तथा "पार्श्वनाथ चरित" के रचयिता भावदेवसूरि ने "पार्श्वनाथ चरित" की रचना सं0 1412 में की है। इन दोनों तिथियों में पर्याप्त अन्तराल है। अतः उक्त दोनों आचार्यों को एक ही मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। संभवतः प्रशस्ति बाद में जोड़ी गई हो तथा लिपिकार ने भावदेवसूरि की प्रसिद्धि के कारण प्रमादवशात् कालकाचरित का उल्लेख करने वाले उक्त पद्य का समावेश कर दिया हो।

---

1. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान
   पृ. 44 से उद्धृत
2. तत्पादपद्ममधुपाः---स्वर्गाः पूर्त्यै ।
   जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग 14, किरण 2, पृ. 38

काव्यालंकारसार

काव्यालंकारसार नामक ग्रन्थ की रचना आ• भावदेवसूरि ने पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में की।[1] इस पद्यात्मक कृति के प्रथम पद्य में इसका "काव्यालंकारसंकलना" , प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में "अलंकारसार" और आठवें अध्याय के अंतिम पद्य में "अलंकारसंग्रह" नाम से उल्लेख किया गया है।

यह ग्रन्थ संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण है। इसमें आचार्य ने प्राचीन ग्रन्थों से सारभूत तत्वों को ग्रहण कर संगृहीत किया है।[2] आठ अध्यायो में विभक्त इस ग्रन्थ की विषयवस्तु इस प्रकार है -

प्रथम अध्याय में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु तथा काव्य-स्वरूप का निरूपण किया गया है।

द्वितीय अध्याय में, मुख्य लाक्षणिक तथा व्यंजक नामक तीन शब्द-भेद, उनके लक्षणा तथा व्यंजना नामक तीन अर्थभेद तथा वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य नामक तीन व्यापारों का संक्षेप में विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में, श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति आदि 32 पद - दोषों का निरूपण किया गया है। ये 32 दोष वाक्य के भी होते हैं। तत्पश्चात् अपुष्टार्थ-कष्टादि आठ अर्थदोषों का नामोल्लेख कर किंचित् विवेचन किया गया है।

---

1. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 119
2. आचार्य भावदेवेन प्राच्यशास्त्र महोदधेः आदाय साररत्नानि कृतोऽलंकारसंग्रहः 8/8
   काव्यालंकारसार, 8/8

चतुर्थ अध्याय में, सर्वप्रथम वामन सम्मत दस गुणों का विवेचन कर भामह तथा आनन्दवर्धन सम्मत तीन गुणों का विवेचन किया गया है। पुनः शोभा, अभिधा, हेतु, प्रतिषेध, निरूक्ति, युक्ति, कार्य व सिद्धि नामक आठ काव्य-चिन्हों का विवेचन किया है।

पंचम अध्याय में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरूक्तवदाभास नामक छः शब्दालंकारों का सोदाहरण निरूपण किया गया है।

षष्ठ अध्याय में, उपमा, उत्प्रेक्षा रूपक आदि 50 अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है।

सप्तम अध्याय में, पांचाली, लाटी, गौडी तथा वैदर्भी नामक चार रीतियों का निरूपण किया गया है।

अष्टम अध्याय में, भाव, विभाव, अनुभावादि का मात्र नामोल्लेख है।

द्वितीय अध्याय - काव्य स्वरूप, हेतु, प्रयोजन :

काव्यस्वरूप

संस्कृत काव्य-चिंतकों ने काव्य के सर्वसम्मत निर्दुष्ट एवं सार्वभौम लक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास प्रारंभ से ही किया है, पर उनके विचारों में इतनी भिन्नता रही है कि इस प्रश्न को लेकर छः संप्रदायों की सृष्टि हुई एवं प्रत्येक ने परस्पर विरोधी मान्यतायें स्थापित की। मानसिक आधार पर अवलम्बित किसी भी वस्तु का लक्षण प्रस्तुत करना अत्यंत दुष्कर है। सामान्यतः वस्तु का स्वरूप तब तक पूर्णतः शुद्ध नहीं माना जाता है, जब तक कि वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव इन दोषों से रहित न हो। अतः जिस स्वरूप में उपर्युक्त दोषों का अभाव होगा वही शुद्ध स्वरूप माना जायेगा।

प्राचीनकाल से अद्यावधि काव्य के स्वरूप पर विभिन्न आचार्यों ने विचार किया है। उपलब्ध काव्य-स्वरूपों में भामह-कृत काव्य-स्वरूप सर्वाधिक प्राचीन है। आचार्य भामह के समय काव्यस्वरूप विषयक अनेक धारणायें थीं। कोई आचार्य केवल शब्द को व कोई आचार्य केवल अर्थ को काव्य की संज्ञा से अभिहित करते थे जैसा कि वक्रोक्तिकार के उल्लेख से स्पष्ट होता है।[1]

---

1. केषाञ्चिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयतातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति। केषांचिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति।
   वक्रोक्तिजीवित 1/7 वृत्ति

इसी द्वन्द्व को समाप्त करने के उद्देश्य से आचार्य भामह ने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"[1]- यह काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया। अर्थात् उन्होंने शब्द एवं अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना। वे सहभाव या "सहितौ" शब्द का क्या अर्थ ग्रहण करते हैं इसकी व्याख्या उन्होंने नहीं की। पर उनका अभिप्राय यह है कि जिस रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो वे शब्द तथा अर्थ ही "सहितौ" पद से विवक्षित हैं। लेकिन यह काव्य-स्वरूप मनीषियों को अधिक ग्राह्य न हो सका क्योंकि यह अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त था तथा इसमें सामान्य गद्य-पद्य रचना का भी समावेश सम्भव था।

आ० दण्डी ने भामहकृत् काव्यलक्षण का परिष्कार करते हुए काव्य-स्वरूप निरूपण इस प्रकार किया - अभिलषित अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली पदावली का नाम काव्य है।[2] दण्डी ने भामह के "सहितौ" पद का अर्थ स्पष्ट करते हुए सर्वप्रथम काव्य के शरीर की ही बात की है। काव्यात्मा के विषय मे उन्होंने कोई विचार नहीं किया है। अतः भामह तथा दण्डी के काव्यस्वरूप में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दण्डी के अभिलषित अर्थ व पदावली (शब्द समूह) तथा भामह के शब्द व अर्थ में लगभग एक ही बात का कथन किया गया है। यह भी अतिव्याप्ति दोषयुक्त काव्य है।

---

1. काव्यालंकार 1/16
2. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
   काव्यादर्श, 1/10

इस समय तक विद्वानों का ध्यान केवल काव्य-शरीर तक ही सीमित था। वामन ने सर्वप्रथम काव्यशरीर में आत्मा की बात की/उन्होंने रीति को काव्य के आत्मभूत तत्व के रूप मे प्रतिपादित करके भामह व दण्डी आदि के द्वारा प्रतिपादित काव्यशरीर में प्राणप्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया। "रीतिरात्मा काव्यस्य"[1](अर्थात् रीति ही काव्य की आत्मा है)यह उनका काव्य-लक्षण या मूलसिद्धान्त है। वह लिखते है कि काव्य अलंकार के योग से ही उपादेय है तथा वह काव्य शब्द, गुण तथा अलंकार से सुसंस्कृत शब्द तथा अर्थ का ही बोधक है।[2]

इस प्रकार वामन ने "रीतिरात्मा काव्यस्य" लिखकर काव्य की "आत्मा" क्या है, एक नया प्रश्न उठा दिया। इसीलिये अगले विचारक आनन्दवर्धनाचार्य के समक्ष काव्य की आत्मा के निर्धारण करने का प्रश्न काव्यप्रश्न बन गया। रीतियों को वे केवल संघटना या अवयव-संस्थान के समान ही मानते हैं, उनको काव्यात्मा वे नहीं मानते। उन्होंने "ध्वनि" को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया[3]। उनके अनुसार ध्वनि ही काव्य का जीवनाधायक तत्व है। उनका ध्वनि-स्वरूप[4] निश्चित ही एक

---

1. काव्यालंकारसूत्र, 1/2/6
2. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।
   काव्य शब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयो: शब्दार्थयोर्वर्तते।
   वही, 1/1/1, वृत्ति
3. काव्यास्यात्मा ध्वनि:, ध्वन्यालोक 1/1
4. यत्रार्थ: शब्दोवा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
   व्यङ्क्त: काव्यविशेष: सध्वनिरिति सूरिभि: कथित:।।
   वही, 1/13

उच्चस्तरीय काव्य का संकेतक है। वे ध्वनि को वस्तु, अलंकार तथा रस ध्वनि भेद से तीन प्रकार का बताते हुए रसध्वनियुक्त काव्य को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। उन्होंने लिखा कि "सहृदयों के हृदय को आनंदमग्न करने वाला, रसाभिव्यक्ति करा देने वाला शब्दार्थयुगल काव्य है।[1] ध्वनितत्त्व की दृष्टि से यह लक्षण महत्वपूर्ण व आदर्शभूत है पर इसमें गुण, दोष, अलंकारादि विशेषणों की चर्चा नहीं की गई है तथा यह चित्रकाव्यादि को अपने अंदर समाहित नहीं कर सकता, अतः अव्याप्ति दोषयुक्त है।

राजशेखर ने काव्यपुरुष की कल्पना करके काव्य-स्वरूप में शब्द, अर्थ, गुण, रस व अलंकार सभी का सामंजस्य करने का प्रयास किया।[2] वक्रोक्तिकार कुन्तक ने भी यद्यपि "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" यह मानते हुए विदग्धभंगीभणिति" को ही काव्य बतलाया तथापि काव्य-स्वरूप की व्याख्या करते हुए उसके सभी अंगों की ओर ध्यान दिया। तदनन्तर काव्य लक्षण में समन्वय की प्रवृत्ति बढ़ती रही। एक ओर भोजराज ने काव्य को गुणों से युक्त, अलंकारों से अलंकृत व रसों से समन्वित माना[3] तो दूसरी ओर

---

1. सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्
   वही, 1/1, वृत्ति
2. काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय
3. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलङ्कृतम्।
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।।
   सरस्वतीकण्ठाभरण 1/2

क्षेमेन्द्र ने "औचित्य को ही काव्य का प्राण" कहा।

इन समस्त लक्षणों का समन्वित रूप आचार्य मम्मट के काव्य-स्वरूप में दृष्टिगत होता है। काव्य-स्वरूप निरूपण करते उन्होंने लिखा कि - (काव्यत्व - विघातक) दोष रहित, (माधुर्यादि) गुण सहित तथा कहीं-कहीं (स्फुट) अलंकार रहित साधारणतः अलंकार सहित शब्द तथा अर्थ समूह काव्य हैं।[1] इस लक्षण में आचार्य मम्मट ने शब्दार्थयुगल के "अदोषौ" "सगुणौ" आदि विशेषण प्रस्तुत करके निश्चय ही श्लाघनीय कार्य किया है। उनका काव्य - लक्षण सामाजिक तथा कवि दोनों की दृष्टि से पूर्ण है, कृति तथा अनुभूति से सम्बन्ध रखने वाला है। इसमें अलंकारवादी, रीतिवादी, वक्रोक्तिकार व ध्वनिवादी सभी सम्प्रदायों के काव्यलक्षण आ मिलते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण के 'निर्दोषं गुणवत्' आदि काव्य - स्वरूप के साथ इसका अत्यधिक साम्य है। यद्यपि साहित्यदर्पणकार[2] तथा पण्डितराज जगन्नाथ[3] ने इसकी कटु आलोचना अवश्य की है, किन्तु वे इससे अधिक व्यापक तथा सर्वग्राह्य काव्य - लक्षण न दे सके। वस्तुतः काव्य तो लोकोत्तर-वर्णना-निपुण कविकर्म है। उसे लक्षण

---

1. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।।
   काव्यप्रकाश 1/4
2. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् "साहित्यदर्पण 1/3
3. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।
   रसगंगाधर(काव्यमाला) पृ. 4-5

अथवा परिभाषा की सीमाओं में कैसे बांधा जा सकता है?

संक्षेप में, विश्वनाथ तथा पण्डितराम जगन्नाथ सदृश स्वतंत्र चिंतक आचार्यों के अतिरिक्त शेष आचार्यों के काव्य-स्वरूप पर प्रायः आ. मम्मट का प्रभाव दृष्टिगत होता है। प्रायः समस्त जैनाचार्य मम्मटानुगामी हैं-

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने काव्य स्वरूप पर विचार करते लिखा है कि -(औदार्यादि) गुण तथा(उपमादि)अलंकारों से युक्त,(वैदर्भी आदि) स्पष्ट रीति व(श्रृंगारादि)रसों से युक्त साधु शब्द अर्थ सन्दर्भ काव्य कहलाता है।[1]

आचार्य वाग्भट प्रथम ने मम्मट के काव्य-स्वरूप में एक-दो नवीन तत्वों का समावेश किया है, जिसमें रीति प्रमुख है। किंतु सामान्यतः विद्वान् रीति को काव्य में आवश्यक नहीं मानते हैं। साथ ही इन्होंने काव्य में अलंकार की स्थिति अनिवार्य मानी है।

आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट की कठिन तथा व्याख्यापेक्ष शैली को सरल करते हुए, शब्दविन्यास में कुछ परिवर्तन करके मम्मट के काव्यलक्षण को प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं - "दोषरहित, गुणान्वित तथा अलंकारयुक्त शब्दार्थ काव्य है।[2] किन्तु कभी - कभी अलंकाररहित शब्दार्थ भी काव्य कहलाता है इस बात को उन्होंने "चकार" मात्र से कह दिया तथा वृत्ति में निरलंकार

1. साधुशब्दार्थसन्दर्भ गुणालंकारभूषितम् स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यम्......।।
   वाग्भटालंकार, 1/2।
2. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।
   - काव्यानुशासन 1/11
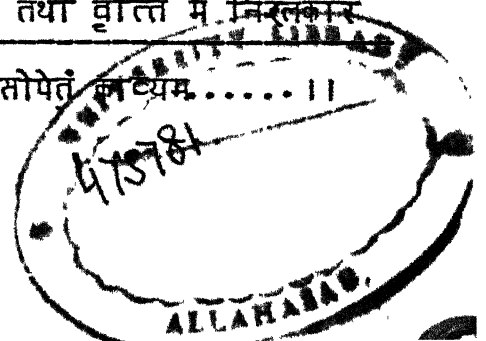
शब्दार्थ को काव्य के रूप में स्वीकार करने की बात कही है।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने काव्य में गुणों की सत्ता अनिवार्य मानी है। काव्य में गुणों की सत्ता का अर्थ है – रससम्पत्ति से युक्त होना। इस प्रकार हेमचन्द्र का आग्रह है कि ऐसे शब्दार्थ ही जो दोषरहित तथा रससमन्वित हैं, काव्य की संज्ञा से सुशोभित हो सकते हैं। गुणों की अनिवार्यता को सिद्ध करते हुए स्वयं कहा है कि ऐसा शब्दार्थयुगल जो अलंकारो से मण्डित नहीं है लेकिन गुणबहुल है तो लोग उसका रसास्वादन करेंगे। अर्थात् वह उत्तम काव्य होगा। किन्तु वही शब्दार्थयुगल अलंकारों से मण्डित होते हुए भी जब गुणों से हीन होगा तो कोई उसका रसास्वाद नहीं करेगा अर्थात् वह काव्य न होगा।[2] हेमचन्द्राचार्य ने गुणयुक्त काव्य का उदाहरण, जिसमें अलंकारों का सर्वथा अभाव है, "शून्यं वासगृहं विलोक्य" इत्यादि श्लोक प्रस्तुत किया है तथा अलंकृत होते हुए भी गुणरहित काव्य का उदाहरण "स्तनकर्परपृष्ठस्था" इत्यादि दिया है।[3]

---

1. चकारो निरलंकारयोरपि शब्दार्थयोः क्वचित्काव्यत्वख्यापनार्थः।
   काव्यानु. वृत्ति, पृ. 33
2. अनेन काव्ये गुणानामवश्यंभावमाह – तथा हि अलंकृतमपि गुणबहवः स्वदते। .... अलंकृतमपि निर्गुणं न स्वदते।
   काव्यानु, विवेक टीका, पृ. 33
3. काव्यानुशासन, पृ, 33-34

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र का काव्य-लक्षण संक्षिप्त होकर भी सारगर्भित है। मम्मट की तुलना में भले ही कोई नवीन बात इसमें नहीं कही गई है तथापि उसे परिमार्जित व सुप्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य हेमचन्द्र को अवश्य है।

आ. रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पण में यद्यपि प्रमुखतः नाट्य-शास्त्रीय विषयों का ही उल्लेख किया है तथापि इसमें आनुषंगिक रूप से रूपकेतर काव्यशास्त्रीय प्रसंगों पर भी प्रकाश डाला गया है। आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार – अभिनेय(अर्थात् दृश्य काव्य)तथा अनभिनेय(श्रव्य काव्य) उभयविध काव्य का शब्दार्थ शरीर है, रस प्राण है।[1] विभावानुभाव-संचारी – रूप कारणों के द्वारा यह काव्य सहृदयों के हृदय तक पहुंचता है। अतः कवियों को चाहिए कि वे रस – निवेश के विषय में अधिक सौहार्द्र से तल्लीन रहें, जिससे कि अनायास रस-निवेश के साथ-साथ अलंकार भी उसका अंग – उपकारक बन जाय। तभी वह काव्य सहृदयों के हृदय में चमत्कार का आधान कर सकता है।[2] इसके उदाहरण रूप में वे "कपोले पत्राली..." इत्यादि उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

---

1. अर्थ शब्दवपुः काव्यं रसैः प्राणैर्विसर्पति।
   हिन्दी नाट्यदर्पण, 3/21
2. हिन्दी नाट्यदर्पण, विवरण (वृत्ति) भाग, पृ. 318

अपने उपरोक्त कथन को और स्पष्ट करते वे कहते हैं कि नवीन-नवीन अर्थों को प्रकाशित करने वाले शब्दों की रचना कर देना मात्र ही काव्य नहीं कहलाता है। क्योंकि न्याय तथा व्याकरणादि में भी यह हो सकता है। किंतु चमत्कारजनक, रस से पवित्र शब्द तथा अर्थ का सन्निवेश ही काव्य कहलाने योग्य होता है। जैसे परिपाक हो जाने के कारण सुन्दर दृष्टिगत होने वाला भी आम्र-फल रसशून्य होने पर बुरा लगता है।[1]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट सम्मत काव्य-स्वरूप में कुछ अपनी बात का समावेश करते लिखा है कि - दोषरहित, गुण, अलंकार व व्यंजना सहित काव्य कहलाता है।[2] आगे वे लिखते हैं कि जहां अलंकार की अस्फुट

---

1. न हि नवनवार्थव्युत्पन्नशब्दग्रथनमेव काव्यं, तर्क-व्याकरणयोरपि तथा भावप्रसंगात्। किन्तु विचित्ररसपवित्रशब्दार्थनिवेशः। विपाककमनीयमपि यमकश्लेषादीनामेव निबन्धमर्हन्ति।

   हिन्दी नाट्यदर्पण, विवरण भाग, पृ. 320

2. निर्दोषः सगुणः सालंकृतः सव्यंजनस्तथा।
   शब्दश्चार्थश्च वैचित्र्यपात्रतां हि विगाहते।।

   अलंकारमहोदधि 1/13

(अस्पष्ट) प्रतीति होती है वहाँ भी निर्दोषता, सगुणता तथा व्यंजना का समावेश होने पर काव्यत्व की हानि नहीं होती।[1] जैसे – गेयं श्रोत्रैकपेयं..." इत्यादि में।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट के काव्य-स्वरूप में "सव्यंजनस्तथा" यह एक विशेषण जोड़ा है जो सर्वथा मौलिक है। लेकिन यहाँ पर यह विचारणीय है कि काव्य के सभी प्रकारों में व्यंजना का समावेश तो नहीं होता। स्वयं नरेन्द्रप्रभसूरि ने काव्य के अवर – काव्य नामक तृतीय भेद के रूप में व्यंजना की अनिवार्यता का उल्लेख नहीं किया है।[2] जिससे उनका यह काव्य-स्वरूप अव्याप्ति दोष से ग्रसित है। अतः उक्त विशेषण सदोष है।

वाग्भट द्वितीय ने आचार्य मम्मट के काव्यस्वरूप की पुनरावृत्ति मात्र करते हुए काव्यलक्षण दिया कि "दोषरहित, गुणसहित तथा प्रायः अलंकार युक्त शब्दार्थ समूह काव्य है।[3] इसके उदाहरणरूप में "शून्यंवासगृहं विलोक्य...." इत्यादि उदाहरण प्रस्तुत किया है।

---

1. यत्राप्यस्फुटत्वं तत्रापि चमत्कारिण्यपरत्रये निर्दोषत्व – सगुणत्व – सव्यजंनत्वलक्षणे सति न काव्यता परिहीयते।"
   वही, वृत्ति, पृ. 11

2. यत्र व्यंजनवैचित्र्यचारिमा कोऽपि नेक्ष्यते।
   काव्याध्वनि सदाऽध्वन्यैस्तत् काव्यमवरं स्मृतम्।।
   अलंकारमहोदधि, 1/17

3. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्।
   काव्यानुशासन–वाग्भट, पृ. 14

इसी प्रकार आचार्य भावदेवसूरि - सहृदयों के लिये इष्ट, दोष - रहित, सद्गुणों तथा अलंकारों से युक्त शब्दार्थ - समूह को काव्य मानते हैं।[1] इस काव्य - स्वरूप के मूल में भी आ. मम्मट के काव्य-लक्षण की ही भावना प्रधान है।

इस प्रकार इन पूर्वोक्त समस्त जैनाचार्यों ने काव्य- स्वरूप में प्रारम्भ से चली आई परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने का सफल प्रयास किया है तथा काव्य-स्वरूप पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार कर कतिपय नवीन तथ्यों का समावेश करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है।

काव्य-भेद

काव्य के भेद - प्रभेदों पर प्राचीनकाल से ही विचार किया जाता रहा है।भामहाचार्य ने काव्य के दो भेद किये थे - गद्य काव्य तथा पद्य काव्य। उन्होंने वृत्तबन्ध तथा अवृत्तबन्ध दो प्रकार की रचना की दृष्टि से ये भेद किये थे। रीतिवादी आचार्य वामन ने भी काव्य के इन

---

1. शब्दार्थौ च भवेत् काव्यं तौ च निर्दोषसद्गुणौ।
   सालंकारौ सताभिष्टावत एतन्निरूप्यते

   काव्यालंकारसार - 1/ 5

दो प्रकारों का निरूपण करके[1] गद्य तथा पद्य के भी रचनानुसार अनेक प्रभेद किये। उन्होंने प्राचीन कवियों की "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" यह उक्ति देकर गद्य को प्राथमिकता दी तथा गद्य-पद्य रूप काव्य के भी दो भेद किये - प्रबन्ध तथा मुक्तक[2] । उन्होंने प्रबन्धकाव्यों में दस प्रकार के रूपक नाटकादि को श्रेष्ठ बतलाते हुए कहा - "सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः"[3] आचार्य दण्डी ने "गद्य" तथा "पद्य" नामक दो काव्य - भेदों में "मिश्र" नामक तीसरा भेद और जोड़ दिया।[4] उन्होंने गद्य-पद्य मिश्रित नाटकों का काव्य में अन्तर्भाव करने के लिये "मिश्र" नामक काव्य-भेद की उद्भावना की, यद्यपि प्राचीनकाल मे ही भरतमुनि नाटक को "काव्य" बता चुके थे।

भामह तथा दण्डी ने भाषा के आधार पर भी काव्य के तीन भेद किये —

1. संस्कृत काव्य
2. प्राकृत काव्य
3. अपभ्रंश काव्य।

---

1. काव्यं गद्यं पद्यंच,
   काव्यालंकारसूत्र 1. 3. 21
2. तदनिबद्धं निबद्धंच
   वही, 1. 3. 27
3. वही, 1. 3. 30
4. काव्यादर्श 1/11

रूद्रट ने इनमें तीन प्रकार और जोड़ दिये —

4. मागध काव्य
5. पैशाचकाव्य
6. शौरसेन काव्य

इसी प्रकार अलंकार तथा रीति सम्प्रदाय आचार्यों ने काव्य के अन्य भी भेद प्रभेद किये, जिनमें महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, चम्पू तथा नाटक व प्रकरण आदि विविध रूपकों का उल्लेख किया गया था।

ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य के इस भेद-प्रभेद की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया तथापि आचार्य अननन्दवर्धन ने प्राचीन आचार्यों के अभिमत अनेक काव्य-प्रभेदों का उल्लेख किया है - मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक कुलक, पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेय, आख्यायिका तथा कथा।[1] उन्होंने इन काव्य-भेदों की रचना संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश में स्वीकार की है।[2] जिससे उनके द्वारा भाषा को आधार मानकर काव्य - भेदों की ओर संकेत मिलता है।

---

1. ध्वन्यालोक, 3/7 वृत्ति ।
2. ध्वन्यालोक, 3/7 वृत्ति ।

जैनाचार्य वाग्भट - प्रथम ने भाषा कोध्यान मे रखकर कुछ उदार दृष्टि अपनाई तथा उन्होंने काव्य-रचना हेतु पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के अतिरिक्त भूतभाषा पैशाची, को भी समान रूप से स्थान दिया है।[1] इसका कुछ - कुछ संकेत दण्डी के इस कथन में भी मिलता है कि विचित्र अर्थों वाली बृहत्कथा भूतभाषा में है।[2] वाग्भट प्रथम ने छन्द के आधार पर तीन भेद किए हैं - गद्य, पद्य तथा मिश्र।[3]

आचार्य हेमचन्द्र ने इन्द्रियों की ग्राहकता को ध्यान में रखते हुए सर्वप्रथम दो भेद किए हैं - प्रेक्ष्य तथा श्रव्य। प्रेक्ष्य के दो भेद है - पाठ्य तथा गेय। पुनः पाठ्य के 12 भेद हैं — नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, प्रहसन, भाण, वीथी तथा सट्टक। गेय के 13 भेद हैं — डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिंगक, भाणिका, प्रेरण, रामक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित, राग और काव्य आदि।[4]

---

1. वाग्भटालंकार, 2/1
2. काव्यादर्श, 1/38
3. वाग्भटालंकार, 2/4
4. काव्यानुशासन, 8/1-4

आदि पद से शम्पा, छलित तथा द्विपदा आदि का ग्रहण किया गया है।[1] द्विपदी तथा शम्पा का उल्लेख इससे पूर्व भामह ने भी किया है।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने श्रव्य के पाँच भेद किये हैं - महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिबद्ध[3]। नाट्यदर्पणकार ने अपने ग्रन्थ में काव्य के भेदों का मात्र कथा आदि का मार्ग अलंकारों से कोमल हो जाने के कारण सुखपूर्वक संचरण करने योग्य है[4] इतना ही उल्लेख किया है तथा रूपक के 12 भेद बताये हैं- नाटक, प्रकरण, नाटिका, प्रकरणी, व्यायोग, समवकार, भाण, प्रहसन, डिम, उत्सृष्टिकांक, ईहामृग तथा वीथी।[5]

आचार्य वाग्भट द्वितीय ने गद्य, पद्य तथा मिश्र - तीन भेदों का ही उल्लेख किया है।[6] पुनः वाग्भट द्वितीय ने पद्य के - महाकाव्य, मुक्तक, संदानितक, विशेषक, कलापक तथा कुलक ये छः भेद, गद्य का आख्यायिका मात्र एक भेद तथा मिश्र के रूपक, कथा, व चम्पू ये तीन भेद किए हैं। पुनः

---

1. आदिग्रहणात् शम्पाच्छलितद्विपधादि परिग्रहः।
   वही, 8/4 वृत्ति।
2. काव्यालंकार 1/24
3. श्रव्यं महाकाव्यमाख्यायिका कथा चम्पूरनिबद्धं च।
   काव्यानुशासन, 8/5
4. हि. नाट्यदर्पण, श्लोक 3, प्रथम विवेक
5. हि. नाट्यदर्पण, श्लोक 1/3
6. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ. 15

रूपक के अभिनेय तथा गेय ये दो भेद किए है। इनके अनुसार अभिनेय की संख्या दस है, जो हेमचन्द्र सम्मत पाठ्य के 12 भेदों में से नाटिका तथा सट्टक को छोड़कर शेष दस हैं। गेय हेमचन्द्रसम्मत ही हैं।[1]

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाटकादि दृश्य - काव्यों का बृहद् रूप में उल्लेख किया है, अतः प्रस्तुत में केवल श्रव्य-काव्य के भेद - महाकाव्य आख्यायिका, कथा, चम्पू तथा अनिबद्ध - 5 भेदों का ही निरूपण किया जा रहा है -

महाकाव्य - जीवन की समग्र घटनाओं का जहाँ एक साथ विस्तृत विवेचन किया जाता है, ऐसी पद्यमयी रचना का नाम महाकाव्य है। आचार्य भामह ने सर्वप्रथम महाकाव्य का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि - जो सर्गबन्ध हो, जिसमें महापुरूषों का चरित निबद्ध हो, बड़ा हो, ऐसा ग्राम्य - शब्दों से रहित, अर्थसौष्ठव सम्पन्न, अलंकार युक्त, सज्जनाश्रित, मंत्रणा, दूतसम्प्रेषण, प्रयाण, युद्धनायक के अभ्युदय तथा पंचसन्धियों से समन्वित अनतिव्याख्येय (अक्लिष्ट), वैभव - सम्पन्न, चतुर्वर्ग का निरूपण करने पर भी अधिकता अर्थोपदेश की हो तथा जो लोकाचार तथा समस्त रसों से युक्त हो, वह महाकाव्य कहलाता है।[2] दण्डीकृत महाकाव्य के स्वरूप[3] में कतिपय अन्य बातों का भी समावेश है। यथा - इसका प्रारंभ

---

1. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ. 15-19
2. काव्यालंकार, 1/19-21
3. काव्यादर्श 1/14-19

आशीर्वाद, नमस्कार अथवा कथावस्तु के निर्देश से होता है। इसमें सभी सर्गों के अन्त में छन्दों की भिन्नता तथा लोकानुरंजन आदि प्रमुख हैं। इस लक्षण की एक और अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि जहाँ भामह ने महाकाव्य मे वर्ण्य कुछ ही विषयों का उल्लेख किया है, वहाँ दण्डी ने निम्न अठारह विषयों का उल्लेख किया है – नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, जलक्रीडा, मधुपान, प्रेम, विप्रलम्भ, विवाह, कुमारोत्पति, मंत्रणा, दूत-प्रेषण, प्रयाण, युद्ध तथा नायकाभ्युदय। इनमें से अन्तिम पाँच का उल्लेख भामह ने इसके पूर्व किया है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने महाकाव्य का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि – संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश तथा ग्राम्यभाषा में निबद्ध, सर्ग के अन्त में भिन्न छन्दों से युक्त सर्ग, आश्वास, सन्धि और अवस्कन्धकबन्ध में विभक्त, उत्तम सन्धियों से युक्त, तथा शब्दार्थ – वैचित्र्य सम्पन्न पद्यमयी रचना का नाम महाकाव्य है।[1]

इसके अतिरिक्त आचार्य हेमचन्द्र की मान्यता है कि संस्कृत भाषा में निबद्ध महाकाव्य में सर्ग के स्थान पर यदि आश्वासक का भी प्रयोग किया जाये तो कोई हानि नहीं है तथा सम्पूर्ण महाकाव्य में प्रारम्भ से लेकर

---

1. पद्यं प्राय: संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषा निबद्ध भिन्नान्त्यवृत्तसर्गा-श्वाससंध्यवस्कन्धकबन्धं सत्सन्धि शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।

   काव्यानु. 8/6

समाप्तिपर्यन्त एक ही छन्द का प्रयोग भी किया जा सकता है।[1] आचार्य वाग्भट द्वितीय का महाकाव्य-स्वरूप आचार्य हेमचन्द्र के सूत्ररूप में निबद्ध महाकाव्य के स्वरूप और वृत्ति में किये गये व्याख्यान के सम्मिश्रण का पुनः सूत्र रूप में निबद्ध परिष्कृत रूप है।[2]

---

1. प्रायोग्रहणात् संस्कृत भाषयाऽप्याश्वासकबन्धो हरिप्रबोधादौ न दुष्यति। प्रायोग्रहणादेव रावणविजयहरिविजयसेतुबन्धेष्वादितः समाप्तिपर्यन्तमेकमेवं छन्दो भवतीति।

   काव्यानु, 8/6 वृत्ति

2. तत्र प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वासकसंध्यवस्कन्धकबन्धम्, मुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणरूपसंधिपंचकोपेतम्, असंक्षिप्तग्रन्थम्, अविषमबन्धम्, अनतिविस्तीर्णपरस्परसंबद्धसर्गम्, आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशोपक्रम्युतम्, वक्तव्यवस्तुप्रतिज्ञाततत्प्रयोजनोपन्यासकविप्रशंसासज्जनदुर्जनचिन्तादिवाक्योपेतम्, दुष्करीचित्राद्येकसर्गांकितम्, स्वभिप्रेतवस्त्वंकितसर्गान्तम्, चतुर्वर्गफलोपेतम्, चतुरोदात्तनायकम्, प्रसिद्धनायकचरितम्, नगनागरसागरर्तुचन्द्रार्कोदयास्तसमगोद्यान जलकेलिमधुपानसुरतमन्त्रदूतसैन्यावासप्रयाणाजिनायकाभ्युदयविवाहविप्रलम्भाश्रमनद्यादिवर्णनोपेतं महाकाव्यम्।

   काव्यानु., वाग्भट, पृ. 15

आख्यायिका – आख्यायिका का तात्पर्य है, ऐतिहासिक वृत्त। आ. भामहानुसार "संस्कृत भाषा में निबद्ध गद्यमयी रचना आख्यायिका कहलाती है। उसमें शब्द, अर्थ तथा समास अक्लिष्ट एवं श्रव्य हो, विषय उदात्त हो और उच्छ्वासों में विभक्त हो, इसमें नायक आत्मवृत्त स्वयं कहता है। समय – समय पर भविष्य में होने वाली घटनाओं के सूचक वक्त्र तथा अपरवक्त्र नामक छन्द रहते हैं। वह कवि के किन्हीं अभिप्राय-पूर्ण कथनों से अंकित, कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ और अभ्युदय के वर्णनों से युक्त होती है।[1] आख्यायिका में आत्मवृत्त नायक ही कहे यह दण्डी आवश्यक नहीं मानते। वे कथा तथा आख्यायिका को एक ही जाति के दो नाम मानते हैं। इसके अतिरिक्त दण्डी के मत में कन्याहरण आदि भी कथा अथवा आख्यायिका के विशिष्ट गुण न होकर सर्गबन्ध की तरह सामान्य गुण ही हैं तथा कविस्वभावकृत चिन्ह विशेष कहीं भी दूषित नहीं होते हैं।[2]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने आख्यायिका के लिए भामह सम्मत 5 बातों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार – जिसमें नायक आत्मवृत्त स्वयं कहता हो तथा भविष्य में होने वाली घटनाओं के सूचक वक्त्रादि छन्दों से युक्त, उच्छ्वासों मे विभक्त, संस्कृत भाषा में निबद्ध गद्य – पद्यमयी रचना

---

1. काव्यालंकार, 1/25-27
2. काव्यादर्श, 1/25-30

आख्यायिका कहलाती है।[1] यहाँ पर आख्यायिका गद्यमय न होकर गद्य से युक्त होती है, ऐसा जो कहा गया है, उसमें हेमचन्द्र का युक्त के ग्रहण से तात्पर्य यह है कि यदि आख्यायिका के बीच - बीच में अत्यल्प रूप से पद्य का निबन्धन हो जाय तो इससे आख्यायिका दूषित नहीं होगी, जैसे - बाणविरचित हर्षचरित।[2]

वाग्भट - द्वितीय आख्यायिका में मित्रादि के मुख से वृतान्त कहलाने की छूट देते है तथा बीच-बीच में पद्य रचना को आवश्यक मानते हैं।[3] शेष बातें भामह-सम्मत ही उन्हें मान्य हैं। इस प्रकार जैनाचार्य प्राय: भामहसमर्थक है।

<u>कथा</u> : कथा में सामान्यत: कविकल्पनाप्रसूत वर्णन किया जाता है। भामह के अनुसार इसकी रचना संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में होती है, इसमें वक्त्र तथा अपरवक्त्र नामक छन्दों तथा उच्छ्वासों का अभाव होता है।

---

1. नायकाख्यातस्ववृत्ता भाव्यर्थशंसिवक्त्रादि:सोच्छ्वासा संस्कृता गद्ययुक्ताख्यायिका।

   काव्यानुशासन, 8/7

2. काव्यानु, 8/7

3. तत्र नायिकाख्यातस्ववृत्तान्ताभाव्यर्थशंसिनीसोच्छ्वासा कन्यकापहारसमागमाभ्युदयभूषिता मित्रादिमुख्याख्यातवृत्तान्ता अन्तरान्तराप्रविरलपद्यबन्धा आख्यायिका।

   काव्यानु. वाग्भट, पृ. 16

इसके अतिरिक्त उसमें नायक अपना चरित स्वयं नहीं कहता, अपितु किसी अन्य व्यक्ति से कहलाता है, क्योंकि कुलीन, व्यक्ति अपने गुण स्वयं कैसे कहेगा।[1] दण्डी कथा तथा आख्यायिका में कोई मौलिक भेद न मानकर एक ही जाति के दो नाम मानते हैं[2] उनके अनुसार कथा की रचना सभी भाषाओं तथा संस्कृत में भी होती है। अद्भुत अर्थों वाली बृहत्कथा भूतभाषा में है।[3] आनन्दवर्धन ने भी काव्य के भेदों में परकथा, खंडकथा तथा सकलकथा का उल्लेख किया है।[4]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने कथा का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि जिसमें धीरप्रशान्त नायक हो तथा जो सर्वभाषाओं में निबद्ध हो, ऐसी गद्य अथवा पद्यमयी रचना कथा कहलाती है।[5] इनके अनुसार संस्कृत प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची तथा अपभ्रंश में भी कथा का निबन्धन, किया जा सकता है।[6] आ. हेमचन्द्र ने कथा के दस भेद किए हैं — आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा तथा बृहत्कथा[7]। प्रत्येक का स्वरूप निम्न प्रकार है —

---

1. काव्यालंकार - 1/28-29
2. काव्यादर्श - 1/28
3. वही, 1/38
4. ध्वन्यालोक, 3/7 वृत्ति
5. धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा।
   काव्यानु - 8/8
6. काव्यानु, 8/8 वृत्ति
7. वही, 8/8 वृत्ति

आख्यान – प्रबन्ध के मध्य में दूसरे को समझाने के लिए नलादि उपाख्यान के समान उपाख्यान का अभिनय करता हुआ, पढ़ता, गाता हुआ जो एक ग्रन्थिक (ज्योतिषी) कहता है, वह गोविन्द की तरह आख्यान कहलाता है।[1]

निदर्शन – पशु पक्षियों अथवा तद्भिन्न प्राणियों की चेष्टाओं के द्वारा जहाँ कार्य अथवा अकार्य का निश्चय किया जाता है, वहाँ पंचतन्त्र आदि की तरह तथा धूर्त, विट, कुट्टनीमत, मयूर, मार्जारिका आदि के समान निदर्शन होता है[2]।

प्रवल्हिका – प्रधान नायक को लक्ष्य करके जहाँ दो व्यक्तियो में विवाद हो, वह अर्धप्राकृत में चेटकादि के समान प्रवल्हिका है।[3]

मतल्लिका – प्रेत(भूत) भाषा अथवा महाराष्ट्री भाषा में रचित लघुकथा, गोरोचना अथवा अनंगवती आदि की भांति मतल्लिका होती है, जिसमें पुरोहित, अमात्य अथवा तापस आदि का प्रारम्भ किये गये कार्य को समाप्त न कर पाने के कारण उपहास होता है, वह भी मतल्लिका कहलाती है।[4]

---

1. प्रबन्धमध्ये परप्रबोधनार्थं नलाद्युपाख्यानमिवोपाख्यानमभिनयन् पठन् गायन यदैको ग्रन्थिकःकथयति तद् गोविन्दवदाख्यानम्।
   वही, 8/8 वृत्ति।

2. तिरश्चामतिरश्चां वा चेष्टाभिर्यत्र कार्यमकार्यं वा निश्चीयते तत्पंचतन्त्रादिवत्, धूर्तविटकुट्टनीमतमयूरमार्जारिकादिवच्च निदर्शनम्।
   वही, 8/8 वृत्ति।

3. प्रधानमधिकृत्य यत्रद्वयोर्विवादः सोऽर्धप्राकृतरचिता चेटकादिवत् प्रवल्हिका।
   वही 8/8 वृत्ति।

4. प्रेतमहाराष्ट्रभाषया क्षुद्रकथा गोरोचना अनंगवत्यादिवन्मतल्लिका। यस्यां पुरोहितामात्यतापसादीनां प्रारब्धानिर्वाहे उपहासः सापि मतल्लिका।
   वही, 8/8 वृत्ति।

मधिकुल्या - जिसमें पहले वस्तु लक्षित नहीं होती, किन्तु बाद में प्रकाशित होने लगती है, वह मत्स्यहसित आदि की तरह मधिकुल्या है।[1]

परिकथा - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरूषार्थों में से किसी एक को लक्ष्य करके विभिन्न प्रकार से अनन्तवृत्तान्त-वर्णन-प्रधान शूद्रकादि के समान परिकथा होती है।[2]

खण्डकथा - अन्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध इतिवृत्त को मध्य से अथवा अन्त से ग्रहण कर जिसमें वर्णन किया जाता है, वह इन्दुमती आदि की तरह खण्डकथा कहलाती है।[3]

सकलकथा - चतुर्पुरूषार्थों को लेकर जहाँ इतिवृत्त का वर्णन हो, वह समरादित्य की तरह सकलकथा कहलाती है।[4]

---

1. यस्यां पूर्वं वस्तु न लक्ष्यते पश्चात्तु प्रकाश्येत सा मत्स्यहसिता - दिवन्मधिकुल्या।
   काव्यानु. 8/8 वृत्ति
2. एकं धर्मादिपुरूषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृतान्तवर्णनप्रधाना शूद्रकादिवत् परिकथा।
   वही, 8/8 वृत्ति।
3. मध्यादुपान्ततो वा ग्रन्थान्तरप्रसिद्धमितिवृत्तं यस्यां वर्ण्यते सा इन्दुमत्यादिवत् खण्डकथा।
   वही, 8/8 वृत्ति।
4. समस्तफलान्तेतिवृत्तवर्णना समरादित्यादिवत् सकलकथा।
   वही, 8/8 वृत्ति।

उपकथा - जहाँ प्रसिद्ध कथान्तर का किसी एक पात्र में उपनिबन्धन किया जाता है, वह उपकथा है।[1] यथा - चित्रलेखादि।

बृहत्कथा - लम्भों से अंकित अद्भुत अर्थवाली नरवाहनदत्त आदि के चरित के समान बृहत्कथा होती है।[2]

कथा के इतने अधिक उपभेदों का उल्लेख किसी भी अन्य आचार्य ने नहीं किया है।

चम्पू : चम्पू का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य दण्डी ने किया है। उनके अनुसार गद्य - पद्यमय मिश्र शैली में निबद्ध रचना चम्पू कहलाती है।[3]

जैनाचार्य हेमचन्द्र चम्पू का स्वरूप निरूपण करते लिखते हैं कि - साङ्क तथा उच्छ्वासों में विभक्त गद्य - पद्यमयी रचना चम्पू है।[4] इसकी रचना संस्कृत भाषा में होती है। चम्पूकाव्य का उदाहरण वासवदत्ता अथवा दमयन्ती हैं। वाग्भट द्वितीय ने चम्पू का हेमचन्द्रसम्मत स्वरूप ही प्रस्तुत किया है।[5]

---

1. एकतरचरिताश्रयेण प्रसिद्धकथान्तरोपनिबन्ध उपकथा।
   वही, 8/8 वृत्ति।
2. लम्भांकिताद्भुतार्था नरवाहनदत्तादिचरितवद् बृहत्कथा।
   वही, 8/8 वृत्ति।
3. काव्यादर्श, 1/31
4. गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा चम्पूः।
   काव्यानु, 8/9
5. गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा चम्पूः।
   काव्यानु, वाग्भट, पृ. 19

अनिबद्ध - अनिबद्ध का अर्थ है जो निबद्ध न हो अर्थात् स्वतन्त्र। भामह ने इसे अनिबद्ध की संज्ञा ही दी है, किन्तु परवर्ती आचार्य दण्डी, आनन्दवर्धन, अग्निपुराणकार तथा विश्वनाथ आदि ने इसे मुक्तक कहा है। भामह वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति से युक्त गाथा अथवा श्लोकमात्र को अनिबद्ध मानते हैं।[1] दण्डी ने इसे (मुक्तक) और इसके अन्य भेद कुलक, कोश तथा संघात को भी सर्गबन्ध के अंश रूप में स्वीकार किया है।[2] इसी प्रकार वामन अग्नि के एक परमाणु की तरह अनिबद्ध रचना को शोभायमान नहीं मानते हैं[3], किन्तु आनन्दवर्धनने मुक्तक को विशेष महत्ता प्रदान की है। उनके अनुसार प्रबन्ध की तरह मुक्तक में भी रस का सन्निवेश करने वाले कवि दृष्टिगत होते हैं। यथा अमरुक कवि के मुक्तक शृंगार रस को प्रवाहित करने वाले प्रबन्ध की तरह प्रसिद्ध ही हैं।[4] उन्होंने अनिबद्ध के मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक तथा पर्यायबन्ध इन छः भेदों का उल्लेख किया है।[5]

---

1. काव्यालंकार, 1/30
2. काव्यादर्श, 1/13
3. काव्यालंकारसूत्र, 1/3/29
4. मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।
   - ध्वन्यालोक, 3/7 वृत्ति
5. वही, 3/7 वृत्ति

जैनाचार्य हेमचन्द्रानुसार मुक्तक आदि अनिबद्ध हैं।[1] आनंदवर्धन सम्मत अनिबद्ध के उक्त छः भेद इन्हें भी मान्य हैं। हेमचन्द्र ने वाक्यसमाप्ति को ध्यान में रखकर प्रत्येक का लक्षण करते हुए लिखा है कि एक छन्द में वाक्य समाप्त होने पर मुक्तक, दो में संदानितक, तीन में विशेषक, चार में कलापक, तथा पाँच से चौदह पर्यन्त छन्दों में वाक्य समाप्त होने पर कुलक कहलाता है।[2] अपने तथा दूसरे के द्वारा रचित सूक्तियों का संग्रह कोश है।[3] वाग्भट द्वितीय पांच से बारह छन्दों पर्यन्त वाक्य समाप्त होने पर कुलक मानते हैं।[4] शेष भेदों के लक्षण हेमचन्द्रसम्मत हैं।

ध्वनि के आधार पर काव्य-भेद:

आ. आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि की स्थापना के पश्चात् ध्वनि को आधार मानकर भी काव्य-भेदों की गणना होने लगी। सर्वप्रथम स्वयं ध्वनिकार ने तीन भेद किए —— ध्वनिकाव्य,[5] गुणीभूत-व्यंग्य[6] तथा

---

1. काव्यानुशासन, 8/10
2. काव्यानुशासन, 8/12
3. वही, 8/13
4. काव्यानु, वाग्भट, पृ. 16
5. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
   व्यंङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।
   ध्वन्यालोक, 1/13
6. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
   यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्।।
   वही, 3/35

चित्रकाव्य[1]। उन्होंने ध्वनि काव्य के भेद-प्रभेद एवं उदाहरण-प्रत्युदाहरण के माध्यम से विविध रूपों में प्रस्तुत किया है, गुणीभूत व्यंग्य काव्य का सामान्य विवेचन किया है तथा चित्रकाव्य के दो भेद किये हैं - शब्दचित्र तथा अर्थचित्र।[2] आचार्य मम्मट ने इसी आधार पर काव्य के तीन भेद किए हैं - उत्तम, मध्यम तथा अधम। वाच्य की अपेक्षा व्यंग्यार्थ जिसमें अधिक चमत्कारजनक हो वह उत्तम काव्य है।[3] व्यंग्यार्थ के वैसा चमत्कार जनक न होने पर गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यमकाव्य[4] तथा व्यंग्यार्थरहित शब्दचित्र तथा अर्थचित्र इन दो भेदों वाला अधमकाव्य है।[5] मम्मट के अनुसार मध्यमकाव्य के आठ भेद हैं - अगूढ, अपरांग, वाच्यसिद्ध्यंग, अस्फुट, संदिग्ध-प्रधान्य, तुल्य-प्रधान्य, काक्वाक्षिप्त तथा असुन्दर[6]।

---

1. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
   काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते।।
   वही, 3/42
2. ध्वन्यालोक, 3/43
3. इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैःकथितः
   काव्यप्रकाश, 1/4
4. अतादृशि गुणीभूतव्यंग्ये तु मध्यमम्।
   काव्यप्रकाश 1/5
5. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।।
   काव्यप्रकाश 1/15
6. वही, 5/45-46

आचार्य हेमचन्द्र ने भी काव्यानुशासन के द्वितीय अध्याय में ध्वनि (व्यङ्ग्य) के आधार पर काव्य के तीन भेद माने हैं — उत्तम, मध्यम तथा अवर। उनके अनुसार व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर उत्तमकाव्य होता है।[1] इसे व्याख्यायित करते हुए वे लिखते हैं कि जब वाच्य अर्थ से वस्तु-अलंकार एवं रस रूप व्यंग्य अर्थ की प्रधानता होती है तो वह उत्तम काव्य कहा जाता है। यथा -

वाल्मीक: किमुतोद्धृतो गिरिरियत्कस्य स्पृशेदाशयं
त्रैलोक्यं तपसा जितं यदि मदो दोष्णां किमेतावता।
सर्वं साध्वथ वा रूपत्सि विरहक्षामस्य रामस्य चेत्
त्वद्दन्ताङ्कितवालिकक्षरूधिरक्लिन्नाग्रपुङ्खं शरम्।।

यहाँ पर 'दन्ताङ्कित' इत्यादि पदों से बालि द्वारा पराभव को प्राप्त करके उसकी काँख मे दबाये जाते हुए चार समुद्रों तक भ्रमण उसका प्रतिकार न कर पाने पर भी इस प्रकार का अभिमान दर्प इत्यादि वस्तु अभिव्यक्त हो रही है।

व्यंग्य के असत्प्राधान्य, सन्दिग्धप्राधान्य व तुल्यप्राधान्य होने से उक्त नामों वाला तीन प्रकार का मध्यमकाव्य होता है।[2]

---

1. व्यंग्यस्य प्राधान्ये काव्यमुत्तमम्
   काव्यानु. 2/57
2. असत्संदिग्धतुल्यप्रधान्ये मध्यमं त्रेधा
   काव्यानु, 2/58

<u>असत्प्राधान्य</u> - उनके अनुसार व्यङ्ग्यार्थ का उत्कर्ष न होने पर असत्प्राधान्य नामक काव्य होता है।[1] यथा -

वाणीरकुडंगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणंतीए।
घरकम्मवावडाए बहूए सीयंति अंगाइं।।
वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं श्रृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यंगानि।।[2]

यहाँ पर "दत्तसंकेत कोई पुरूष लतागृह में प्रविष्ट हो गया" इस व्यंङ्यार्थ से "वधू के अंग शिथिल हो रहे हैं" - इस वाच्यार्थ की ही अतिशयता (प्रधानता) है।

(ख) <u>संदिग्ध प्रधान्य</u> - जहाँ पर वाच्यार्थ अथवा व्यंङ्ग्यार्थ की प्रधानता संदिग्ध होती है अर्थात् यह निश्चय नहीं हो पाता कि वाच्यार्थ प्रधान है अथवा व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है तो वह संदिग्ध प्राधान्य नामक मध्यम काव्य होता है। यथा -

महिलासहस्सभरिए तुह हियए सुदय सा अमायन्ती।
अणुदिणमणण्णकम्मा अंग तणुयं पि तणुएइ।।[3]

---

1. तत्रासत्प्राधान्यं क्वचिद्वाच्यादनुत्कर्षेण।
   काव्यानुशासन, 2/57 की वृत्ति
2. वही, पृ॰ 152
3. वही, पृ॰ 155

(महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ती।

अनुदिनमनन्यकर्मांगं तन्वपि तनयति।।)

यहाँ पर "वह नायिका अपने क्षीण अंगों को भी क्षीण बना रही है" यह वाच्यार्थ अथवा "अत्यधिक कृशता से कहीं वह मृत्यु को न प्राप्त कर ले, अतः दुर्जनता को छोड़कर उसको समय रहते मना लो" यह व्यंङ्ग्यार्थ प्रधान है, इस बात का निश्चय न हो पाने से यह संदिग्ध प्राधान्य व्यंङ्ग्य का उदाहरण माना गया है।

§ग§ तुल्य प्राधान्य - जहाँ पर व्यंङ्ग्यार्थ एवं वाच्यार्थ दोनों की समान प्रधानता होती है, वहाँ तुल्य प्राधान्य नामक मध्यम काव्य होता है। यथा -

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते।।[1]

यहाँ पर(क्रुद्ध हो जाने पर)परशुराम "सभी क्षत्रियों की भाँति राक्षसों का संहार कर देंगे" इस व्यंङ्ग्यार्थ एवं "क्रुद्ध हो जायेंगे" इस वाच्यार्थ की समान प्रधानता है।

---

1. काव्यानुशासन, पृ. 156

उन्होंने पुनः अतत्प्राधान्यकाव्य के चार उपभेद किए हैं- क्वचित्वाच्यादनुत्कर्ष, क्वचित्परांगता और क्वचिदस्फुटता और क्वचिदतिस्फुटता।[1] संदिग्धप्राधान्य व तुल्य प्राधान्य के कोई उपभेद नहीं किये हैं।

आ. हेमचन्द्र का काव्य-विभाजन आनन्दवर्धन और मम्मट के ही समान है, परन्तु मध्यमकाव्य के प्रभेदों में मम्मट तथा हेमचन्द्र में बहुत अंतर है। आ. हेमचन्द्र ने स्वसम्मत मध्यमकाव्य के तीन भेदों का प्रतिपादन करते हुए मम्मट सम्मत 8 भेदों का खण्डन किया है।[2]

§3§ <u>अधमकाव्य</u> - व्यंग्य से रहित काव्य को हेमचन्द्र ने अवर काव्य की संज्ञा दी है[3] तथा प्रायः सभी आचार्यों की भांति उन्होंने भी अवर (अधम) काव्य के दो भेद किये हैं —(1) शब्दचित्र और (2) अर्थ-चित्र।[4] शब्दगत तथा अर्थगत वैचित्र्य के पृथक् - पृथक् उदाहरण उन्होंने दिए

---

1. काव्यानुशासन, 2/57, वृत्ति
2. इति त्रयो मध्यमकाव्यभेदा न त्वष्टौ।
   वही, 2/57, वृत्ति
3. अव्यंग्यमवरम् - वही, 2/58
4. शब्दार्थवैचित्र्यमात्रं व्यंग्यरहितं अवरं काव्यम्।
   वही, 2/58 वृत्ति

हैं। यथा – शब्द – वैचित्र्य से युक्त काव्य –

"अघौघं नो नृसिंहस्य घनाघनघनध्वनिः।

हताद् द्युरूघुराघोषः सुदीर्घो घोरघर्घरः।।[1]

यहाँ पर अनुप्रास शब्दालंकार की प्रधानता होने से, शब्द वैचित्र्य मात्र से युक्त होने के कारण यह अधम काव्य का उदाहरण है।

अर्थवैचित्र्य युक्त काव्य, यथा –

ये दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र
क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च।
नीचाः सदैव सविलासमलीकलग्ना
ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति।।[2]

यहाँ उपमा श्लेषादि अर्थालंकार की प्रधानता है।

आ. हेमचन्द्र व्यंग्य रहित काव्य के संदर्भ में लिखते हैं कि यद्यपि काव्य के अन्त में सर्वत्र विभावादि रूप से रस में ही पर्यवसान होता है तथापि स्फुट रस का अभाव होने से अव्यंग्य अवर काव्य को कहा गया है।[3]

इस प्रकार आ. हेमचन्द्र ने ध्वनि को आधार मानकर काव्य का त्रिधा विभाजन काव्यानुशासन के द्वितीय अध्याय में ही प्रस्तुत कर दिया है। काव्यानुशासन के अष्टम अध्याय में जो काव्यभेदों का निरूपण

---

1. वही, पृ. 157
2. वही, पृ. 157-158
3. यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया रसपर्यवसानम्, तथापि स्फुटस्य रसस्यानुपलम्भादव्यंग्यमेतत्काव्यमुक्तम्।
काव्यानुशासन, पृ. 158

किया गया है उसका तात्पर्य प्रबन्धात्मक काव्य-भेदों से है।[1]

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी मम्मट - सम्मत उत्तम, मध्यम तथा अधम ये तीन काव्य-भेद ही किये हैं।[2] साथ ही इन्होंने मध्यम काव्य के, आ. मम्मट द्वारा स्वीकृत आठ उपभेदों का ही उल्लेख किया है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आनन्दवर्धन ने काव्य के जिन तीन भेदों का निरूपण किया है, उन्हें परवर्ती आचार्य विश्वनाथ[4] तथा पण्डितराज जगन्नाथ[5] को छोड़कर प्रायः अन्य सभी आचार्यों ने समान रूप से मान्यता प्रदान की है।

---

1. अथ प्रबन्धात्मककाव्यभेदानाह...।
   वही, पृ. 432

2. वाच्यवाचकयोरन्यद् विचित्रत्वं तिरोदधत्।
   व्यंजकत्वं स्फुरेद् यत्र तत् काव्यं ध्वनिरुत्तमम्।।
   अलंकारमहोदधि 1/15
   तयोर्यत्रान्यवैक्रियाद् व्यंजकत्वस्य गौणता।
   तन्मध्यमं गुणीभूतव्यंग्यं काव्यं निगद्यते।।
   वही, 1/16
   यत्र व्यंजनवैचित्र्यचारिमा कोऽपिनेक्ष्यते।
   काव्याध्वनि सदाऽध्वन्यैस्तत् काव्यमवरं स्मृतम्।।
   वही, 1/17

3. अगूढत्वास्फुटत्वाभ्यामसुन्दरतया तथा।
   सिद्धयंगत्वेन वाच्यस्य काक्वाक्षिप्ततयाऽपि च।।
   संदिग्धतुल्यप्राधान्यतयाऽन्यांगतयाऽपि च।
   गुणीभूतमपिव्यंग्यं यत् किंचिच्चारिमास्पदम्।।
   अलंकारमहोदधि 4/1-2

4. आ. विश्वनाथ ने काव्य के दो भेद माने हैं -
   काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यं चेति द्विधामतम्।
   साहित्यदर्पण, 4/1

5. पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के 4 भेद माने हैं-
   तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा ।
   - रसगंगाधर पृ. 21

जैनाचार्यों के अनुसार ध्वनि-भेद विवेचन

अलंकारशास्त्र के प्रारंभिक काल में ध्वनि - सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त नहीं थी। अतः उसकी प्रतिष्ठा आचार्य आनंदवर्धन ने की। पुनः 11वीं शता. ई. में आ. महिमभट्ट ने ध्वनि-सिद्धान्त को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार किया तथा ध्वनि का सयुक्तिक खण्डन किया। किन्तु परवर्ती आचार्य मम्मट व हेमचन्द्र ने महिमभट्ट के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त की पुनः प्रतिष्ठा की, जिससे ध्वनि सिद्धान्त को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने ध्वनि का लक्षण करते हुए लिखा कि मुख्य आदि (आदि पद से गौण और लक्ष्यार्थ) के अतिरिक्त प्रतीयमान व्यंग्यार्थ ध्वनि है।[1]

ध्वनि शब्द का प्रारंभ से ही -(1) सामान्यतः व्यंग्य अर्थ को समझाने के लिये एवं (2) काव्यविशेष को समझाने के लिये - इन दो अर्थों में व्यवहार होता रहा है। जैनाचार्यों ने प्रथम अर्थ को ही ध्यान में रखकर विवेचन किया है जबकि आनन्दवर्धन ने द्वितीय अर्थ को ध्यान में रखकर ध्वनि-स्वरूप निरूपण किया है।

---

1. मुख्याद्यतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यंग्यो ध्वनिः।
   काव्यानुशासन, 1/19

आनंदवर्धनने सर्वप्रथम ध्वनि के तीन भेदों – वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि व रसध्वनि को स्वीकार किया है। प्रथम दो भेद संलक्ष्य-क्रमव्यंग्य हैं और अंतिम भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य।

जैनाचार्य हेमचन्द्र[1] व आ. नरेन्द्रप्रभसूरि[2] ने भी सर्वप्रथम ध्वनि के वस्तु, अलंकार व रसध्वनि नामक उक्त तीन भेदों को स्वीकार किया है। आ. हेमचन्द्र ने वस्तुध्वनि के तेरह भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत किया है तथा यह सिद्ध किया है कि प्रतीयमानार्थ वाच्यार्थ से भिन्न व विविध प्रकार का हो सकता है।

उनके अनुसार कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होता है व प्रतीयमानार्थ निषेधरूप। यथा –

भम धम्मिय वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणइ कच्छकुडंगवासिणा दरियसीहेण ।।[3]

कहीं वाच्यार्थ निषेधपरक होता है व प्रतीयमानार्थ विधिरूप। यथा –

अत्था एत्थ तु मज्जई एत्थ अहं दियसयं पुलोएसु।
मा पहिय रत्तिअंधय सेज्जाए महं न मज्जिहसि।।[4]

---

1. अयं च वस्त्वलंकाररसादिभेदात्त्रेधा।
   काव्यानुशासन, पृ. 47
2. यद्यप्यनेकधा व्यंग्यं व्यंजकादिविभेदतः।
   तथापि वस्त्वलंकार-रसात्मत्वात् त्रिधैवतत्।।
   अलंकारमहोदधि, 3/6
3. काव्यानु. पृ. 47
4. वही, पृ. 53

कहीं मुख्यार्थ विधिपरक होता है और प्रतीयमानार्थ विध्यन्तर रूप। यथा -

बहलतमाहयराइं अज्ज पउत्थो पई घरं सुन्नं।
तह जग्गिज्ज सयज्झय न जहा अम्हे मुसिज्जामो।।[1]

कहीं वाच्यार्थ निषेध रूप होता है और प्रतीयमानार्थ निषेधान्तर रूप। यथा -

आसाइयं आपाएण जेत्तियं तेत्तियण बंधदिहिं।
ओरमसु वसह इण्हिं रक्खिज्जई गहवईच्छितं।।[2]

कहीं वाच्यार्थ न विधिरूप है और न निषेध रूप, फिर भी विधि की प्रतीति होती है, यथा -

महुएहिं किंव पंथियजई हरसि नियंसणं नियंबाओ।
साहेमि कस्स रन्ने गामो दूरे अहं एक्का ।।[3]

कहीं विधि व निषेध के न होने पर भी निषेध की प्रतीति होती है। यथा -

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम।
गच्छ वा तिष्ठवा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता।।[4]

---

1. वही, पृ. 53
2. वही. पृ. 54
3. काव्यानुशासन, पृ. 54
4. वही, पृ. 54

कहीं विधि व निषेध के रहने पर भी विध्यन्तर की प्रतीति होती है। यथा -

नियदइयदंसणुक्खित्त पहिय अन्नेण वच्चसु पहेण
गहवइवधूआ दुल्लंघवाउरा इह हयग्गामे।।[1]

कहीं विधि व निषेध से निषेधान्तर की प्रतीति होती है। यथा -

उच्चिणसु पडियकुसुमं मा धुण सेहालियं हलियसुण्हे।
एस अवसाणविरसो ससुरेण सुओ वलयसद्दो।।[2]

कहीं वाच्यार्थ विधि रूप होने पर भी अनुभयरूप प्रतीति होती है - यथा -

सपियं वच्च किसोयरि पए पयन्तेण ठवसु महिवट्ठे।
भज्जिहिसि वत्थयत्थणि विहिणा दुक्खेण निम्मविया।[3]

---

1. वही, पृ. 55
2. वही, पृ. 55
3. काव्यानुशासन, पृ. 55

कहीं वाच्यार्थ निषेधरूप होने पर भी प्रतीयमानार्थ अनुभयरूप होता है।

दे आ पसिअ निअत्तसु मुहससिजोण्हाविलुत्ततमोनिवहे।
अहिसारिआए विग्घं करेसि अण्णाणवि हयासे।।[1]

कहीं वाच्यार्थ के विधि व निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमानार्थ अनुभयरूप होता है। यथा -

वच्च मह्ं च्चिअ एक्काए होंतु नीसाससरोइअव्वाइं।
मा तुज्झ वि तीए विणा दक्खिण्णहयस्स जायंतु।।[2]

कहीं वाच्यार्थ के न विधि और न निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमानार्थ अनुभयरूप होता है। यथा -

पहमुहपसाहिअंगो निद्दाघुम्मंतलोअणो न तहा।
जह निव्वणाहरो सामलंग दूमेसि मह हिअयं।।[3]

कहीं वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ विभिन्न विषय वाला भी हो सकता है, यथा -

कस्स व न होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं।
सभमरपउमग्घाइरि वारिअवामे सहसु इण्हिं।।[4]

---

1. वही, पृ. 55
2. वही, पृ. 56
3. वही, पृ. 56
4. काव्यानुशासन, पृ. 57

इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने वाच्य से भिन्न स्वरूप वाली वस्तुध्वनि के तेरह उदाहरणों को प्रस्तुत कर ध्वनि का प्रबल समर्थन किया है।

अलंकारमहोदधिकार नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी ध्वनि की सिद्धि के लिये विधि से निषेध, निषेध से विधि, विधि से विध्यन्तर, निषेध से निषेधान्तर, विधि से अनुभय, निषेध से अनुभय, संशय से निश्चय, निन्दा से स्तुति और वाच्य से विभिन्न विषय रूप अनेक भेदों का सोदाहरण विवेचन किया है[1], जिनमें अधिकांशतः हेमचन्द्र सम्मत हैं।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य : संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के सामान्यतः तीन भेद माने जाते हैं— शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य, अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य तथा उभयशक्तिमूलक व्यंग्य। पर आचार्य हेमचन्द्र उभयशक्तिमूलक व्यंग्य को शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य से पृथक् नहीं मानते हैं क्योंकि वहां पर प्रधानरूपेण शब्द की ही व्यंजना होती है।[2] आ. नरेन्द्रप्रभसूरि[3] ने उक्त तीनों ही भेद स्वीकार किये हैं।

शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य : आ. हेमचन्द्र के अनुसार अनेकार्थक मुख्य शब्द का संसर्गादि नियामकों द्वारा अभिधा रूप व्यापार के नियंत्रित हो जाने पर

---

1. अलंकारमहोदधि, पृ. 116-118
2. काव्यानुशासन, पृ, 57
3. अलंकारमहोदधि, पृ. 116-118

मुख्य शब्द वस्तु व अलंकार का व्यंजक होता है, अतः शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य माना जाता है। इसी प्रकार अमुख्य अर्थात् गौण और लाक्षणिक का मुख्यार्थ बाधा आदि के द्वारा लक्षणारूप व्यापार के नियंत्रित हो जाने पर अमुख्य शब्द वस्तु का व्यंजक होता है, अतः वहाँ भी शब्द-शक्तिमूलक व्यंग्य होता है। ये दोनों पद और वाक्य के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं।[1] संसर्गादि का ज्ञान कराने हेतु हेमचन्द्र ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय से दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं —

> संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
> अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
> सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
> शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।[2]

<u>संसर्ग</u> : यथा - "वनमिदमभयमिदानीं यत्रास्ते लक्ष्मणान्वितो रामः"
यहाँ लक्ष्मण के योग से दशरथि राम व लक्ष्मण का ज्ञान हो रहा है।[3]

<u>विप्रयोग</u> : यथा - "बिना सीतां रामः प्रविशति महामोहसरणिम्"
यहाँ सीता के वियोग से दशरथि राम का ज्ञान हो रहा है।

---

1. काव्यानुशासन 1/23
2. वही, 1/23 वृत्ति। वाक्यपदीय 2/315-16
3. काव्यानुशासन, पृ. 64

साहचर्य - यथा - "बुधो भौमश्च तस्यो च्चैरनुकूलत्वमागतौ" यहाँ बुध और भौम के परस्पर साहचर्य से ग्रह - विशेष का ज्ञान हो रहा है।[1]

विरोध - यथा - "रामार्जुनव्यतिकर: साम्प्रतं वर्तते तयो:" यहां परस्पर विरोध से भार्गव व कार्तवीर्य का ज्ञान हो रहा है।[2]

अर्थ - (प्रयोजन) - यथा - "सैन्धवमानय, मृगयां चरिष्यामि" यहां प्रयोजन से अश्व का ज्ञान हो रहा है।[3]

प्रकरण - यथा - "अस्माद्भाग्यविपर्ययाद्यदि पुनर्देवो न जानाति तम्" यहाँ प्रकरण से अनेकार्थक देव शब्द युष्मद् (आप)अर्थ में नियंत्रित है। प्रकरण शब्द रहित होता है और अर्थ (प्रयोजन) शब्दवान्, यही इन दोनों में अन्तर है।[4]

लिंग (चिह्न)- यथा - "कोदण्डं यस्य गाण्डीवं स्पर्धते कस्तमर्जुनम्" यहां गांडीव इस लिंग (चिह्न) से अर्जुन का ज्ञान हो रहा है।[5]

---

1. वही, पृ. 64
2. वही, पृ. 64
3. वही, पृ. 64
4. वही, पृ. 64
5. वही, पृ, 64

शब्दान्तरसन्निधि – यथा – "किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृंगारिणः" यहाँ शृंगारी इस शब्दान्तर के संनिधान से देव का अर्थ कामदेव है।[1]

सामर्थ्य – यथा – "क्षपति मधुना मत्तश्चेतोहरः प्रिय कोकिलः" यहाँ सामर्थ्य से मधु का अर्थ वसन्त प्रतीत हो रहा है।[2]

औचित्य – यथा – "तन्व्या यत्सुरतान्तकान्तनयनं वक्त्रं रति व्यत्यये। तत्त्वा पातु चिराय....." यहाँ औचित्य के कारण पालन प्रसन्नतारूपी अनुकूलता अर्थ में नियंत्रित है।[3]

देश – यथा – "महेश्वरस्यास्य कापि कान्ति" यहाँ राजधानी रूप देश से राजा का बोध हो रहा है।[4]

काल – यथा – "चित्रभानुर्विभात्यह्नि" यहाँ काल विशेष से सूर्य का ज्ञान हो रहा है।[5]

व्यक्ति – यथा – "मित्रं हन्तितरां तमः परिकरं धन्ये दृशौ मादृशाम्" यहाँ व्यक्ति विशेष से मित्र शब्द सुहृद् अर्थ में नियंत्रित है।[6]

---

1. काव्यानुशासन, पृ. 64
2. काव्यानुशासन, पृ. 64
3. काव्यानुशासन, पृ. 63
4. काव्यानुशासन, पृ. 63
5. काव्यानुशासन, पृ. 63
6. वही, पृ. 65

उदात्त आदि स्वर से अर्थ विशेष का ज्ञान काव्य में अनुपयोगी है।[1] परन्तु काकु रूपी स्वर अपना पृथक् महत्व रखता है। जैसे – मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्" यहाँ काकु रूप स्वर से अर्थ विशेष का ज्ञान होता है।

आदि पद से अभिनय, अपदेश, निर्देश, संज्ञा, इंगित और आकार को ग्रहण किया गया है।[2]

अभिनय – यथा – "इतने बड़े स्तनों वाली, इतने बड़े नेत्रों से, मात्र इतने दिनो में, इस प्रकार हो गई।[3]

अपदेश – यथा – यहाँ से सम्पत्ति को प्राप्त किया हुआ वह राक्षस यहाँ ही विनष्ट होने योग्य नहीं है। विष-वृक्ष का भी पालन-पोषण कर उसे अपने द्वारा ही काटना उचित नहीं है।[4]

निर्देश – यथा – "राजकुमारीजी ! भाग्य से हम लोग ठीक हैं कि यहाँ पर ही कोई किसी का खड़ा है, यह हमको अंगुली के संकेत से कह रहे हैं।[5]

---

1. वही, पृ. 65
2. वही, पृ. 65
3. वही, पृ. 65
4. वही, पृ. 65
5. वही, पृ. 65

संज्ञा - यथा - "जब शिवजी वार्तालाप के प्रसंग में (पार्वती जी से) इधर-उधर की बातों का उत्तर माँगते तो पार्वती जी दृष्टि घुमाकर तथा सिर हिलाकर उत्तर देती थीं।[1]

इंगित - यथा - "हम लोगों का मिलन कब होगा इस प्रकार जनाकीर्ण के कारण कहने में असमर्थ नायक को जानकर नायिका ने क्रीडा-कमल को सिकोड़ दिया।[2]

आकार - यथा - अपने उष्ण निःश्वास पूर्वक जो निवेदन दिया है, उससे मेरा मन संशय को ही प्राप्त हो रहा है, क्योंकि तुम्हारे योग्य ही कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता है, पुनः जिसे तुम चाहती हो वह तुम्हे अलभ्य कैसे होगा?[3]

इस प्रकार संसर्गादि से नियंत्रित अभिधा में जो अर्थान्तर प्रतीति होती है, वह व्यंजना - व्यापार से ही होती है। अमुख्य शब्द में भी मुख्यार्थ - बाध आदि के नियंत्रित हो जाने पर प्रयोजन का बोध व्यञ्जना व्यापार से ही होता है।

---

1. वही, पृ. 66
2. वही, पृ. 66
3. वही, पृ. 66

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी भर्तृहरि की 'संसर्गो विप्रयोगश्च ...' इत्यादि उक्त कारिकाओं को उद्धृत कर के संसर्गादि के उदाहरण दिए हैं।[1]

हेमचन्द्राचार्य ने शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम तीन भेद किए है – मुख्य, गौण व लक्षक। पुनः मुख्यशब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के वस्तुध्वनि व अलंकारध्वनि – ये दो भेद कर दोनों के पृथक्-पृथक् पदगत व वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। शेष दो गौणशब्दशक्तिमूलकव्यंग्य और लक्षक-शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य भेदों के प्रभेद वस्तुध्वनि के पदगत व वाक्यगत उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम दो भेद किए हैं — वस्तुध्वनि व अलंकारध्वनि। पुन: दोनों में अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य व अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य – ये दो – दो भेद किए हैं। ये चारों पद व वाक्यगत भी होते हैं।

<u>अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य</u> – आ. हेमचन्द्र ने वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से अर्थ की भी व्यंजकता स्वीकार की[2] तथा वक्ता, प्रतिपाद्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यासक्ति, प्रस्ताव, देश, काल, व चेष्टा के वैशिष्टय से ध्वनित होने वाले अर्थ की मुख्य, अमुख्य व व्यंग्य रूपी अर्थ की व्यंजकता

---

1. द्रष्टव्य, अलंकारमहोदधि, 3/33-34 सवृत्ति

2. वक्त्रादिवैशिष्ट्यादर्थस्यापि व्यञ्जकत्वम्।
काव्यानुशासन, 1/29

का सोदाहरण वर्णन किया है।[1] इसी प्रकार वक्ता आदि दो (या अधिक) के योग से भी व्यंजकता स्वीकार की है।[2] नरेन्द्रप्रभसूरि ने हेमचन्द्र के समान ही वक्ता व बोद्धा आदि के वैशिष्ट्य से अर्थ की व्यंजकता को स्वीकार करते हुए सोदाहरण प्रतिपादन किया है[3] तथा वक्तादि दो (या अधिक) के योग से भी अर्थ की व्यंजकता स्वीकार की है।[4]

हेमचन्द्र ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के सर्वप्रथम दो भेद किए हैं — वस्तु और अलंकार। पुनः वस्तु के वस्तु से वस्तु और वस्तु से अलंकार तथा अलंकार के अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार नामक दो - दो भेद किए हैं। उनके अनुसार ये चारों भेद पद, वाक्य व प्रबन्धगत भी होते हैं।[5] आ. हेमचन्द्र ने अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के स्वतः संभवी, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्न और कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्न - इन तीनों भेदों का कथन उचित नहीं माना है, क्योंकि प्रौढोक्तिनिष्पन्नमात्र से ही

---

1. वही, 1/21, वृत्ति, पृ. 58-63
2. वही, पृ. 62
3. अलंकारमहोदधि, 3/7-8 वृत्ति।
4. वही, पृ. 52
5. काव्यानुशासन, 1/24 सवृत्ति

साध्य की सिद्धि हो जाती है। प्रौढोक्ति के अतिरिक्त स्वतः संभवी अर्थहीन है और कविप्रौढोक्ति ही कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति है, अतः उन्हें अधिक प्रपंच अभीष्ट नहीं है।[1] आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने अर्थशक्तिमूलक-व्यंग्य के सर्वप्रथम स्वतः सिद्ध और कवि प्रौढोक्तिसिद्ध – ये दो भेद किए हैं। पुनः प्रत्येक के वस्तु व अलंकार – ये दो भेद किए हैं। तत्पश्चात् वस्तु के वस्तु से वस्तु और अलंकार – ये तथा अलंकार के अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार नामक दो – दो भेद किए हैं।[2] उनके अनुसार ये आठों भेद पद, वाक्य और प्रबन्ध में समानरूप से पाये जाते हैं।[3]

<u>उभयशक्तिमूलक व्यंग्य</u> – हेमचन्द्राचार्य ने इसे शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य ही माना है। आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने उभयशक्तिमूलकव्यंग्य का वाक्यगत एक ही भेद माना है।[4]

<u>असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य</u> – जिस व्यंग्य के क्रम की प्रतीति न हो वह असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहलाता है। अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के मध्य में होने वाले समय का ज्ञान नहीं होता है। इसमें रसादि ही व्यंग्य होते हैं, अतः इसे रसध्वनि के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है।

---

1. वही, 1/24 वृत्ति, पृ. 72–74
2. अलंकारमहोदधि, 3/59–60
3. वही, 3/16
4. वाक्य एवोभयोत्थः स्यात् ... ।
   वही, 3/16

वस्तुतः रस की निष्पत्ति में विभावादि के क्रम की प्रतीति झटिति (शीघ्रता से) होने के कारण उसके क्रम का बोध नहीं हो पाता है। अतः इसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा गया है। इसको स्पष्ट रूप से समझने के लिए काव्य-शास्त्रियों ने "उत्पलशतपत्रभेदन्याय" का सहारा लिया है। अर्थात् जिस प्रकार सौ कमल - पत्रों के समूह में एक साथ सुई चुभाने से कमलपत्रों का क्रमेण ही भेद होता है, किन्तु शीघ्रता के कारण पूर्वापर की प्रतीति नहीं होती है। उसी प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में क्रम के होने पर भी भेद की प्रतीति नहीं होती है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के रसभावादि के भेद से अनन्त भेद संभव है, किन्तु आचार्यों ने अगणनीय होने से प्रायः एक ही भेद माना है।[1] इस सम्बन्ध में हेमचन्द्राचार्य का यह कथन है कि - रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भाव स्थिति, भावसन्धि, भावशबलता

---

1. काव्यप्रकाश, पृ, 162
   अलंकारमहोदधि, पृ. 103-104

आदि अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य हैं।[1] इस प्रकार उन्होंने रसादि को अर्थ-शक्तिमूलव्यंग्य ही माना है। 'रसादिश्च' इस सूत्र में चकार का ग्रहण पद, वाक्य व प्रबन्ध में समावेश के लिए किया गया है। रसादि सदा व्यंग्य ही होते हैं, वे कभी भी वाच्य नहीं होते हैं, इसलिये रसादि की प्रधानता बताने हेतु पृथक् सूत्र कहा गया है। क्योंकि वस्तु व अलंकार तो वाच्य भी होते हैं।[2]

इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने संक्षेप मे शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के 8 भेद और अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के 15 भेदों को मिलाकर ध्वनि के कुल 23 भेद कहे हैं। आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने रसादि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का अगणनीय एक ही भेद माना है।[3] पुनः यह पद, वाक्य, प्रबन्ध, पदान्त, रचना व वर्ण के भेद से छः प्रकार होता है।[4]

---

1. रसभावतदाभासभावशान्ति भावोदयभावस्थितिभावसन्धिभावशबलत्वानि अर्थशक्तिमूलानि व्यंग्यानि।
   काव्यानुशासन, 1/25
2. काव्यानु. 1/25
3. एकैव हि रसादीनामगण्यत्वाद् भिधा भवेत्।
   अलंकारमहोदधि, 3/16
4. वही, 3/62-63

आ. हेमचन्द्रकृत् ध्वनिविभाजन के स्पष्टीकरण हेतु निम्न तालिका द्रष्टव्य है --
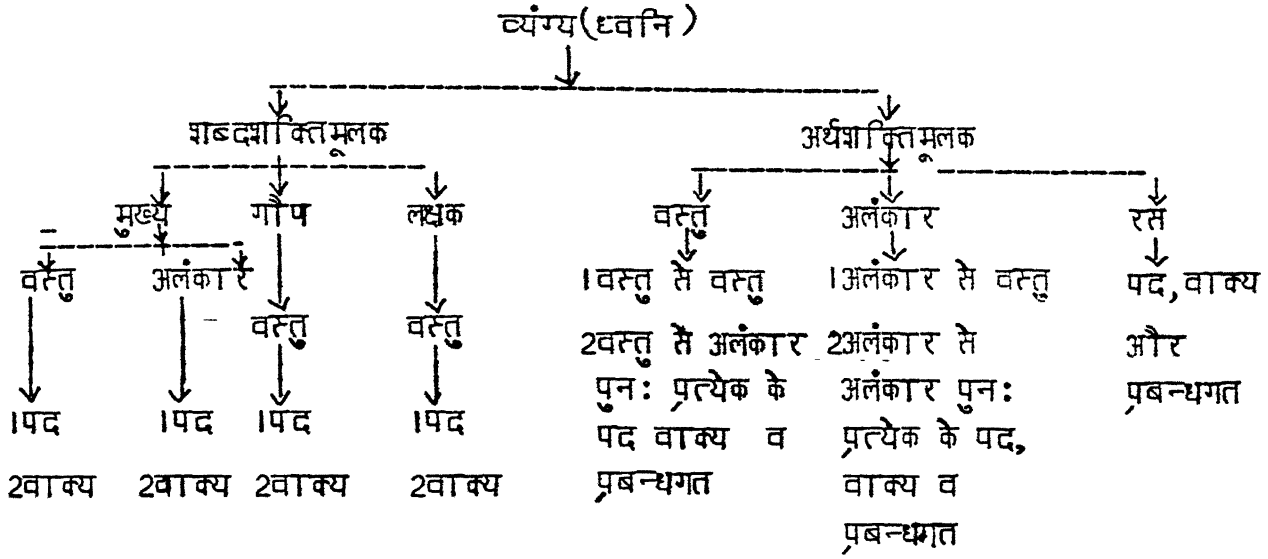
शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के 8 भेद

\+ अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य 15 भेद

वस्तु 6 + अलंकार 6

\+ रस 3 = 15

23 कुल ध्वनि भेद

इसी प्रकार आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार अब तक शब्दशक्तिमूलकव्यंग्य के 8 भेद, अर्थशक्तिमूलकव्यंग्य के 24 भेद और उभयशक्तिमूलकव्यंग्य का एक भेद मिलाकर संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के कुल 33 भेद हुए तथा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के छः भेद मिलाने पर 39 भेद। इन 39 भेदों की 39 के साथ संसृष्टि होकर 1521 भेद होते हैं। पुनः तीन प्रकार का संकर होकर 4563 भेद होते हैं। इस प्रकार 1521 संसृष्टि के और 4563 संकर के मिलाने पर 6084 मिश्रित भेद हुए। इनके 39 शुद्ध भेद मिला देने पर ध्वनि के कुल 6123 भेद होते हैं।[1]

---

1. संसृष्टेरेकरूपायास्त्रिरूपात् सङ्करादपि।
   सिद्धभिन्मीलनाच्च स्युस्ता विश्वार्क-रसोर्मिताः।।

   – वही, 3/64

इसके स्पष्टीकरण हेतु निम्न तालिका द्रष्टव्य है —
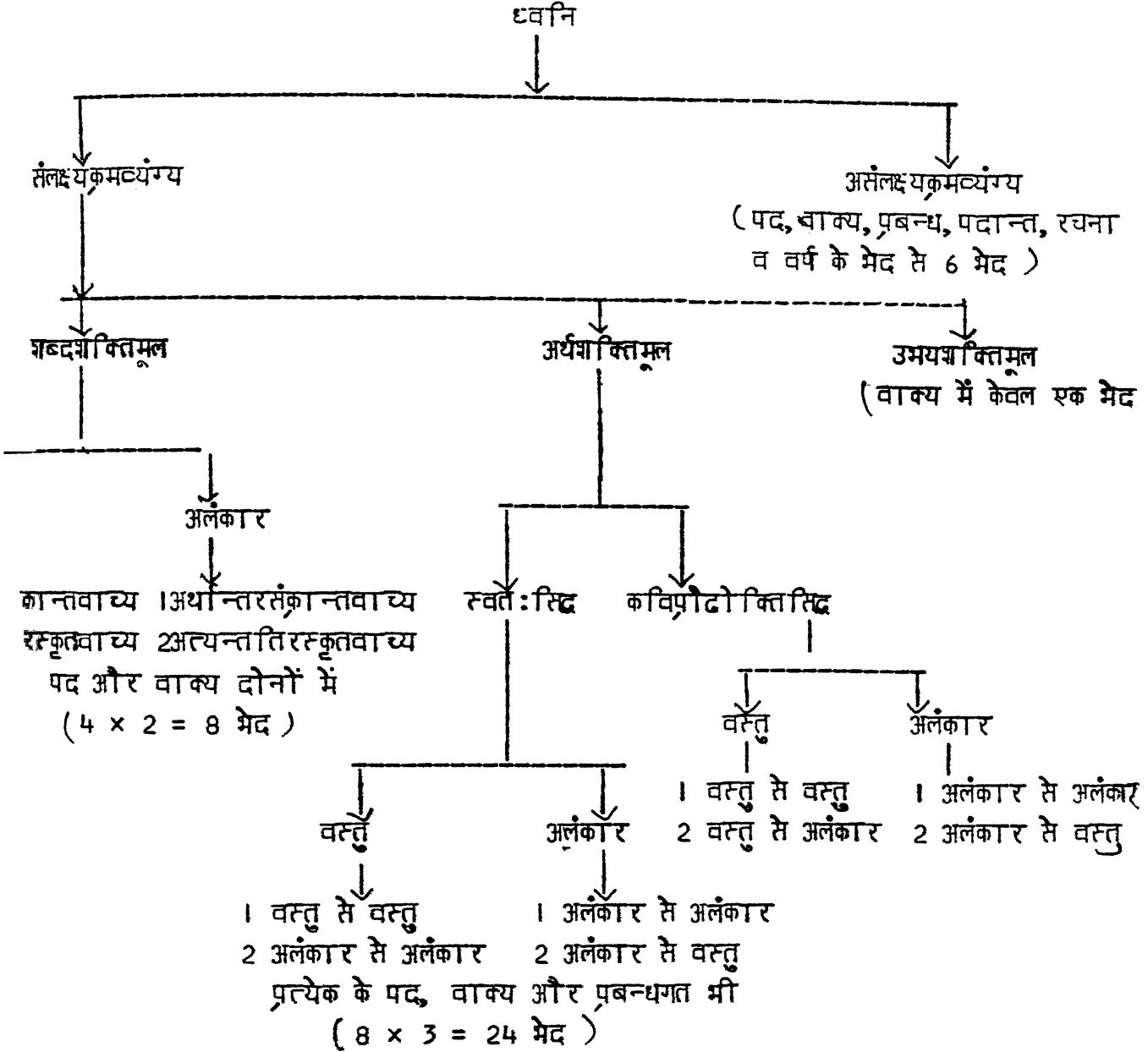
संलक्ष्यक्रमव्यंग्य भेद – 33
\+ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यभेद – 6

39 भेद

संसृष्टि 39 के साथ 39 की, 39 × 39 = 1521
संकर तीन प्रकार का, 1521 × 3 = 4563

6084 मिश्रित भेद
\+ 39 शुद्ध भेद

काव्य - हेतु

कवि की विलक्षण कृति इस काव्य का उद्भव कैसे होता है? कवि के व्यक्तित्व में कौन सी विशेष बात होती है जिससे सहृदयों को आह्लादित करने वाले काव्य का स्फुरण हो जाता है। इस प्रश्न का भारतीय काव्याचार्यों ने अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन किया है तथा काव्य-निर्माण के कारणों पर विचार करते हुए अलंकारिकों ने परस्पर विरोधी मत व्यक्त किए हैं तथा उनमें मतैक्य नहीं दृष्टिगत होता। संबद्ध विषय की दो प्रकार की विचार पद्धतियाँ प्रदर्शित होती हैं। एक मत के अनुसार काव्य का कारण एक मात्र प्रतिभा होती और व्युत्पति तथा अभ्यास उसके संस्कारक तत्व होते हैं, पर अन्य मत इस विचार का पोषक है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों समष्टिरूप से ही काव्य-निर्माण के हेतु हैं।

सर्वप्रथम आ. भामह ने काव्य - हेतुओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि गुरू के उपदेश से मूर्ख लोग भी शास्त्रों का अध्ययन करने में समर्थ हो सकते हैं पर काव्य तो किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति में यदाकदा स्फुरित होता है। काव्य - सर्जना हेतु व्याकरण, छन्द, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोकज्ञान, तर्कशास्त्र तथा कलाओं का काव्य-सर्जना हेतु मनन करना चाहिए। शब्द और अर्थ का विशेष रूप से ज्ञान करके काव्य-प्रणेताओं की उपासना तथा अन्य कवियों की रचनाओं को देखकर काव्य - सर्जना में

प्रवृत्त होना चाहिए।[1]

यहाँ भामहाचार्य ने काव्यहेतु के तीनों साधनों - प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का निरूपण किया है। उन्होंने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की अपेक्षा प्रतिभा पर अधिक बल दिया है। तात्पर्य यह है कि वे प्रतिभा को अनिवार्य व प्रमुख हेतु मानते हैं।

आ. दण्डी स्वाभाविक प्रतिभा, अत्यन्त निर्मल विद्याध्ययन एवं उसकी बहु - योजना को ही काव्य हेतु मानते हैं।[2] उन्होने भामह की

---

1. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
   काव्यं तु जायते जातु कथंचित् प्रतिभावताम्।।
   शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया: कथा:।
   लोको युक्ति: कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी।
   शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
   विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्य: काव्यक्रियादर:।।

   - काव्यालंकार, 1/15, 9-10

2. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
   अमन्दश्चाभियोगोऽस्या: कारणं काव्यसम्पद:।।

   - काव्यादर्श, 1/103

भाँति प्रतिभा पर अधिक बल न देकर तीनों का समान रूप से महत्त्व स्वीकार किया है। इसके ठीक आगे वह लिखते हैं कि यदि वह अद्भुत प्रतिभा न भी हो तो भी शास्त्राध्ययन व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से वाणी अपना दुर्लभ अनुग्रह प्रदान करती है। कवित्व शक्ति के कृश होने पर भी परिश्रमी व्यक्ति विद्वानों की गोष्ठी में विजय प्राप्त करता है।[1]

वामन ने काव्यहेतुओं के लिये काव्यांग शब्द का प्रयोग किया है। इनके अनुसार काव्य के तीन हेतु हैं – लोक, विद्या तथा प्रकीर्ण।[2] यहाँ लोक से तात्पर्य लोक-व्यवहार से है। विद्या के अन्तर्गत शब्दशास्त्र, छन्दःशास्त्र, कोश, दण्डनीति आदि विद्याएं आती हैं। प्रकीर्ण के अंतर्गत लक्ष्य ज्ञान, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभान तथा अवधान आते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि वामन ने प्रतिभा को कवित्व का बीज माना है, जिसके बिना काव्य-रचना संभव नहीं है और यदि संभव भी

---

1. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
   श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवंकरोत्येव कमप्यनुग्रहम्।।
   कृशेकवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।।
   वही, 1/104-105

2. लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्यांगानि
   – काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/3/1

है तो उपहासास्पद हो जाती है। परन्तु उन्होंने उसे वांछित गौरव नहीं दिया तथा प्रतिभा का उल्लेख काव्य के तृतीय अंग प्रकीर्ण के अन्तर्गत किया है।

आ. आनन्दवर्धन ने प्रतिभा का महत्व स्वीकार करते हुए लिखा है कि उस आस्वादपूर्ण अर्थतत्व को प्रकाशित करने वाली महाकवियों की वाणी अलौकिक स्फुरणशील प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है।[1] इतना ही नहीं उन्होंने अव्युत्पत्तिजन्य दोष को प्रतिभा के द्वारा आच्छादित होना भी स्वीकार किया है[2] अर्थात् आनन्दवर्धन प्रतिभा के प्रबल समर्थक हैं।

लोचनकार ने प्रतिभा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं।[3]

---

1. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।
– ध्वन्यालोक, 1/6

2. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते।।
– ध्वन्यालोक, 1/6

3. अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा (प्रतिभा)
– वही, लोचन, पृ. 17।

राजशेखर प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों को काव्य का श्रेयस्कर हेतु मानते हैं।[1]

आ. मम्मट ने प्राक्तन परंपराप्रवाह का समावेश करते हुए काव्य-कारण प्रसंग में लिखा है कि शक्ति, लोक(व्यवहार)शास्त्र तथा काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता तथा काव्य(की रचना-शैली तथा आलोचना पद्धति) को जानने वाले गुरू की शिक्षानुसार (काव्य - निर्माण)अभ्यास (ये तीनों) मिलकर समष्टि रूप से उस (काव्य)के विकास (उद्भव) के हेतु हैं।[2]

मम्मट ने अपने इन काव्यहेतुओं में 'हेतुः' इस एकवचन का प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास - ये तीनों मिलकर काव्योद्भव में हेतु हैं, पृथक् - पृथक् नहीं।[3]

---

1. प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यो इति यायावरीयः,
   - काव्यमीमांसा, अ. पृ. 3।

2. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
   काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।
   - काव्यप्रकाश, 1/3

3. इति त्रयः समुदिताः, न तु व्यस्ताः, तस्य काव्यस्योद्भवे
   निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।
   - काव्यप्रकाश, 1/3/ वृत्ति

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकार किया है तथा शेष व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को क्रमशः विशेष शोभाजनक तथा शीघ्र काव्य निर्माण में सहायक कहा है।[1] पुनः तीनों का स्वरूप निरूपित करते लिखा है कि – प्रसादादि गुणों वाले रमणीय पदों से, नवीन व चमत्कारपूर्ण अर्थ की उद्भावना करने में समर्थ तथा स्फुरणशीला, सत्कवि की सर्वतोमुखी बुद्धि का नाम प्रतिभा है।[2] गुरूपरम्परा से प्राप्त शब्दशास्त्र, श्रुति – स्मृति – पुराणादि धर्मशास्त्र तथा वात्स्यायन – प्रणीत कामसूत्रादि जो अनेक शास्त्र हैं उनमें परम्परा से प्रवृत्त रहने वाली असाधारण प्रतिपत्ति ही व्युत्पत्ति कही गयी हैं।[3]

---

1. प्रतिभाकारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
   भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसङ्कथा।।

   वाग्भटालंकार, 1/3

2. प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी।
   स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी।

   वही, 1/4

3. शब्दधर्मार्थकामादिशास्त्रेष्वाम्नायपूर्विका।
   प्रतिपत्तिरसामान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते॥

   वही, 1/5

तथा योग्य गुरू के चरणों में बैठकर निरन्तर अबाध गति से काव्य-रचना हेतु जो परिश्रम किया जाता है उसे "अभ्यास" कहते हैं।[1] इसमें अभ्यास के प्रकारों में बतलाया गया है काव्य - रचना हेतु सर्वप्रथम रमणीय सन्दर्भ का निर्माण करते हुए अर्थशून्य पदावली के द्वारा समस्त छन्दों को वश में कर लेना चाहिए।[2] आगे वे कहते हैं कि यद्यपि प्रारंभिक अभ्यास से काव्य में नूतन अर्थों की उद्भावना नहीं हो सकती किन्तु प्रतिदिन के वाग्व्यवहार में अर्थ - तत्वों के संग्रह का अभ्यास करना काव्य - रचना करने वालों के लिये आवश्यक है।[3]

---

1. अनारतं गुरूपान्ते यः काव्ये रचनादरः।
   तमभ्यासं विदुस्तस्य क्रमः कोऽप्युपदिश्यते।।
   - वही, 1/6

2. बिभ्रत्या बन्धचारूत्वं पदावल्यार्थशून्यया
   वशीकुर्वीत काव्याय छंदांसि निखिलान्यपि।।
   - वही, 1/7

3. अनुल्लसन्त्यां नव्यार्थयुक्तावभिनवत्वतः।
   अर्थसङ्कलनातत्त्वमभ्यस्येत्सङ्कथास्वपि ।।
   - वही 1/10

काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र के काव्य - हेतु सम्बन्धी विचार अपने पूर्ववर्ती आचार्यों - राजशेखर, आनन्दवर्धन और मम्मटादि से प्रभावित हैं। प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य के तीन हेतु - प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास माने हैं जिसमें किसी ने प्रतिभा को प्रधानता दी है तो किसी ने व्युत्पत्ति और अभ्यास को। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रधानरूप से प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकार किया है[1] तथा व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रतिभा का संस्कारक माना है।[2] प्रतिभा दो प्रकार की होती है --- (1) सहजा (जन्मजाता), और (2) औपाधिकी (कारणजन्य)।[3]

इनमें सावरण क्षयोपशम मात्र से होने वाली सहजा कहलाती है।[4] इसी को स्पष्ट करते काव्यानुशासनकार कहते हैं - आत्मा सूर्य के

---

1. प्रतिभास्य हेतुः ।

   - काव्यानुशासन, 1/4

2. व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।

   वही, 1/7

3. सा च सहजौपाधिकी चेति द्विधा।

   काव्यानुशासन 1/4 वृत्ति

4. सावरणक्षयोपशममात्रात् सहजा।।

   काव्यानुशासन, 1/5

समान स्वयंप्रकाश है। जिस प्रकार प्रकाशस्वभाव "सूर्य" के ऊपर आवरण के रूप में मेघपटल छा जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मों के सम्पादन के कारण प्रकाश – स्वभाव आत्मा के ऊपर अज्ञानावरण पड़ा रहता है जब इस अज्ञानावरण का नाश(क्षय)होता है अथवा इसका उपशम हो जाता है तब प्रतिभा स्वतः अपनी पूर्णविभूतियों के साथ आविर्भूत होती है। जब यह आविर्भाव स्वतः सम्पन्न होता है तो उसे सहजा प्रतिभा कहते हैं।[1] द्वितीय औपाधिकी प्रतिभा मन्त्रादि से उत्पन्न होने वाली है।[2] अर्थात् जब वाह्य उपायों, जैसे देवता की कृपा से, मंत्र के बल से, किसी महापुरूष के अनुग्रह से यह कार्य सम्पन्न होता है तो उसे औपाधिकी प्रतिभा कहते हैं।[3]

---

1. सवितुरिव प्रकाशस्वभावस्यात्मनोऽभ्रपटलमिव ज्ञानावरणीयाद्यावरणम्, तस्योदितस्य क्षयेऽनुदितस्योपशमे च यः प्रकाशाविर्भावः सा सहजा प्रतिभा।

   – काव्यानुशासन, 1/5, वृत्ति

2. मंत्रादेरौपाधिकी – वही, 1/6

3. मन्त्रदेवतानुग्रहादिप्रभवौपाधिकी प्रतिभा। इयमप्यावरणक्षयोपशमनिमित्ता, एवं दृष्टोपाधिनिबन्धनत्वात्तु औपाधिकीत्युच्यते।

   वही, 1/6, वृत्ति

चूँकि आ. हेमचन्द्र ने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रतिभा का संस्कारक माना है, अतः व्युत्पत्ति तथा अभ्यास काव्य के साक्षात् हेतु नहीं हैं, क्योंकि प्रतिभारहित व्युत्पत्ति तथा अभ्यास विफल देखे गये हैं।[1] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने यद्यपि दण्डी का साक्षात् उल्लेख नहीं किया है तथापि उक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने दण्डी के "न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना ... ।" इत्यादि कथन का खण्डन अवश्य किया है।[2]

व्युत्पत्ति का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए आ. हेमचन्द्र ने स्थावर-जंगमात्मक लोकवृत्त में शब्द, छन्द नाममाला, श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, आगम, तर्क, नाट्य, अर्थशास्त्रादि ग्रन्थों में तथा महाकवि

---

1. अतएव न तौ काव्यस्य साक्षात्कारणं प्रतिभोपकारिणौ तु भवतः। दृश्येते हि प्रतिभाहीनस्य विफलौ व्युत्पत्त्यभ्यासौ।

 वही, 1/7 वृत्ति

2. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान -

 डा. कमलेशकुमार जैन पृ. 75 से उद्धृत।

प्रणीत महाकाव्यों में निपुणता को ही व्युत्पत्ति कहा है।[1] अभ्यास का विवेचन करते वे लिखते हैं कि किसी काव्यवेत्ता के पास रहकर उसकी शिक्षा के द्वारा काव्य-रचना के लिये पुनः प्रयास करना ही अभ्यास है।[2] आ. हेमचन्द्र की मान्यता है कि अभ्यास द्वारा परिमार्जित की गई प्रतिभा काव्यरूपी अमृत को प्रदान करने वाली कामधेनु की भांति है।[3] इसकी पुष्टि हेतु उन्होंने आ. वामन का मत उद्धृत करते हुए

---

1. लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः।
लोके स्थावरजङ्गमात्मके लोकवृत्ते च शास्त्रेषु शब्दच्छन्दोनुशासनाभिधानकोश श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासागमतर्कनाट्यार्थं कामयोगादिग्रन्थेषु काव्येषु महाकवि प्रणीतेषु निपुणत्वं तत्त्ववेदित्व व्युत्पत्तिः लोकादि निपुणता।

   काव्यानु. 1/8 तथा वृति।

2. काव्यविच्छिक्षया पुनः पुनः प्रवृत्तिरभ्यासः
   वही, 1/9

3. अभ्याससंस्कृता हि प्रतिभा काव्यामृतकामधेनुर्भवति।
   वही, वृत्ति पृ. 14

लिखा है कि अभ्यास ही कर्म में कौशल लाता है। पत्थर पर गिराई गई जल की एक बूंद गहराई को प्राप्त नहीं होती, किन्तु वही बूंद बार-बार- गिराई जाय तो पत्थर पर भी गड्ढा कर देती है।[1]
आ. हेमचन्द्र ने अभ्यास के प्रसंग मे "शिक्षा" का जैसा विशद विवेचन सोदाहरण प्रस्तुत किया है, वैसा पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता। इसके लिये उनकी वृत्ति तथा टीका दोनों महत्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार विद्यमान होते हुए भी किसी वस्तु का वर्णन न करना, अविद्यमान का काव्य में निबन्धन कर देना, नियम (कवि समय आदि), छाया आदि का उपजीवन (ग्रहण) करना शिक्षा है।[2] इस प्रसंग में छाया का उपजीवन चार प्रकार से बतलाया गया है - (1) प्रतिबिम्बकल्पतया, (2) आलेख्यप्रख्यतया, (3) तुल्यदेहितुल्यतया तथा (4) परपुरप्रवेशप्रतिमतया। इनमे से ध्वन्यालोककार ने प्रथम तीन भेदों का संकेत किया है।[3] राजशेखर ने भी अपनी काव्य मीमांसा में इसकी संक्षिप्त चर्चा की है। आचार्य हेमचन्द्र ने आदिपद से पदपाद आदि का दूसरे काव्यों से औचित्य के

---

1. "अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहति। न हि सकृन्निपतितमात्रेणोद-बिन्दुरपि ग्रावणि निम्नतामादधाति" इति।

   - वही, पृ. 14

2. सतोऽप्यानबन्धोऽसतोऽपि निबन्धो नियमश्छायाद्युपजीवनादयश्च शिक्षा:।

   - काव्यानु, 1/10

3. ध्वन्यालोक 4/12-13

अनुसार ग्रहण करना, समस्यापूर्ति करना आदि को भी छाया का उपजीवन बतलाया है।[1]

आ॰ रामचन्द्र-गुणचन्द्र का दृष्टिकोण यद्यपि काव्य या नाट्य-हेतु का विस्तृत विवेचन करना नहीं है, तथापि प्रकारान्तर से ग्रन्थारम्भ में काव्यनाट्य-निर्माण पर चलता सा प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि जो कवि निर्धन से लेकर राजा तक की "औचिती" अर्थात् उनके सामान्य व्यवहार से अवगत न होते हुए भी काव्य - निर्माण की कामना करते हैं, वे विद्वज्जनों के उपहास के पात्र बनते हैं।[2] तथा जो नाटककार न तो गीत, वाद्य, नृत्य आदि जानते हैं, न लोकस्थिति से परिचित हैं, और न प्रबन्धों अर्थात्, नाटकों का अभिनय ही कर सकते हैं वे भी नाट्य-रचना के अधिकारी नहीं है।[3] यहाँ दो काव्यहेतुओं की प्रकारान्तर से चर्चा हुई है : गीत, वाद्य,

---

1. काव्यानुशासन, वृत्ति, 14, 16

2. आरंकाद भूपतिं यावदौचितीं न विदन्ति ये।
   स्पृहयन्ति कवित्वाय, खेलनं ते सुमेधसाम्।।

   नाट्यदर्पण, 1/8

3. न गीतवाद्यनृत्तज्ञाः, लोकस्थितिविदो न ये अभिनेतुं
   च कर्तुं च प्रबन्धांस्ते बहिर्मुखाः ।।

   नाट्यदर्पण, 1/4

नृत्त (नृत्य) अभिनय आदि का क्रियात्मक ज्ञान तथा रंक से राजा - पर्यन्त लोक - व्यवहार से परिचिति। इन दोनो हेतुओं को अधिकांश सीमा तक व्युत्पत्ति कह सकते हैं। पूर्ण सीमा तक इसलिये नहीं कि उन आचार्यों ने व्युत्पत्ति तथा निपुणता के अन्तर्गत लोक-व्यवहारज्ञान के अतिरिक्त काव्यग्रन्थों एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का पठन-पाठन भी सम्मिलित किया है। पर आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र के पूर्वोक्त कथन से यह नहीं समझना चाहिए कि उन्हें केवल व्यवहार - ज्ञान को ही काव्यहेतु मानना अभीष्ट होगा तथा शेष दो - प्रतिभा व अभ्यास को नहीं। नाट्यदर्पण के तृतीय विवेक में रस - विवेचन के प्रसंग में, नाट्यदर्पणकार कवि की शक्ति अर्थात्, प्रतिभा को ही काव्य का प्रधान हेतु मानते प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं कि जो कवि, नट आदि का शक्ति - कौशल है, ये चमत्कारविशेष ही कवि व सहृदयों की लेखन व प्रेक्षण प्रवृत्ति को प्रेरित करते हैं।[1]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि[2] एवं वाग्भट द्वितीय[3] हेमचन्द्राचार्य की भांति व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से संस्कृत प्रतिभा को ही काव्य का हेतु मानते हैं।

---

1. "... अनेनैव च सर्वांगह्लादकेन कविनट-शक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाःपरमानंदरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करूणादिषु सुमेधसः प्रतिजानीते । एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते।"
   नाट्यदर्पण, पृ. 29।
2. कारणं प्रतिभैवास्य व्युत्पत्यभ्यासवासिता।
   बीजं नवांकुरस्येव काश्यपी - जलसंगतम्।।
   अलंकारमहोदधि 1/6
3. व्युत्पत्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः -
   काव्यानुशासन - वाग्भट - पृ. 2

आचार्य भावदेवसूरि मम्मट का अनुसरण करते हुए प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के सम्मिलित रूप को काव्य का हेतु मानते हैं।[1]

पूर्वोक्त काव्य-हेतु विवेचन को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि भावदेवसूरि को छोड़कर अन्य उल्लिखित समस्त जैनाचार्यों ने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से संस्कृत प्रतिभा को ही काव्य-हेतु स्वीकार किया है। जिसका समर्थन परवर्ती विद्वान् पंडितराज जगन्नाथ ने किया है।

काव्य - प्रयोजन

काव्य - प्रयोजन - विचार की परम्परा अलंकारशास्त्र की एक प्राचीनतम परम्परा है। यहाँ "कला कला के लिये" की बात को नहीं माना गया और न आधुनिक उपयोगितावाद को ही काव्यभूमि में प्रतिष्ठित किया गया है अपितु काव्य के दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन माने गये हैं।

नाट्य के अथवा काव्य के प्रयोजन पर सर्वप्रथम भरतमुनि ने (तृतीय शताब्दी) विचार किया था। उनका कथन है कि लोक का

---

1. शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासस्तस्य हेतुरिति त्रयम्।
   काव्यालंकारसार 1/2

मनोरंजन व शोकपीड़ित तथा परिश्रान्त जनों को विश्रान्ति प्रदान करना[2] आगे उन्होंने धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि-वर्धन तथा लोकोपकारी उपदेश को नाट्य (काव्य) का प्रयोजन बताया है।[3]

भरतमुनि के पश्चात् ज्यों ज्यों साहित्यिक विवेचना का विकास होने लगा त्यों त्यों काव्य के प्रयोजन का भी विशद विवेचन किया गया। अलंकारिक आचार्य भामह के अनुसार सत्काव्य का अनुशीलन (1) धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक पुरूषार्थचतुष्टय एवं कलाओं में निपुणता, (2) यश प्राप्ति तथा (3) प्रीति का कारण है।[4] महाकवि

---

1. दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
   विश्रामजननं लोके नाटयमेतद् भविष्यति।।
   नाट्यशास्त्र 1/113
2. धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितंबुद्धिविवर्धनम्।
   लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ।।

   नाटयशास्त्र, 1/115
3. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
   प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।

   काव्यालंकार, 1/2

दण्डी ने काव्य-प्रयोजन की चर्चा अलग से न करके काव्य लक्षण में ही संक्षिप्त रूप से कर दी है। दण्डी ने भामह के द्वारा प्रतिपादित "चतुर्वर्गफलप्राप्ति" को ही काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है।[1] साथ ही उनका कथन है कि काव्य लोकरंजक होना चाहिए।[2] रीति-वादी आचार्य वामन ने भामह प्रतिपादित काव्य-प्रयोजनों में से केवल प्रीति तथा कीर्ति को ही काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है तथा प्रीति (आनन्दानुभूति) को दृष्ट प्रयोजन तथा कीर्ति (यश)को अदृष्ट प्रयोजन बतलाया है।[3] दृष्ट तथा अदृष्ट रूप में काव्य-प्रयोजन के विभाजन का श्रेय निश्चित ही वामन को है।

तदनन्तर ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन (9वीं शताब्दी) ने भी प्रीति को ही काव्य का प्रधान प्रयोजन स्वीकार किया - "तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्"[4] किन्तु ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन

---

1. काव्यादर्श, 1/15
2. लोकरञ्जनम् काव्यम् -
   वही, 1/19
3. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।
   काव्यालंकारसूत्र, 1/1/5
4. ध्वन्यालोकः 1/1

तथा आ. अभिनवगुप्त की "प्रीति" की व्याख्या रीतिवादी आचार्यों की वयाख्या से भिन्न है। यह तो उस विलक्षण आनन्द का नाम है जो सहृदयों के हृदय की अनुभूति का विषय है, अथवा रसवादी आचार्य जिसे रसास्वादन या रसानुभूति कहते हैं। ध्वनि-वादियों द्वारा प्रतिपादित काव्य के इस मुख्य प्रयोजन को बाद के आचार्यों ने अपना आदर्श वाक्य सा बना लिया। नवीन वक्रोक्तिवाद का उद्घाटन करते हुए भी आचार्य कुन्तक ने प्रीति को ही काव्य का महत्वपूर्ण प्रयोजन बताया जिसका अभिप्राय सहृदय का आह्लाद है।[1] इसी प्रकार रस-तात्पर्यवादी काव्याचार्य भोजराज (10वीं 11वीं शताब्दी) के अनुसार "कीर्ति" और "प्रीति" ही काव्य के तात्त्विक प्रयोजन हैं[2]। और "प्रीति" का अभिप्राय काव्यार्थतत्त्व की भावना से संभूत "आनन्द" है जैसा कि "सरस्वतीकण्ठाभरण" के व्याख्याकार रत्नेश्वर (14वीं शताब्दी) का विश्लेषण है।[3] आचार्य मम्मट ने

---

1. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
   काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।
   वक्रोक्तिजीवित, 1.4

2. कवि .... कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति
   सरस्वतीकंठाभरण, 1.2

3. प्रीतिः सम्पूर्णकाव्यार्थस्वादसमुत्थ आनन्दः,
   काव्यार्थभावनादशायां कवेरपि सामाजिकत्वांगीकारात्
   स. क. रत्नदर्पण – 1.2

काव्य-प्रयोजन-विषयक विभिन्नवादों का समन्वय करते हुए अधिकतम छः प्रकार के प्रयोजन स्वीकार किये हैं —(1) यश की प्राप्ति, (2) धनलाभ, (3) व्यवहारज्ञान, (4) अकल्याण का विनाश, (5) काव्यपाठ के साथ - साथ शीघ्र ही उच्चकोटि के आनन्द की प्राप्ति तथा (6) कान्तासम्मित उपदेश।[1]

ये विभिन्न आचार्यों द्वारा मान्य काव्य - प्रयोजन कुछ कवि के लिए हैं तथा कुछ पाठक के लिए। इसके अतिरिक्त कुछ प्रयोजन ऐसे भी हैं जो कवि तथा सहृदय दोनों को समान रूप से हितकारी हैं। यथा मम्मट - निर्दिष्ट अकल्याण का विनाशरूप प्रयोजन। इस प्रसंग में जैनाचार्यों द्वारा मान्य काव्य - प्रयोजन निम्न प्रकार हैं —

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने केवल यश को ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है[2] जो केवल कविनिष्ठ ही है जबकि अन्य समस्त आचार्यों ने प्रायः आनन्दरूप प्रयोजन को न केवल स्वीकार किया है, अपितु सर्वश्रेष्ठ तथा उभयनिष्ठ (कवि व सहृदय) भी घोषित किया है। अतः

---

1. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
   सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।
   काव्यप्रकाश, 1/2

2. काव्यं कुर्वीत कीर्तये।
   वाग्भटालंकार 1/3

प्रश्न उत्पन्न होता है कि आचार्य वाग्भट प्रथम ने आनन्दरूप प्रयोजन का उल्लेख क्यों नहीं किया? पर जहाँ तक वाग्भट – प्रथम द्वारा आनन्दरूप प्रयोजन के उल्लेख न करने की बात है उस सम्बन्ध में ये कहा जा सकता है कि उनके अनुसार पाठक का प्रयोजन पढ़ने के साथ ही स्वयंसिद्ध है अतः उसका कोई उल्लेख नहीं किया है। चूँकि कवि की रचना उसकी कीर्ति में प्रायः कारण होती है, अतः वाग्भट-प्रथम द्वारा यश को ही काव्य का प्रयोजन मानने का औचित्य ठहरता है।

आ. हेमचन्द्र ने मम्मट सम्मत छः काव्य-प्रयोजनों में से काव्य के तीन ही प्रयोजन स्वीकार किए हैं — आनन्द, यश तथा कान्ता-सम्मित उपदेश।[1] हेमचन्द्र के अनुसार आनन्द का अर्थ रसास्वाद से उद्भूत होने वाली वेद्यान्तर सम्पर्कशून्य ब्रह्मास्वाद सविध प्रीति है।[2] आनन्द को उन्होंने अन्य काव्य – प्रयोजनों का उपनिषद्भूत मुख्य प्रयोजन बताया है। क्योंकि यश तथा व्युत्पत्ति के द्वारा भी आनन्द का सम्पादन होता है। जैसा कि कहा गया है – "कीर्तिस्वर्गफलमाहुः"[3]

---

1. काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्योपदेशाय च।
   काव्यानुशासन, 1/3

2. सद्योरसास्वादजन्मा निरस्तवेद्यान्तरा ब्रह्मास्वादसदृशी प्रीतिरानन्दः।
   काव्यानु, 1/3 की वृत्ति

3. यशोव्युत्पत्तिफलत्वेऽपि पर्यन्ते सर्वत्रानन्दस्यैव साध्यत्वात्। तथाहि कवेस्तावत् कीर्त्यापि प्रीतिरेव संपाद्या । यदाह – (1)"कीर्तिः स्वर्गफलामाहुः।"
   काव्यानुशासनम्, विवेक टीका, पृ. 3

स्वर्ग से तात्पर्य आनन्द से है। चारो वर्गों की व्युत्पत्ति का भी पार्यन्तिक तथा मुख्य फल आनन्द ही है।[1] आ. हेमचन्द्र के अनुसार आनंद की प्राप्ति कवि तथा सहृदय दोनों को होती है।[2] सहृदयों को रसानुभूति होती है, इसे तो प्राय: सभी आचार्यों ने निर्विरोध स्वीकार किया है। रही बात कवि की तो कवि भी जब भावुक की स्थिति मे आता है तो उसे भी काव्य की भावना करने पर अलौकिकानन्द की अनुभूति होती है। अभिनव गुप्त ने भी लोचन के मंगलाचरण मे लिखा है - "सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि सहृदयाख्यं विजयते।" अर्थात् जिसका कवि तथा सहृदय में निरन्तर "ख्यान" अर्थात् स्फुरण होता है - वह सरस्वती का तत्त्व(काव्य) विजयी हो।

---

1. चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्य - फलमिति ।

   वही, विवेक टीका, पृ. 4

2. इदं सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूतं कविसहृदययो: काव्यप्रयोजनम्।

   वही, 1/3 वृत्ति

हेमचन्द्राचार्यानुसार यश: प्राप्ति केवल कवि को होती है।[1] सहृदयों को कान्तासम्मित उपदेश की प्राप्ति होती है। प्रभुसम्मित उपदेश शब्द प्रधान, मित्रसम्मित उपदेश अर्थप्रधान होता है तथा कान्ता-सम्मित उपदेश में शब्द तथा अर्थ दोनों का गुणीभाव होकर रस की प्रधानता हो जाती है। कान्ता की भांति रसप्रधान विलक्षण काव्य सरसता के सम्पादन द्वारा जो उपदेश प्रदान करता है, वही सहृदयों का प्रयोजन है।[2]

मम्मटादि ने जो धनागमादि को काव्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है, उसका खण्डन करते हुए हेमचन्द्र लिखते हैं कि धन प्राप्ति अनैकान्तिक है अर्थात् काव्य से धन प्राप्ति हो भी सकती है और नहीं भी। व्यवहारज्ञान शास्त्रों से भी संभव है तथा अनर्थ निवारण प्रकारान्तर मन्त्रानुष्ठान आदि से भी हो सकता है, अत: इनका

---

1. यशस्तु कवेरेव। यत् इयति संसारे चिरातीता अप्यद्य यावत् कालिदासादय: सहृदयै: स्तूयन्ते कवय:।
   वही, 1/3, वृत्ति

2. प्रभुतुल्येभ्य: शब्दप्रधानेभ्यो वेदागमादिशास्त्रेभ्यो मित्रसंमितेभ्यो - ऽर्थप्रधानेभ्य: पुराणप्रकरणादिभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावे रसप्राधान्ये च विलक्षणं काव्यं कान्तेव सरसतापादनेन संमुखीकृत्य रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत् इत्युपदिशतीति सहृदयानां प्रयोजनं।
   वही, 1/3, वृत्ति

हमने उल्लेख नहीं किया है।[1] किन्तु उनका यह तर्क समुचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि काव्य का प्रयोजन मम्मट के मत में धन ही न होकर धन भी है। डा. देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार अनैकान्तिकता का आधार लेकर हेमचन्द्र द्वारा स्वीकृत यश का भी खण्डन किया जा सकता है, क्योंकि यश का एकमात्र हेतु काव्य नहीं है।[2]

आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने ग्रन्थारम्भ में ही नमस्कारात्मक मंगलपरक श्लोक द्वारा ही नाट्य(काव्य)के प्रयोजन का उल्लेख कर दिया है|इन्होंने चतुर्वर्ग धर्मार्थकाममोक्ष फल वाला नाटक माना है।[3] इनके अनुसार जिस व्यक्ति के लिए जो पुरूषार्थ अभीष्ट है वही उसका प्रधान फल है, तदितर गौण फल है।[4] आगे वे कहते हैं कि यद्यपि

---

1. धनमनैकान्तिकं व्यवहारकौशलं शास्त्रेभ्योऽप्यनर्थनिवारणं प्रकारान्तरेणापीती न काव्यप्रयोजनतयास्माभिरूक्तम्: |

   वही, पृ. 5

2. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

   - पृ. 69

3. चतुर्वर्गफलां नित्यं जैनी वाचमुपास्महे।

   नाट्यदर्पण 1/1

4. इष्टलक्षणत्वाच्च फलस्य यो यस्य पुरूषार्थोऽभीष्ट: स तस्य प्रधानं, अपरो गौण:।

   नाट्यदर्पण 1/1 की वृत्ति

साक्षात्रूप से नाटकादि धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों में से ही किसी एक फल को ही प्रदान करने वाले होते हैं तथापि राम के समान आचरण करना चाहिए रावण के समान नहीं" इस प्रकार की हेय तथा उपोदय के परित्याग तथा ग्रहण परक होने से नाटकादि मोक्ष के प्रति भी परम्परया कारण हो सकते हैं। इसलिये भी मोक्ष को उनका फल कहा जा सकता है तथा धर्म के भी मोक्षजनक होने से परम्परा से मोक्ष भी नाटकादि का फल हो सकता है।[1] हाँ मोक्ष-प्राप्तिरूप फल धर्म की अपेक्षा गौण फल होता है।[2] आगे वे लिखते हैं कि नाटकादि नायक तथा प्रतिनायक के नीतिपरक तथा अनीतिपरक कार्य-फलों को दिखाकर प्रवृत्ति-निवृत्ति का उपदेश प्रदान करते हैं।[3]

---

1. यद्यपि साक्षात् धर्म-अर्थ-कामफलान्येव नाटकादीनि तथापि "रामवद् वर्तितव्यं न रावणवद्" इति हेयोपादेय - हानोपादानपरतया, धर्मस्य च मोक्षहेतुतया मोक्षोऽपि पारम्पर्येण फलम्।

   हि. ना. द., पृष्ठ 11

2. मोक्षस्तु धर्मकार्यत्वात् गौणं फलम्।

   ना. द. पृष्ठ 21

3. नायकप्रतिनायकयोर्हि नयानयफलोपदर्शनेन नाटकादिभि-र्दुदान्तचेतसां न्यायादनपेते कृत्ये प्रवृत्तिर्व्यवस्थाप्यते।

   ना. द. पृष्ठ 12

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने हेमचन्द्राचार्यसम्मत आनन्द, यश तथा कान्तासम्मित उपदेश के अतिरिक्त धर्म, अर्थ तथा कामरूप सातिशय (निरर्गल) त्रिवर्ग को काव्य-प्रयोजन माना है।[1]

आचार्य वाग्भट द्वितीय ने प्रमोद (हर्ष), अनर्थ-निवारण, व्यवहारज्ञान, त्रिवर्ग फल प्राप्ति, कान्तासम्मित उपदेश तथा कीर्तिरूप छः काव्य-प्रयोजनों को स्वीकार किया है।[2] भावदेवसूरि इष्ट तथा अनिष्ट का ज्ञान करके उसमें प्रवर्तन और निर्वतन, गुरु तथा मित्र के सदृश कार्य-साधक, कल्याणकारी यश तथा धन-प्राप्ति रूप प्रयोजन मानते हैं।[3]

---

1. अमन्दोद्गतिरानन्दस्त्रिवर्गश्च निरर्गलः।
   कीर्तिश्च कान्तातुल्यत्वेनोपदेशश्च तत्फलम्।।

   अलंकारमहोदधि, 1/5

2. काव्यम् । प्रमोदायानर्थपरिहाराय व्यवहारज्ञानाय
   त्रिवर्गफललाभाय कान्तातुल्यतयोपदेशाय कीर्तये च।

   काव्यानु. वाग्भट, पृ. 2

3. इष्टानिष्टेषु तज्ज्ञानं प्रवर्तन - निवर्तनात् काव्यं गुरु - सुहृत् -
   तुल्यं कार्य श्रेयो यशः श्रिये ।।

   काव्यालंकारसार1/2

पूर्वोक्त विभिन्न जैनाचार्यों द्वारा निरूपित काव्य-प्रयोजनों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि पुरूषार्थ – चतुष्टय जिसका सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भामह ने किया है, उसे जैनाचार्यों में नरेन्द्र-प्रभसूरि (त्रिवर्ग) तथा वाग्भट द्वितीय (त्रिवर्ग) ने भी मान्यता प्रदान की है। आचार्य हेमचन्द्र ने यद्यपि मम्मट सम्मत अर्थप्राप्ति आदि तीन प्रयोजनों का खण्डन किया है तथापि मम्मट की भांति आनन्दरूप प्रयोजन को सर्वश्रेष्ठ माना है। वाग्भट द्वितीय ने मम्मट के अर्थप्राप्ति के स्थान पर त्रिवर्ग फल – प्राप्ति रूप प्रयोजन माना है, शेष पाँच प्रयोजन मम्मट सम्मत ही है। भावदेवसूरि प्रायः मम्मट के समर्थक हैं।

अस्तु समस्त काव्य प्रयोजनों का सम्यकृतया विवेचन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि जैनाचार्यों ने पूर्वाचार्यों द्वारा कथित काव्य – प्रयोजनों को आधार मानकर अपना मत प्रस्तुत किया है तथापि वाग्भट-प्रथम द्वारा मान्य एकमात्र यशरूप प्रयोजन अपनी मौलिकता प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट स्वीकृत छः काव्य-प्रयोजनों में से तीन का खण्डन कर एक नवीन विचार प्रस्तुत किया है।

तृतीय अध्याय - जैनाचार्यों की दृष्टि में रसस्वरूप विवेचन

रस - सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यन्त प्राचीन तथा प्रतिष्ठित सिद्धान्त है। यह भारतीय साहित्यशास्त्र का मेरूदण्ड ही नहीं, उसकी महत्तम उपलब्धि भी है। सामान्यतः रस शब्द का प्रयोग श्रृंगारादि काव्यरस, कषाय, तिक्त, कटु आदि आस्वाद्य पदार्थ, घृतादि चिकने पदार्थ तथा विष, जल, निर्यास वृक्षों से चूने वाला तरल पदार्थ पारद, राग और वीर्य में होता है।[1] काव्यशास्त्र में रस शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में हुआ है, अतः जो आस्वादित हो वह रस है। काव्य के पठन, श्रवण या दर्शन से जिस आनंद का अनुभव होता है, वही आनन्द "रस" कहलाता है।

"नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" आचार्य भरत के इस कथन से रस का सर्वाधिक महत्व एवं काव्य तथा नाट्य में इसका अपरिहार्यत्व सुस्पष्ट हो जाता है। नाट्य की रचना को रसकल्लोलसंकुल होने के कारण ही कठिन कहा गया है[2] पर वह रस ही नाट्य या काव्य का प्राणभूत तत्व है अतएव रससिद्ध कवियों की सर्वत्र प्रशंसा की गई है। वही वास्तविक कवि है, तथा उसी के काव्य के पढ़ने से मर्त्यलोक के वासी मनुष्य भी काव्यरस रूपी सुधा का पान

---

1. श्रृंगारादौ कषायादौ घृतादौ च विषे जले ।
   निर्यासे पारदे रागे वीर्येऽपि रस इष्यते।।
   - जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान,
   पृ. 99 से उद्धृत

2. अलंकारमृदुः पन्थाः कथादीनां सुसञ्चरः।
   दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य रसकल्लोलसंकुलः।।
   - नाट्यदर्पण, 1/3

करने वाले बन जाते हैं, जिसकी वाणी रसोर्मियों में टकराती हुई नाट्य में नृत्य करती है।[1] नाट्य अथवा काव्य में वर्णित ज्ञात भी कथा, रसाश्रय से नवीन सी लगती है।[2] आचार्य मम्मट ने रसास्वादन से समुद्भूत विगलित वेद्यान्तर आनन्द को सकलप्रयोजनमौलिभूत कहा है।[3] रसादि के आश्रय से परिमित काव्यमार्ग भी अनन्तता को प्राप्त हो जाता है।[4] रसवादी एवं ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में रस को सर्वोच्च स्थान देते हुए इसकी प्रतिष्ठा काव्य की आत्मा के रूप में ही की है।[5] इसके अभाव में अलंकारादि

---

1. स कविस्तस्य काव्येन मर्त्या अपि सुधान्धसः।
   रसोर्मिघूर्णिता नाट्ये यस्य नृत्यति भारती ।।
   वहीं, 1/5

2. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
   सर्वे नवा इवा भान्ति मधुमास इव द्रुमाः।।
   ध्वन्यालोक 4/4

3. सकलप्रयोजमौलिभूतं समनन्तरमेवरसास्वादनसमुद्भूतं विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्।
   काव्यप्रकाश, पृ.

4. युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः।
   मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात्।।
   ध्वन्यालोक, 4/3

5. तेन रस एव वस्तुतः आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनिस्तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इतिअभिनवगुप्त,
   ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 85

से युक्त भी काव्य हास्यास्पद हो जाते हैं।[1] काव्य के ऐसे महत्वपूर्ण तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिये कवि का सर्वात्मना प्रयत्नशील होना सर्वथा अपेक्षित है।[2]

रस-सिद्धान्त का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है यद्यपि यह नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व अपने अस्तित्व में विद्यमान रहा है। पर भरतमुनि ने अब तक जो रस-स्वरूप अनिश्चिय के हिंडोले में इधर उधर झूल रहा था, उसे निश्चित स्थान पर बैठाकर रस को सुव्यवस्थित रूप से परिभाषित करते लिखा कि - "विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।[3]

रस-सिद्धान्त का यह प्रथम सूत्र उत्तरवर्ती आचार्यो के लिये आधार-शिला बना । इसमें प्रयुक्त "निष्पत्ति" शब्द को लेकर बहुत विवाद हुआ तथा परिणामस्वरूप भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद, शंकुक के अनुमितिवाद, भट्ट-नायक के भुक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद नामक सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ। इनकी विस्तृत व्याख्या अभिनवगुप्तकृत "अभिनवभारती" में

---

1. श्लेषालंकारभाजोऽपि रसानिस्यन्दकर्कशाः।
   दुर्भगा इव कामिन्यः प्रीणन्ति न मनो गिरः।।
   नाट्यदर्पण, 1/7
2. व्यंग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
   रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान् ।।
   ध्वन्यालोक 4/5
3. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, पृ. 7।

मिलती है। आचार्य मम्मट ने उसे अपने "काव्यप्रकाश" तथा आचार्य हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में परिष्कृत तथा समुचित रूप में समाहित किया है।[1]

उक्त चार आचार्यों में जहाँ अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत भरत रस-सूत्र की व्याख्या को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है वहीं भट्टलोल्लट की व्याख्या को हेय-दृष्टि से देखा गया। पर इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि रस-सूत्र की व्याख्या तथा रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का मार्ग भट्टलोल्लट ने ही खोला।

भट्टलोल्लट विभाव, अनुभाव तथा संचारिभाव के संयोग से रस की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत को मानने वाले उनके अतिरिक्त अन्याचार्य भी हैं।[2] भरत रस-सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार शंकुक के अनुसार सामाजिक अनुमान के द्वारा रसास्वादन करता है।[3] तृतीय व्याख्याकार है- भट्टनायक । इन्होंने भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है तथा निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति तथा संयोग का अर्थ भोज्यभोजकभाव सम्बन्ध किया है।[4] रस-सूत्र के चतुर्थ व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या में सामाजिक को रसानुभूति का आश्रय स्वीकार किया है तथा रस को अलौकिक आनन्दरूप कहा है।[5] आचार्य मम्मट ने रस-स्वरूप निरूपित करते लिखा है कि - लोक में जो

---

1. द्रष्टव्य - काव्यप्रकाश, वृ.पृ. 101-12, काव्यानु.टीका, पृ. 89-103
2. काव्यानुशासन, पृ, 89
3. काव्यानुशासन, पृ. 90-93
4. काव्यानुशासन, पृ. 96
5. काव्यानुशासन, पृ. 102

रति आदि स्थायीभावों के कारण, कार्य तथा सहकारिभाव पाये जाते हैं, वे ही यदि नाट्य या काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव कहलाते हैं और उन्हीं विभावादि भावों से अभिव्यक्त होने वाला रत्यादिरूप स्थायिभाव रस कहलाता है।[1]

जैनाचार्यों के रस-स्वरूप का उपजीव्य प्रायः भरत रस-सूत्र ही रहा है। आचार्य वाग्भट प्रथम रस की महत्ता प्रतिपादित करते अपने ग्रन्थ में लिखते हैं कि जिस प्रकार उत्तम रीति से पकाया हुआ भोजन भी नमक के बिना स्वादहीन रहता है उसी प्रकार रसहीन काव्य भी अनास्वाद्य होता है।[2] इसी क्रम में वे रस को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और सात्त्विक भावों से परिपोष को प्राप्त करवाये गये स्थायिभाव को रस कहते हैं।[3]

आचार्य हेमचन्द्र भरत रस-सूत्र व उसके व्याख्याकार आ. अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुए रस को परिभाषित करते लिखते हैं कि - विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त स्थायिभाव ही "रस" कहलाता है।[4] वृत्तिमें

---

1. काव्यप्रकाश, 4/27-28
2. साधुपाकेऽप्यनास्वाद्यं भोज्यं निर्लवणं यथा।
   तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसानिह।।
   वाग्भटालंकार, 5/1
3. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
   आरोप्यमाण उत्कर्षं स्थायी भावो रसः स्मृतः।।
   वही, पृ.5/2
4. विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्तः स्थायी भावो रसः।
   काव्यानुशासन 2/1

रस-सूत्र को व्याख्यायित करते वे लिखते हैं कि - वाचिक आदि अभिनयों से युक्त जिनके द्वारा स्थायी और व्यभिचारिभाव विशेष रूप से जाने जाते हैं वे काव्य और नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध ललना, आदि आलम्बन और उद्यानादि उद्दीपनस्वभाव वाले विभाव कहलाते हैं। स्थायिभाव और व्यभिचारिभाव रूप चित्तवृत्ति विशेष का अनुभव करते हुए सामाजिक लोग जिन कटाक्ष व भुजाक्षेप आदि द्वारा साक्षात्कार करते हैं तथा जो कार्यरूप में परिणत होते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं। विविध रूप से रस की ओर उन्मुख होकर विचरण करने वाले धृति, स्मृति आदि व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। ये विभावादि स्थायिभाव के अनुमापक होने से लोक में कारण, कार्य व सहकारी शब्दों से सम्बोधित किये जाते हैं। ये मेरे हैं, ये दूसरे के हैं, ये मेरे नहीं है, ये दूसरे के नहीं है। इस प्रकार सम्बन्ध विशेष को स्वीकार अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण रूप से प्रतीत होने वाले तथा विभावादि से अभिव्यक्त होने वाले सामाजिकों में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायि-भाव हैं। यह स्थायिभाव नियत प्रमाता (सहृदय विशेष) में स्थित होने पर भी विभावादि के साधारणीकरण के कारण सभी सहृदयों की समान अनुभूति का विषय बना हुआ, आस्वादमात्र स्वरूप वाला, विभावादि की भावना पर्यन्त रहने वाला, अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने के कारण परब्रह्मास्वाद-सहोदर तथा निमीलित नेत्रों से कवि व सहृदयों द्वारा आस्वाद्यमान, स्वसंवेदन सिद्ध रस कहलाता है।[1]

---

1. वही, 2/1 वृत्ति

आचार्य हेमचन्द्र ने रस को अलौकिक कहा है। उसकी अलौकिकता सिद्ध करते वे लिखते हैं कि विभावादि के विनाश होने पर भी रस की स्थिति संभव होने से वह रस विभावादि का कार्य नहीं है और उस सिद्धरस का अनुभव के पूर्व अभाव होने से वह रस ज्ञाप्य भी नहीं है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र का उक्त कथन आचार्य मम्मट के कथन से शब्दशः मिलता है।[2] दोनों ही आचार्यों का मन्तव्य है कि यदि रस को विभावादि (कारणों) का कार्य मान लें तो विभावादि ही उसके कारण कहे जायेंगे और लोक में जैसे दण्ड चक्रादि कारण के नष्ट होने पर भी घटरूप कार्य बना ही रहता है वैसे काव्य में विभावादि कारण के न रहने पर रस रूप कार्य नहीं रह सकता है। अतः रस को विभावादि के कार्य रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

इसी प्रकार रस ज्ञाप्य भी नहीं है क्योंकि उस सिद्ध रस के अनुभव होने के पूर्व उस रस का अभाव रहता है। यथा-घटादि पदार्थ अँधेरे में रहते हैं तभी तो दीपकादि के द्वारा प्रकाश्यमान होने पर ज्ञाप्य होते हैं। उनका पहले से अभाव हो तो दीपकादि के द्वारा वह कैसे ज्ञाप्य हो सकते हैं। अर्थात नहीं हो सकते। इस प्रकार की स्थिति रस के विषय में नहीं है। क्योंकि विभावादि के पूर्व रस की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। विभावादि के

---

1. स च न विभावादेः कार्यस्तद्विनाशेऽपि रससंभवप्रसंगात। नापि ज्ञाप्यः।सिद्धस्य तस्याभावात्।
   काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 103
2. तुलनीय, काव्यप्रकाश, वृत्ति, पृ. 110

चर्वणायोग्य होने पर, रसास्वादन के समय ही उसकी सत्ता रहती है।[1] उनका कथन है कि यदि कोई कहता है कि लोक में कारक और ज्ञापक हेतुओं के अतिरिक्त अन्य कौन सा हेतु देखा गया है तो इसका उत्तर है कि कहीं नहीं। यह तो रस के अलौकिकत्व की सिद्धि में भूषण ही है, दूषण नहीं है।[2]

आचार्य हेमचन्द्र की मान्यता है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव ये तीनों सम्मिलित रूप से रस के व्यंजक होते हैं, अलग-अलग नहीं क्योंकि अलग-अलग हेतु मानने पर व्यभिचार दोष उत्पन्न होगा।[3] भाव ये है कि किसी भी विभाव आदि का किसी एक रस के साथ नियत साहचर्य नहीं होता। यथा "व्याघ्र" आदि विभाव भयानक रस के समान वीर, अद्भुत और रौद्ररस के भी होते हैं। अश्रुपात आदि अनुभाव करूण के समान शृंगार व भयानक रस के भी होते हैं। इसी प्रकार चिन्ता आदि व्यभिचारिभाव करूण के समान शृंगार, वीर व भयानक रस के भी होते हैं।[4]

---

1. विभावादिभावनावधिरलौकिकचमत्कारकारितया .... इत्यादि।
   काव्यानु, वृत्ति, पृ. 88
2. कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्वदृष्टमिति चेन्न क्वचिद्दृष्टमित्यलौकिकत्व सिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्।
   वही, वृत्ति ., पृ. 103, तुलनीय काव्यप्रकाश अ.4
3. विभावादीनां च समस्तानामभिव्यञ्जकत्वं न व्यस्तानाम् व्यभिचारात्
   (काव्यानु, वृत्ति, पृ, 103)
4. व्याघ्रादयो हि विभावा भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणाम्। अश्रुपातादयोऽनुभावा: करूणस्येव शृंगारभयानकयोश्चिन्तादयो व्यभिचारिण: करूणस्येव शृंगारवीरभयानकानाम्।
   वही, वृत्ति, पृ, 103
   तुलनीय: काव्यप्रकाश, वृत्ति पृ. 113

इसलिये विभावादि को व्यस्त(अलग-अलग)रूप से रसाभिव्यक्ति का कारण मानना असंगत है, जबकि इन्हें सम्मिलित रूप से कारण मानने पर कोई दोष नहीं रह जाता है। जैसे – प्रियमरण आदि विभावरोदन आदि अनुभाव एवं चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव ये तीनों मिलकर करूण रस की ही अभिव्यक्ति करते हैं, अन्य रस की नहीं। इसलिये इन तीनों को समस्त रूप में रसाभिव्यक्ति का हेतु माना गया है, व्यस्त रूप में नहीं। यदि काव्य में कहीं विभावादि (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव) में से किसी एक अथवा दो का ही वर्णन होता है तो भी अन्य एक अथवा दो भावों का आक्षेप उपचार से कर लिया जाता है।[1] उदाहरणार्थ "केलीकन्दलितस्य[2].." इत्यादि में केवल सुन्दरी रूप आलम्बन विभाव का ही वर्णन है, किन्तु यह विभाव अन्य अनुभाव व व्यभिचारि भावों को आक्षिप्त करके सम्मिलित रूप से ही रसाभिव्यक्ति का हेतु बनता है। इसी प्रकार "यद्विश्रम्य[3]..." इत्यादि मे देखने की विचित्रता, अंगों की कृशता, वैवर्ण्य आदि अनुभावों का वर्णन किया गया है, अन्य विभाव व व्यभिचारी भावों का आक्षेप से बोध होता है तथा 'दूरादुत्सुकमागते...[4]" इत्यादि में औत्सुक्य, लज्जा, हर्ष, क्रोध, अनसूया व प्रसाद आदि व्यभिचारिभावों का ही वर्णन है, फिर भी उनके (व्यभिचारी भावों के) औचित्य से अन्य दो भावों (विभाव, अनुभाव) का आक्षेप हो जाता है।

---

1. वही, टीका, पृ. 105
2. वही, पृ, 104
3. वही, पृ. 104
4. वही, पृ, 104

इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव मिलकर रसाभिव्यक्ति करते है, इस नियम में कोई व्यभिचार नहीं होता है।

आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र की रसस्वरूप विषयक मान्यता अन्य सभी आचार्यों से विलक्षण है। उनके अनुसार विभाव और व्यभिचारीभाव आदि के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त होने वाला तथा स्पष्ट अनुभावों के द्वारा प्रतीत होने वाला, स्थायिभाव (रूप ही) सुखदुःखात्मक रस होता है।[1] प्रस्तुत स्वरूप की व्याख्या में प्रतिक्षण उदय और अस्त धर्म वाले अनेक व्यभिचारिभावों में जो अनुगतरूप से अवश्य विद्यमान रहता है वह "स्थायिभाव" कहलाता है। अर्थात् स्थायिभाव के रहने पर ही उसके रहने तथा न रहने पर व्यभिचारिभावों के न रहने से व्यभिचारिभावरूप ग्लानि के प्रति रत्यादि निश्चित रूप से स्थायिभाव होता है। उपर्युक्त व्यभिचारिभाव आदि सामग्री के द्वारा परिपाक को प्राप्तकर रसरूप रत्यादि "भवतीति भावः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार भाव कहलाता है। विभावों अर्थात् ललना उद्यानादि आलम्बन व उद्दीपन विभावरूप वाह्य कारणों द्वारा पहले से विद्यमान स्थायिभाव का ही अविर्भाव होने से तथा सहृदयों के मन में विद्यमान ग्लानि आदि व्यभिचारिभावों के द्वारा परिपुष्ट होने के कारण, उत्कर्ष को प्राप्त अर्थात् साक्षात्कारात्मक अनुभूयमानावस्था को प्राप्त, यथासंभव सुख-दुःखोभयात्मक,

---

1. स्थायी भावः श्रितोत्कर्षो विभाव-व्यभिचारिभिः।
   स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रसः।।
   हिन्दी नाट्यदर्पण 3/7

"रस्यते इति रसः" इस व्युत्पत्ति से आस्वाद्यमान होने से वही स्थायिभाव रस कहलाता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यदर्पणकार रस को सुख-दुःखरूप उभयात्मक मानते हैं। अतः यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वे सम्पूर्ण नौ रसों को सुख-दुःखात्मक मानते हैं? अथवा कुछ रसों को सुखात्मक मानते हैं तथा कुछ को दुःखात्मक। इसी को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि इष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप सम्पत्ति को प्रकाशित करने वाले श्रृंगार, हास्य वीर, अद्भुत तथा शान्त ये पाँच सुखात्मक रस हैं तथा अनिष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप लाभ करने वाले करूण, रौद्र वीभत्स तथा भयानक ये चार दुःखात्मक रस हैं।[2] उनका कथन है कि कुछ आचार्यों के द्वारा जो सब रसों को सुखात्मक बतलाया गया है व प्रतीति के विपरीत है। क्योंकि वास्तविक करूपादि विभावों की तो बात ही जाने दो, उससे तो दुःख होगा ही, किन्तु काव्य नाटक आदि में नटों के द्वारा अवास्तविक रूप में प्रदर्शित अभिनय में प्राप्त विभावादि से उत्पन्न भयानक, वीभत्स, करूप अथवा रौद्र रस का आस्वादन करने वाला व्यक्ति अवर्णनीय कष्ट का अनुभव करता है। अतएव भयानकादि दृश्यों से सामाजिक उद्विग्न हो जाते हैं। यदि सब रस सुखात्मक ही होते तो सुखास्वाद से किसी को उद्वेग नहीं होता है, इसलिए करूपादि रस दुःखात्मक ही होते हैं। और जो इन

---

1. हिन्दी नाट्यदर्पण, 3/7 वृत्ति ।
2. इष्टविभावादिग्रथितस्वरूपसम्पत्तयः श्रृंगार-हास्य-वीर अद्भुत-शान्ताः सुखात्मानः। अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करूप-रौद्र-वीभत्स-भयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः।
   हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ. 290

करूणादि रसों से भी सहृदयों में चमत्कार दृष्टिगत होता है, वह रसास्वाद के समाप्त हो जाने पर यथास्थित जैसे-तैसे पदार्थों को दिखलाने वाले कवि तथा नट के शक्ति कौशल से होता है क्योंकि वीरता के अभिमानी जन भी एक ही प्रहार में सिर को काट डालने वाले, प्रहार-कुशल शत्रु के कौशल को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। और इसी सर्वांग आनन्दानुभूति से कवि और नटगत शक्ति से उत्पन्न चमत्कार के द्वारा ठगे हुए से विद्वान् दुःखात्मक करूणादि रसों में परमानन्दरूपता का अनुभव करते हैं। इसी आस्वाद के लोभ से दर्शक भी इनमें प्रवृत्त होते हैं।[1] कविगण तो सुख दुःखात्मक संसार के अनुरूप ही रामादि चरित्र की रचना करते समय सुख-दुःखात्मक रसों से युक्त ही काव्य नाटकादि की रचना करते है और जिस प्रकार पानक-रस का माधुर्य तीक्ष्ण आस्वाद से और अधिक अच्छा लगता है, उसी प्रकार करूणादि दुःख प्रधान रसों में दुःख के तीखे आस्वाद से मिलकर सुखों की अनुभूति और भी अधिक आनन्ददायिनी बन जाती है। नाटकादि में सीता के हरण, द्रौपदी के केश एवं वस्त्राकर्षण, हरिश्चन्द्र की चाण्डाल के यहाँ दासता, रोहिताश्व के मरण, लक्ष्मण के शक्ति-भेदन, मालती के मारने के उपक्रम आदि के अभिनय को देखने वाले सहृदयों को सुखास्वाद कैसे हो सकता है।[2] अतः करूणादि रसों को सुखात्मक मानना उचित नहीं है। इसी के समर्थन में आगे युक्ति देते कहते हैं कि नट के द्वारा करूणादि प्रसंगों में किया जाने वाला अभिनय दुःखात्मक ही है। यदि अनुकरण में उसे सुखात्मक मानेंगे तो वह सम्यक् अनुकरण नहीं होगा।

---

1. हिन्दी नाट्यदर्पण, 3/7 वृत्ति
2. हि. नाट्यदर्पण 3/7 वृत्ति

अपितु विपरीत होने से आभास हो जायेगा। जो इष्टजनों के वियोग से दु:खी व्यक्तियों के सामने करूणादि के वर्णन अथवा अभिनय से सुखानुभूति होती है, वह भी यथार्थ में दु:खानुभूति ही है। क्योंकि दु:खी व्यक्ति दुखियों की वार्ता से सुख जैसा अनुभव करता है और प्रमोदकारी वार्ता से दुखित होता है। अत: करूणादि रस दु:खात्मक ही हैं।[1]

रसों को सुखात्मक और दु:खात्मक स्वीकार करने वाले प्रथम आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र नहीं हैं। इनसे पूर्व भी कुछ इस प्रकार के स्पष्ट कथन मिल जाते हैं।[2] पर नाट्यदर्पण रामचन्द्र गुणचन्द्र का रससिद्धान्त अन्य आचार्यों के सिद्धान्त विलक्षण ही है। वह यह कि अन्य आचार्यों ने रस को अलौकिक माना है। लोक मे होने वाली स्त्री-पुरूष की परस्पर रति को अन्य आचार्यों ने रस नहीं माना है। काव्य नाटक में होने वाले विभावादि को ही उन लोगों ने विभावादि शब्द से कहा है। उनके मत में विभावादि शब्द भी लोक के नहीं काव्य नाटक के क्षेत्र में सीमित शब्द हैं। जबकि नाट्यदर्पणकार ने लौकिक स्त्री पुरूष आदि को भी "विभावादि" शब्दों से और उनकी रति आदि को भी "रस" शब्द से निर्दिष्ट किया है। इसलिये उन्होंने सामान्य विषयक तथा विशेष विषयक द्विविध रसों की स्थिति मानी है। इसी को स्पष्ट करते ग्रन्थकार लिखते हैं कि जहाँ (अर्थात् लोक में) वास्तविक रूप में

---

1. हि. नाट्यदर्पण, 3/7 वृत्ति
2. क- अभिनवभारती भाग 1, पृ. 219-20 (नगेन्द्र)
   ख- रसस्य सुखदु:खात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते, अतएव तदुभयजनकत्वम्।
   -रसकलिका (रूद्रभट्ट) नम्बर आफ रसाज पृ. 155
   हिन्दी नाट्यदर्पण पृ. 84 से उद्धृत
   ग- रसा हि सुखदु:खरूपा: श्रृ.प्र. 2यभाग पृ. 369
   हिन्दी नाट्यदर्पण पृ. 84 से उद्धृत

स्थित विभाव (सीता राम आदि) निश्चित व्यक्ति - विशेष में (रत्यादिरूप) स्थायिभाव को रसरूपता को प्राप्त कराते हैं वहाँ रस का आस्वाद नियत व्यक्तिविशेष में होता है। जैसे कि लोक में कोई युवक किसी युवति को लेकर उसके विषय में अपनी रति को शृंगाररस के रूप में आस्वादन करता है। यहाँ रस की प्रतीति विशेष-विषयक व लौकिकी हुई। जहाँ (लोक में वास्तविक रूप में स्थित, पर) अन्य में अनुरक्त वनिता को (अर्थात् परकीया नायिका को) लेकर अनेक व्यक्तियों में सामान्य विषयक रति परिपोषण होता है, वहाँ नियत व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध रूप में शृंगाररस का आस्वाद नहीं होता है अर्थात् एक स्त्री से अनेक व्यक्तियों को सामान्यरूप से शृंगारानुभूति होती है क्योंकि ऐसे उदाहरणों में स्त्री आदि रूप विभावों से सामान्य रूप से अनेक व्यक्ति विषयक रति आदि स्थायिभाव का आविर्भाव होने से सामान्य विषयक ही रसास्वाद होता है। इसी प्रकार अपने किसी प्रिय बन्धु के वियोग से पीड़ित युवति को रोते देखकर देखने वाले अनेक व्यक्तियों को सामान्यविषयक ही करूणरस का आस्वाद होता है। इसी प्रकार अन्य रसों में भी दोनों प्रकार की स्थिति होती है।[1] किन्तु काव्य तथा नाटक में विभावादि वास्तविक रूप में विद्यमान नहीं होते हैं केवल काव्य तथा अभिनय के द्वारा समर्पित होते हैं। इसलिये उनसे विशेष विषयक रसानुभूति न होकर सामान्य विषयक रसानुभूति ही होती है।[2]

---

1. हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ, 296-97
2. हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ, 297

रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार रसानुभव के 5 आधार होते हैं:—

1. लौकिक स्त्री-पुरूष
2. नट
3. काव्य तथा नाटक का श्रोता
4. कवि एवं नाट्य का अनुसन्धाता, और
5. सामाजिक

अनुकार्य, अनुकर्ता, श्रोता व अनुसन्धाता में रस की प्रतीति प्रत्यक्ष रूप में एवं सामाजिक को परोक्ष रूप में होती है। सामाजिक में स्थित रस लोकोत्तर होता है और अन्यत्र स्थित लौकिक।

रस मुख्य रूप से किसमें रहता है? इसके उत्तर में नाट्यदर्पणकार का कथन है कि - चित्तवृत्तिरूप रस का आविर्भाव सामाजिक ही होता है और काव्यार्थपरिशीलनकर्ता सामाजिक चित्तवृत्तिरूप रस का आस्वादन अपने आन्तरिक सुख की तरह करते हैं, न कि वाह्य वस्तु जन्य सुख की तरह। जैसे मोदकादि वाह्य वस्तु से सुखास्वाद होता है, उससे विलक्षण काव्यार्थ भावना जन्य रस का आस्वाद है।[1] इसलिये रस का आस्वादक सामाजिक

---

1. श्रितोत्कर्षो हिचेतोवृत्तिरूप: स्थायी भावो रस:, स चाचेतनस्य काव्यस्यात्माधेयो वा कथं स्यात् ? तत: काव्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं प्रतिपत्तृणां रसाविर्भाव:।
प्रतिपत्तारश्चात्मस्थं सुखमिव रसमास्वादयन्ति। न पुन:र्बहि:स्थं रसं मोदकमिव प्रतियन्ति। अन्यो हि मोदकस्यास्वादोऽन्यश्च प्रत्ययो रसस्य।
हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ॰ 302

ही है, नट - अनुकर्ता या अनुकार्य रामादि नहीं है।[1]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त होने वाले रत्यादि स्थायिभाव को रस कहा है।[2] तत्पश्चात् भरत - रस - सूत्र को प्रस्तुत करते हुए आचार्य मम्मट के सदृश भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक व अभिनवगुप्त के रसविषयक मतों का प्रतिपादन किया है।[3]

आचार्य वाग्भट द्वितीय ने विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस कहा है।[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अन्याचार्यों के समान जैनाचार्यों ने भी प्रायः भरत-रस-सूत्र को आधार मानकर अपना रस-स्वरूप निरूपण किया है।

---

1. काव्ये नटेऽन्यत्रवा रसस्यासत्त्वात्।असतश्चापि प्रत्यये अहृदयस्यापि प्रतीतिः स्यात्। ततो विभावप्रतिपादककाव्यप्रतिपत्तेरनन्तरं प्रति-पत्तुरेव स्थायी रसो भवति।
   हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ. 303

2. विभावैरनुभावैश्च व्यक्तोऽथ व्यभिचारिभिः ।
   स्थायी रत्यादिको भावो रसत्वं प्रतिपद्यते।।
   अलंकारमहोदधि 3/12
3. अलंकारमहोदधि, 3/12 वृत्ति
4. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ. 53

रस - भेद

रस - भेदों के सन्दर्भ में साहित्यशास्त्रीय प्राचीन आचार्यों में बहुत मतभेद रहा है। कतिपय आचार्य "श्रृंगार हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स व अद्भुत इन आठ रस - भेदों को स्वीकार करते हैं। अन्य आचार्य उपर्युक्त रस के आठ भेदों में शान्तरस का समावेश करते हुए रसों की संख्या नौ मानते हैं तथा कुछ लोग नाटक में शान्तरस की स्थिति नहीं मानते हैं।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने श्रृंगार - हास्य आदि आठ रसों को नाट्य में स्वीकार किया है।[1] आचार्य मम्मट ने भरतमुनि की कारिका को यथावत् उद्धृत करते हुए 9वें शान्तरस की परिगणना अलग से की है। [3] संभवतः इसका कारण यह है कि "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः" नाट्यशास्त्र के इस कारिकांश को लेकर बहुत विवाद रहा है। भामह व दण्डी आदि ने 8 रसों का प्रतिपादन कर शान्तरस नहीं माना है। उद्भट, आनंदवर्धन व अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से शान्तरस का प्रतिपादन किया है।[4] धनंजय व धनिक ने शान्तरस का खण्डन करते हुए लिखा है कि नाट्य में शान्तरस होता ही नहीं है।[5]

---

1. श्रृंगारहास्यकरूणरौद्रवीरभयानकाः ।
   वीभत्साद्भुतसंज्ञा चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।
   नाट्यशास्त्र 6/15
2. काव्यप्रकाश 4/29
3. वही, 4/35
4. काव्यप्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर, पृ. 116
5. शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।
   दशरूपक 4/33

भरतमुनि के समकालीन जैनाचार्य अनुयोगद्वारसूत्रकार आर्यरक्षित ने पुराने आठ रसों में नवां प्रशान्त रस सम्मिलित करते हुए नौ रसों का उल्लेख किया है।[1] डा. कमलेश कुमार जैन ने इन नौ रसों के नाम इस प्रकार बताये हैं -(1) वीर, (2) शृंगार, (3) अद्भुत, (4) रौद्र, (5) व्रीडनक, (6) वीभत्स, (7) हास्य, (8) करूण व (9) प्रशान्त। इसके साथ ही उन्होंने अनुयोगद्वारसूत्र से कारिका भी उद्धृत की है।[2] इस प्रकार यहाँ एक नवीन बात ये दृष्टिगत होती है कि आचार्य आर्यरक्षित ने भरतादि आचार्यों द्वारा उल्लिखित भयानक रस के स्थान पर व्रीडनक रस का उल्लेख किया है। किन्तु इसकी सत्ता में सन्देह है क्योंकि इसे परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं हुई है। इसीलिये डा. वी. राघवन् आदि आधुनिक काव्यशास्त्री व्रीडनक को स्वतंत्र रस की सत्ता नहीं देते हैं।[3]

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने शृंगार, वीर, करूण, हास्य, अद्भुत, भयानक, रौद्र, वीभत्स और शान्त इन नौ रसों को स्वीकार किया है।[4]

---

1. द्रष्टव्य - द नम्बर आफ रसाज, पृ. 24

2. वीरो सिंगारो अब्भुओ अ रौद्दो अ होइ बोदव्वो।
वेलणओ बीभच्छो, हासो कलणो पंसतो अ ।।
अनुयोगद्वारसूत्र प्रथम भाग, पृ, 828, "जैनाचार्यो का अलंकारशास्त्र में योगदान" पृ. 105 से उद्धृत।

3. दी नम्बर आफ रसाज, वी, राघवन, पृ. 143

4. वाग्भटालंकार - 5/3

आचार्य हेमचन्द्र ने भी नौ रस स्वीकार किये हैं पर उनका क्रम इस प्रकार है - श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत व शान्त।[1] इस क्रम को अपनाने में उनका एक विशेष प्रयोजन है। उनका कथन है कि रति (श्रृंगार रस का स्थायीभाव) के सभी प्राणियों में सुलभ होने से, सबके अत्यन्त परिचित होने से एवं सबके प्रति आह्लादक होने के कारण सर्वप्रथम श्रृंगार रस का ग्रहण किया गया है। श्रृंगार का अनुगामी होने के कारण तत्पश्चात् हास्य रस को रखा गया है। निरपेक्ष भाव होने के कारण उस हास्य के विपरीत करूण को हास्य के बाद रखा गया है। तत्पश्चात् करूण-रस का निमित्तभूत तथा अर्थप्रधान रौद्ररस का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार कामप्रधान एवं अर्थप्रधान रसों का उल्लेख करने के पश्चात् काम और अर्थ के धर्ममूलक होने के कारण धर्मप्रधान वीररस को रखा गया है। वीररस का "भीतों को अभय प्रदान करना" रूप प्रयोजन होने से इसके बाद भयानक रस का कथन है। भयानक रस के समान ही वीभत्स रस के विभाव होने से भयानक के पश्चात् वीभत्स रस को ग्रहण किया गया है, जो वीररस के द्वारा आक्षिप्त है। वीररस के अन्त में अद्भुत रस की प्राप्ति होती है, अतः अद्भुत रस का ग्रहण किया गया है। इसके पश्चात् धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग के साधनभूत प्रवृत्ति-धर्मों से विपरीत निवृत्ति धर्म - प्रधान मोक्ष रूप फल वाला शान्त रस होता है, अतः उसका ग्रहण किया गया है।[2] ठीक इसी प्रकार का विवेचन अभिनवभारतीकार आ. अभिनवगुप्त ने भी आचार्य हेमचन्द्र से पूर्व

---

1. काव्यानुशासन, 2/2
2. काव्यानुशासन, 2/2 वृत्ति

किया है।[1]

आचार्य हेमचन्द्रानुसार ये नौ रस परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अतः आर्द्रता रूप स्थायिभाव वाले स्नेह को रस मानना उनकी दृष्टि में असंगत है क्योंकि उसका रत्यादि भावों में अन्तर्भाव हो जाता है। उसी प्रकार युवकों का मित्र के प्रति स्नेह रति में, लक्ष्मणादि का भाई के प्रति स्नेह धर्मवीर में और बालकों का माता-पिता आदि के प्रति स्नेह का भयानक - रस में अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार वृद्ध का पुत्रादि के प्रति स्नेह के विषय में समझना चाहिए तथा गंध स्थायिभाव वाले लौल्य रस का हास, रति अथवा अन्यत्र अन्तर्भाव समझना चाहिए। इसी प्रकार भक्तिरस का अन्तर्भाव भी अन्य रसों में किया जा सकता है।[2]

---

1. तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रतिहृद्यतेति पूर्वं शृंगारः। तदनुगामी च हास्यः। निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्ततः करूणः। ततस्तन्निमित्तं रौद्रः। स चार्थप्रधानः। ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद् वीरः। स हि धर्मप्रधानः। तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात्। तदनन्तरं भयानकः। तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात् ततो वीभत्स इति। वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुतः। यद्वीरेणाक्षिप्तं फलमित्यनन्तरं तदुपादानम्। ... ततस्त्रिवर्गात्मक-प्रवृत्तिधर्मविपरीत - निवृत्ति धर्मात्मको मोक्षफलः शान्ति।

   - अभिनवभारती, पृ. 432

2. काव्यानुशासन, 2/2 वृत्ति

उक्त कथन से ये प्रतीत होता है कि कुछ लोग स्नेह, लौल्य एवं भक्ति रस को भी स्वीकार करते थे, किन्तु इन रसों को अलग से स्वीकार करना हेमचन्द्र को मान्य नहीं। अतः उन्होंने उक्त रसों का खंडन करके श्रृंगारादि रसों में ही उनका अन्तर्भाव किया है।

आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नौ रसों का उल्लेख किया है।[1] उन्होंने श्रृंगारादि रसों को उसी क्रम से प्रस्तुत किया है, जो क्रम हेमचन्द्र ने अपनाया है तथा इनके रखने में भी वही हेतु प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें हेमचन्द्र ने स्वीकार किया है।[2] इसके अतिरिक्त आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि श्रृंगारादि नौ रस विशेष रूप से मनोरंजक एवं पुरूषार्थों में उपयोगी होने से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं किन्तु इनसे भिन्न और रस भी हो सकते हैं। जैसे तृष्णा (लालच)रूप स्थायिभाववाला लौल्य, आर्द्रतारूप स्थायिभाव वाला स्नेह, आसक्ति रूप स्थायिभाववाला व्यसन, अरति रूप स्थायिभाव वाला दुःख और संतोष रूप स्थायिभाववाला सुख - इत्यादि अन्य रस भी हो सकते हैं। कुछ लोग इन्हें रस तो मानते हैं, किंतु अन्तर्भाव पूर्वोक्त नौ रसों में ही कर लेते हैं।[3]

---

1. हिन्दी नाट्यदर्पण 3/9
2. वही 3/9 वृत्ति
3. वही, 3/9, वृत्ति

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने श्रृंगारादि नौ रसों को स्वीकार किया है।[1] इन्होंने रसक्रम में आचार्य हेमचन्द्र का ही अनुकरण किया है तथा अपने इस क्रम को अपनाने के लिये उन्होंने जो हेतु प्रस्तुत किए हैं वे हेमचन्द्रसम्मत ही हैं।[2] उन्होंने आर्द्रता रूप स्थायिभाव वाले स्नेहादि सभी रसों का रत्यादि (श्रृंगारादि) रसों में ही अन्तर्भाव किया है। उन्हें शान्तरस की स्थिति नाट्य में भी स्वीकार थी, ऐसा उनके 'नवनाट्येरसा अमी' कथन से स्पष्ट होता है।

आचार्य वाग्भट द्वितीय ने भी श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर भयानक, वीभत्स, अद्भुत एवं शान्त – ये नव रस स्वीकार किये हैं।[3] जिनका क्रम हेमचन्द्र सम्मत ही है।

आचार्य भावदेवसूरि ने यद्यपि नौ रसों की गणना स्पष्ट रूप से नहीं की है तथापि उनके द्वारा प्रतिपादित नौ विभावों की गणना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हें नौ रस- भेद ही मान्य हैं।[4]

---

1. श्रृंगार-हास्य करूणा रौद्र-वीर-भयानकाः।
   वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा अमी।।
   – अलंकारमहोदधि, 3/13
2. वही 3/13 वृत्ति।
3. काव्यानुशासन – वाग्भट, पृ. 53
4. काव्यालंकारसार 8/3

उपर्युक्त विवेचन से ये स्पष्ट होता है कि जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट द्वितीय व भावदेवसूरि नौ रस - भेदों के समर्थक हैं। हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र व नरेन्द्रप्रभसूरि ने रस - क्रम - निरूपण में वे ही हेतु स्वीकार किए हैं जो अभिनवगुप्त को मान्य थे। नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्पष्ट रूप से शान्तरस की स्थिति नाट्य में स्वीकार की है।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किया गया रस-भेद विवेचन भरत-परम्परा का अनुसरण करते हुए भी अनूठा है।

श्रृंगारादि आठ या नौ रसों को सभी आचार्य स्वीकार करते हैं, जो इस प्रकार हैं —

श्रृंगार रस - श्रृंगार रस का स्थायिभाव रति है। आचार्य भरतानुसार ये उत्तम प्रकृति वाले नायक-नायिका में होता है। इसके दो भेद हैं - संभोग श्रृंगार व विप्रलम्भ श्रृंगार। संभोग - श्रृंगार, ऋतु, माला, अनुलेपन, अलंकार धारण, इष्टजन, सामीप्य, विषय, सुन्दर भवन का उपभोग, वनागमन तथा अनुभव करने, सुनने, प्रिय के देखने तथा क्रीडा और लीलादि विभावों से उत्पन्न होता है।[1] किन्तु जब नायक-नायिका एक दूसरे से बिछुड़कर दुःखानुभूति करते हैं तब विप्रलम्भ श्रृंगार की उत्पत्ति होती है।

---

1. नाट्यशास्त्र, 6/45

आचार्य धनंजय ने श्रृंगार के तीन भेद किए हैं – – अयोग, विप्रयोग तथा संयोग।[1] मम्मट ने श्रृंगार रस के भरत–सम्मत ही उक्त दो भेद करके संयोग – श्रृंगार के परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधर-पान, चुम्बनादि अनन्त भेद होने से अगणनीय एक ही भेद गिना है तथा विप्रलंभ श्रृंगार के अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप के कारण 5 भेद माने हैं।[2]

जैनाचार्य वाग्भट – प्रथम के अनुसार – स्त्री और पुरूष का परस्पर प्रेम भाव श्रृंगार है। यह दो प्रकार का होता है– संयोग और विप्रलंभ। स्त्री – पुरूष का मिलन संयोग श्रृंगार है और उनका वियोग विप्रलम्भ श्रृंगार है। पुनः श्रृंगार के दो भेद उन्होंने और किए हैं— प्रच्छन्न तथा प्रकट।[3]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार (श्रव्य काव्य में) सुने जाते हुए अथवा (नाट्य अभिनय आदि में) देखे जाते हुए आलम्बन एवं उद्दीपन रूप स्त्री–पुरूष एवं परस्पर उनके उपयोगी माल्य, ऋतु, शैल, नगर, महल, नदी, चन्द्र, पवन, उद्यान, बावड़ी, जल एवं क्रीडा इत्यादि विभाव वाली एवं जुगुप्सा, आलस्य तथा उग्रता से रहित अन्य (समस्त तीस) व्यभिचारि भाव वाली, स्थिर अनुराग वाले एवं संभोग सुख की इच्छा वाले तरूण कामी एवं कामिनी की परस्पर विभाविका बनी हुई तथा उन दोनों (तरूण एवं तरूणी) में एक

---

1. हिन्दी दशरूपक, पृ, 268
2. काव्यप्रकाश, पृ. 121–123
3. वाग्भटालंकार – 5/5–6

रूप से प्रारंभ (परस्पर अनुराग) से लेकर फल (संभोग) पर्यन्त व्याप्त रहने वाली अलौकिक सुख प्रदान करने वाली आशाबन्धात्मिका रतिरूप जो स्थायी भाव है, वही चर्व्यमाण होता हुआ शृंगार रस कहलाता है।[1] संक्षेप में - कामी युगल में एक रूप से व्याप्त रहने वाला, आस्वाद्यमान होता हुआ रतिरूप स्थायीभाव ही शृंगार रस है। इस रति के स्त्री, पुरूष माल्यादि विभाव होते हैं तथा जुगुप्सा, आलस्य एवं उग्रता को छोड़कर अन्य सभी तीस व्यभिचारीभाव हो सकते हैं।

शृंगार रस की दो अवस्थाएं हैं- संभोग एवं विप्रलम्भ। आचार्य हेमचन्द्र की धारणा है कि संभोग और विप्रलम्भ ये शृंगार के दो भेद नहीं है अपितु शाबलेय (चितकबरा) व बाहुलेय (काला) गोत्व की भांति शृंगार की दो प्रकार की दशा ही हैं। दोनों के साथ शृंगार उसी तरह प्रयुक्त होता है, जैसे - ग्राम के एक देश को भी ग्राम कहा जाता है। उनका कथन है कि विप्रलम्भ में भी अविच्छिन्नरूप से संभोग की कामना रहती है। निराश हो जाने पर तो करूण रस ही होगा, विप्रलंभ नहीं। संभोग शृंगार में भी यदि विरह की आशंका नहीं होगी तो प्रियजन के निरन्तर अनुकूल रहने पर अनादर ही होगा; क्योंकि काम की गति वाम होती है।[1] जैसा कि भरतमुनि ने कहा है -"प्रतिकूल विषय के प्रति जो उत्कट अभिलाषा होती है, तथा उससे जो निवारण किया जाता है और जो नारी की दुर्लभता होती है

---

1. काव्यानुशासन, पृ. 108

वह कामी की गाढ़ रति है।"[1] अर्थात् रति का परिपोष निरन्तर कामना के बने रहने पर ही संभव है। इसलिए दोनों दशाओं - संभोग व विप्रलंभ के मिलन में ही श्रृंगाररस का अतिशय चमत्कार है।[2] जैसे - "एकस्मिन् शयने"[3] इत्यादि। यहाँ पर ईर्ष्या विप्रलम्भ एवं सम्भोग के सम्मिलन से दम्पति के विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भावों के द्वारा अतिशय रस की अनुभूति होती है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार सुखमय धृति आदि व्यभिचारिभावों व रोमांचादि अनुभावों वाला संभोग श्रृंगार है।[4] लज्जा इत्यादि के द्वारा निषिद्ध होते हुए भी इष्ट जो प्रिय दर्शन आदि हैं, वे ही कामीयुगल के द्वारा जहाँ सम्यक्रूपेण भोगे जाते हैं, उसे ही संभोग कहते हैं, और यह सुखमय होता है। धृति आदि व्यभिचारिभाव होते हैं। रोमांच, स्वेद, कम्प, अश्रु, मेखला - स्खलन, श्वसित, विक्षोभ, केशबन्धन, वस्त्र-संयमन, वस्त्राभरण, माल्यादि के विचित्र प्रकार से सम्यक् निवेशन में क्षपिक चाटुकारी आदि वाचिक, कायिक व मानसिक व्यापार के लक्षण वाला अनुभाव होता है। इस प्रकार इसके परस्पर अवलोकन, आलिंगन व चुम्बन आदि अनन्त

---

1. यद्वामाभिनिवेशित्वं यतश्च विनिवार्यते।
   दुर्लभत्वंच यन्नार्याः कामिनः सा परा रतिः।।
   ना. शा. अ. 22 श्लोक 193, नि. सा.
   काव्यानुशासन, पृ. 108 से उद्धृत
2. काव्यानु. पृ. 108
3. वही, पृ. 108-109
4. वही, पृ. 109

भेद होते हैं।[1] इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने आचार्य मम्मट[2] की भांति अनंत भेद संभव माने हैं तथा दृष्टान्त रूप में "दृष्ट्वैकासनसंगते... [3]" इत्यादि श्लोक को प्रस्तुत किया है जिसमें नायिका के चुम्बन का वर्णन होने से संभोग श्रृंगार की अभिव्यक्ति हो रही है।

विप्रलंभ श्रृंगार का लक्षण देते हुए हेमचन्द्र लिखते हैं - शंकादि व्यभिचारिभावों व संतापादि अनुभावों वाला विप्रलंभ श्रृंगार है।[4] उनके अनुसार सम्भोगजन्य सुखास्वाद के लोभ से व्यक्ति इसमें विशेष रूप से ठगा जाता है, इसलिये इसे विप्रलम्भ कहते हैं।[5]

विप्रलम्भ श्रृंगार में शंका, औत्सुक्य, मद, ग्लानि, निद्रा, सुप्त, प्रबोध, चिन्ता, असूया, श्रम, निर्वेद, मरण, उन्माद, जड़ता, व्याधि, स्वप्न एवं अपस्मार आदि व्यभिचारिभाव होते हैं। और संताप, जागरण कृशता, प्रलाप, क्षीणता, नेत्र एवं वाणी की वक्रता, दीन संचरण, अनुकरण, कृति, लेख - लेखन, वाचन, स्वभाव निह्नव, वार्ता, प्रश्न, स्नेह- निवेदन,

---

1. स च परस्परावलोकनालिंगनचुम्बन पानाद्यनन्तभेदः।
   वही, पृ. 109

2. तत्राद्यः परस्परावलोकनालिंगनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते।
   काव्यप्रकाश, वृत्ति, 121 पृ.

3. काव्यानुशासन, पृ. 110

4. वही, पृ. 110

5. संभोगसुखास्वादलोभेन विशेषेण प्रलभ्यते|आत्माऽत्रेति विप्रलंभः।
   वही, पृ. 110

सात्त्विक, अनुभव, शीत – सेवन, मरणोद्यम तथा संदेश आदि अनुभाव होते हैं।[1]

यह विप्रलंभ श्रृंगार तीन प्रकार का होता है – (1) अभिलाष विप्रलम्भ, (2) मान विप्रलंभ एवं (3) प्रवास विप्रलंभ।

आ. हेमचन्द्र का कथन है कि उपर्युक्त तीन प्रकार के विप्रलम्भ के अतिरिक्त और कोई विप्रलम्भ नहीं होता है। यदि कोई करूण विप्रलम्भ को विप्रलम्भ श्रृंगार के अन्तर्गत मान लेता है तो यह अनुचित है क्योंकि करूण-विप्रलंभ तो वास्तिव में करूण ही है।[2] उदाहरणार्थ- "हृदये वसतीति...[3]" इत्यादि करूण विप्रलम्भ का उदाहरण है जिससे वास्तव में करूण रस की ही प्रतीति हो रही है।

§1§ अभिलाष विप्रलम्भ दो प्रकार का होता है – देववश विप्रलंभ। इसका उदाहरण – "शैलात्मजापि..."[4] इत्यादि आचार्य ने दिया है। इसमें विप्रलम्भ देववशात् हुआ है। द्वितीय भेद है – पारवश्य विप्रलम्भ। जिसका उदाहरण "स्मरनवनदीपूरेणोढा...[5]" इत्यादि पद्य है।

---

1. वही, पृ. 111
2. काव्यानुशासन, पृ. 111
3. वही, पृ. 111
4. वही, पृ, 111
5. वही, पृ, 111-112

§2§ मान विप्रलंभ भी दो प्रकार का होता है- (1) प्रणय-जन्य मान और(2) ईर्ष्याजन्य मान।[1]

प्रेमपूर्वक वशीकरण को प्रणय कहते हैं अर्थात् प्रेम का परिपक्व रूप ही प्रणय है और उस प्रणय के भंग हो जाने पर जो मान होता है, वह प्रणयमान कहलाता है। यह प्रणयमान स्त्री (नायिका) का भी हो सकता है, पुरूष (नायक) का भी हो सकता है और स्त्री-पुरूष दोनों का भी हो सकता है।[2] उदाहरणार्थ - "प्रणयकुपितां...[3]" इत्यादि पद्य नायिका के प्रणयमान का, "अस्मिन्नेव लतागृहे...[4]" इत्यादि नायक के प्रणयमान का एवं "पणयकुवियाण...[5]" इत्यादि पद्य उभयगत प्रणयमान का उदाहरण है।

ईर्ष्यामान केवल नायिकागत ही होता है। "संध्यां यत्प्रणिपत्य[6]" इत्यादि इसका उदाहरण है।

§3§ प्रवास विप्रलम्भ तीन प्रकार का होता है-(क) कार्यवश विप्रलम्भ (ख) शापवश विप्रलम्भ, (ग) संभ्रमवश विप्रलम्भ।[7]

---

1. वही, पृ. 112
2. काव्यानुशासन, पृ. 112
3. वही, पृ, 112
4. वही, पृ. 112
5. वही. पृ. 112
6. वही. पृ. 113
7. वही. पृ. 113

§क§ <u>कार्यवश विप्रलम्भ</u> – जब किसी कार्यवश प्रियतम दीर्घकाल के लिए प्रवास (दूसरे स्थान) पर जाता है, ऐसी दशा में होने वाले विप्रलम्भ को कार्यवश विप्रलम्भ कहते हैं। यथा – "याते द्वारवती-!"[1] इत्यादि पद्य में किसी कार्यवश श्रीकृष्ण के द्वारिका चले जाने पर राधा का विरह वर्णित हुआ है।

§ख§ शापवश विप्रलम्भ – शाप के कारण दीर्घकाल तक प्रियतम के प्रवास रहने से उत्पन्न विरहावस्था को शापवश विप्रलम्भ कहते हैं। इसके लिये हेमचन्द्र ने कालिदासकृत मेघदूत काव्य को ही उदाहरण बनाया है।[2]

§ग§ संभ्रमवश विप्रलम्भ – विप्लववश होने वाली व्याकुलता को संभ्रम कहते हैं यथा – "किमपि किमपि[3]" इत्यादि पद्य में मकरन्द के युद्ध में सहायतार्थ गये हुए माधव की विह्वलता वर्णित है।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने विप्रलंभ श्रृंगार के भेद – प्रभेदों का सोदाहरण विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है।

---

1. वही, पृ. 113
2. वही, पृ. 113
3. वही, पृ. 113

आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार सम्भोग व विप्रलंभात्मक दो प्रकार का शृंगार रस होता है। उनमें से प्रथम अर्थात् संभोग शृंगार अनन्त प्रकार का होता है एवं विप्रलम्भ शृंगार -(1) मान, (2) प्रवास, (3) शाप, (4) ईर्ष्या तथा (5) विरहरूप पाँच प्रकार का होता है।[1]

आगे वे लिखते हैं एक दूसरे के अनुकूल पड़ने वाले तथा एक दूसरे को प्रेम करने वाले (स्त्री-पुरूष रूप) दो विलासियों का जो परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि है वह संभोग शृंगार कहलाता है।[2] परस्पर अनुरक्त होने पर भी परतन्त्रता आदि के कारण दोनों विलासियों का परस्पर मिलन न हो सकना अथवा चित्त का विलग हो जाना विप्रलंभ शृंगार है।[3] संभोग में भी विप्रलंभ की संभावना बने रहने और विप्रलम्भ में भी मन में संभोग का इच्छात्मक सम्बन्ध विद्यमान रहने से शृंगाररस उभयात्मक होता है। किन्तु किसी एक अंश की प्रधानता के कारण संभोग शृंगार विप्रलम्भ शृंगार कहा जाता है।[4] दोनों अवस्थाओं के सम्मिश्रण का वर्णन होने पर विशेष चमत्कार होता है। जैसे - "एकस्मिन् शयने[5]" इत्यादि पद्य। इसमें ईर्ष्याविप्रलम्भ तथा

---

1. सम्भोग - विप्रलम्भात्मा शृंगारः प्रथमोबहुः।
   मान-प्रवास-शापेर्ष्या-विरहैः पंचधाऽपरः।
   हि. नाट्यदर्पण, 3/10
2. हि. नाट्यदर्पण, पृ. 306
3. हि. नाट्यदर्पण, पृ. 306
4. हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ. 107
5. वही, पृ. 107

संभोग दोनों की एक साथ मिश्रित रूप में विभावादि के कारण अत्यन्त चमत्कारयुक्त प्रतीति होती है।

इसी प्रकार "किमपिकिमपि मन्दं[1]" इत्यादि पद्य में संभोग शृंगार के अनेक रूपों का प्रदर्शन किया गया है।

विप्रलंभ शृंगार के 5 भेदों में से ईर्ष्या अथवा प्रणय-कलह के कारण होने वाला वैमनस्य मान कहलाता है। यथा "याते द्वारवती[2] इत्यादि पद्य।

समीपस्थ रहने वाले का भी अन्य रूप करा देना "शाप" कहलाता है। जैसे "कादम्बरी" में महाश्वेता के द्वारा वैशम्पायन को शुक बना देना।[3]

माता-पिता आदि के परतंत्र होने के कारण इस समय जिन दो प्रेमियों का मिलन नहीं हो पा रहा है किन्तु आगे जिनका प्रथम मिलन होने वाला है उनकी परस्पर मिलन की इच्छा अभिलाष कहलाती है। उसके कारण दो प्रेमियों का जो मिलन का अभाव है वह अभिलाषजन्य विप्रलम्भ कहलाता है। जैसे - "उद्दच्छो पियइ[4]" इत्यादि पद्य।

जिनका सम्मिलन पहले हो चुका है इस प्रकार के प्रेमियों का माता-पिता आदि के प्रतिबन्ध के बिना भी अन्य कार्यों के कारण परस्पर मिलन न हो सकना विरह कहलाता है। जैसे - "अन्यत्र व्रजतीति का खलु[5]" इत्यादि पद्य।

---

1. वही, पृ. 107
2. वही, पृ. 107-8
3. हिन्दी नाट्यदर्पण, 308
4. वही, पृ, 308
5. वही, पृ, 309

संभोग तथा विप्रलम्भ रूप दोनों प्रकार के शृंगार के विभाव तथा अनुभावों का वर्णन करते रामचन्द्र-गुणचन्द्र लिखते हैं कि शृंगार रस में नायक नायिका आलम्बन विभाव तथा काव्य, गीत, बसन्त चन्द्रोदय, उद्यानादि, उद्दीपन विभाव होते हैं। परस्पर नयन वदन, प्रसाद - स्थिति, मनोज्ञ-अंगविकारादि अनुभाव होते हैं और उत्साह, सन्तापाश्रुपात, मन्यु, ग्लानि, चिन्ता हर्षादि संचारी (व्यभिचारि) भाव होते हैं। संयोग शृंगार में जो तापाश्रु, ईर्ष्या, ग्लानि आदि संचारी भाव होते हैं वही विप्रलम्भ में अनुभाव होते हैं।[1] विप्रलम्भ शृंगार में आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा[2] को छोड़कर निर्वेदादि दुःखमय पदार्थ भी संचारी भाव होते हैं।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने सर्वप्रथम शृंगार के दो भेद किए हैं — संभोग और विप्रलम्भ। पुनः संभोग के परस्पर अवलोकन, आलिंगन, चुम्बन आदि अनन्त भेद माने हैं।[3] विप्रलम्भ के पाँच भेद किये हैं — स्पृहा, शाप, वियोग, ईर्ष्या और प्रवासजन्य।[4] आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने यद्यपि संभोग - शृंगार के अनन्त भेद माने हैं तथापि पाँच प्रकार के विप्रलम्भ के पश्चात् होने वाले संभोग के कारण संभोग - शृंगार भी पाँच प्रकार का माना है — स्पृहानन्तर, शापानन्तर, वियोगानन्तर, ईर्ष्यानन्तर एवं प्रवासानन्तर।[5]

---

1. हि. नाट्यदर्पण, 3/11 एवं विवरण
2. हि. नाट्यदर्पण, 3/11 एवं विवरण
3. स च परस्परावलोकनालिंगन - चुम्बन - पानाद्यनन्तभेदः।
   अलंकारमहोदधि - 3/15 की वृत्ति
4. अलंकारमहोदधि, 3/16
5. वही, 3/16 वृत्ति।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने आ. हेमचन्द्र की तरह करूण - विप्रलम्भ को करूण रस ही माना है।[1]

आ. वाग्भट द्वितीय ने हेमचन्द्र के समान ही शृंगार - रस - भेद विवेचन किया है।[2] दोनो में अन्तर मात्र इतना है कि वाग्भट द्वितीय ने प्रवास के - कार्यहेतुक, शाप-हेतुक, दैववशात एवं परवशात् ये चार भेद माने हैं[3] जबकि हेमचन्द्र ने प्रवास के तीन भेद किए हैं -- कार्यहेतुक, शाप-हेतुक तथा संभ्रम।

इन जैनाचार्यों द्वारा किया गया शृंगार रस विवेचन प्रायः भरत-परम्परा का अनुसरण करते हुए भी आ. हेमचन्द्र व नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा करूण-विप्रलम्भ को करूण-रस स्वीकार करना उनकी नवीनता का परिचायक है।

हास्य रस : हास्य रस का स्थायिभाव हास है। आचार्य भरत ने विकृत वेष, अलंकारादि विभावों से इसकी उत्पत्ति मानी है। उनके अनुसार हास्य छः प्रकार का होता है - स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। प्रथम दो प्रकार का हास्य उत्तम पुरूषों में, मध्यम दो प्रकार का हास्य मध्यम पुरूषो में तथा अन्तिम दो प्रकार का हास्य अधम पुरूषों

---

1. वही, 3/16 वृत्ति।
2. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ. 53-54
3. वही, पृ. 54
4. नाट्यशास्त्र, 6/48, पृ. 74

में पाया जाता है।[1] यह आत्मस्थ व परस्थ भेद से दो प्रकार का होता है। जब किसी भी वस्तु के दर्शनादि से स्वयं हंसता है तब आत्मस्थ कहलाता है और जब दूसरे को हंसाता है, तब वह परस्थ कहलाता है।[2]

आ. वाग्भट प्रथम के अनुसार प्रायः चेष्टा, अंग और वेषजनित विकार से हास्य की उत्पत्ति होती है।[3] यह उत्तम, मध्यम व अधम प्रकृति भेद से तीन प्रकार का होता है। सज्जनों अर्थात् उत्तम व्यक्तियों के हास्य में मात्र नेत्र तथा कपोल प्रफुल्लित हो उठते हैं पर उनके ओष्ठ बन्द रहते हैं। मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों के हास्य में मुख खुल जाता है और अधमजनों का हास्य शब्दयुक्त होता है।[4]

आ. हेमचन्द्र के अनुसार विकृत वेषादि विभाव वाला, नासा स्पन्दन आदि अनुभाव वाला तथा निद्रादि व्यभिचार भाव वाला हास नामक स्थायिभाव अभिव्यक्त होने पर हास्य रस कहलाता है।[5] देश, काल, वय और वर्ण के विपरीत केशबन्धादि विकृत वेश कहलाता है। आदि शब्द से नर्तन अन्य गति आदि का अनुकरण, असत्प्रलाप, भूषण आदि विभाव

---

1. वही, 6 – 52 – 53
2. नाट्यशास्त्र, 6/48, पृ. 74
3. चेष्टांगवेषवैकृत्याद्धाच्यो हास्यस्य चोद्भवः।
   वाग्भटालंकार 5/23
4. वही, 5/24
5. विकृतवेषादिविभावो नासास्पन्दनाद्यनुभावो निद्रादिव्यभिचारी हासो हास्यः।
   काव्यानुशासन, 2/9

नासा, ओष्ठ, कपोल – स्पन्दन, दृष्टि-व्याकोश, आकुंचन स्वेदास्यराग, पार्श्वग्रहणादि अनुभाव तथा निद्रा, अवहित्था, त्रपा, आलस्यादि व्यभिचारिभाव का समावेश किया गया है।[1] उन्होंने हास्य को आत्मस्थ व परस्थ दो प्रकार का माना है।[2] पुनः आत्मस्थ हास्य रस – स्मित, विहसित व अपहसित भेद से तीन प्रकार का बताया है जो क्रमशः उत्तम, मध्यम व अधम प्रकृति में पाया जाता है।[3] उन्होंने स्मितादि के लक्षण हेतु भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की कारिकाओं को उद्धृत किया है।[4]

परस्थ हास्य, उनके अनुसार स्मितादि की संक्रान्त अवस्था है। इसके भी तीन भेद हैं – हसित, अपहसित व अतिहसित[5] यह भी क्रमशः उत्तम, मध्यम व अधम प्रकृतियों में पाया जाता है।[6] उक्त हसितादि के लक्षण के लिए भी हेमचन्द्र ने भरत कारिकाओं को उद्धृत किया है।[7]

---

1. वही, 2/9 की वृत्ति।
2. स चात्मस्थः परस्थश्च।
   काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 114
3. उत्तममध्यामाधमेषु स्मितविहसितापहसितैः स आत्मस्थस्त्रेधा।
   वही, 2/10
4. वही, पृ. 114
5. वही, पृ. 114
6. वही, पृ. 114
7. हि. नाट्यदर्पण, 3/12 एवं विवरण

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि विकृत आकार, वेश - भूषादि, आचार - अवस्था विशेष से और विकृत - वागादि चेष्टा विशेष से और विकृत अंगों के विकृत वेशभूषादि के विस्मयोत्पादक धृष्टता व लौल्यभावादि से तथा ग्रीवा, कर्ण, चूडा, भ्रूनासादि की विकृत चेष्टा विशेष इन स्वगत तथा परगत भावों से हास स्थायिक हास्य-रस व्यक्त होता है। इसमें नासिका, गण्ड, ओष्ठादिकों का स्पन्दन, आकुंचन प्रसारणादि, अश्रु, नेत्र विकार, जरठग्रह, पार्श्वप्रदेश का ताडनादि अनुभाव होते हैं और अवहित्था, हर्षोत्साह, विस्मयादि व्यभिचारिभाव होते हैं।[1] हास्य के स्मित, हसित, विहसित, उपहसित अपहसित और अतिहसित ये छः भेद होते हैं। उत्तम पुरूषों के स्मित तथा हसित, मध्यमों के विहसित तथा उपहसित तथा अधमों के अपहसित तथा अतिहसित हास्य होते हैं।[2] रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि यह हास्य रस अधिकतर अधम प्रकृति में ही देखा जाता है। मनुष्यों में अपने वर्ग की अपेक्षा स्त्रियों में और पुरूषों में अपने वर्ग की अपेक्षा अधम प्रकृति में यह अधिकतर पाया जाता है। क्योंकि इन्हीं में ये करूण, विभत्स, भयानकादि रस व अधिकतर शोक, हास, भय, परनिन्दादि देखे जाते हैं और थोड़ी सी विचित्र बात में उन्हें काफी विस्मय हो जाता है।[3]

---

1. हिन्दी नाट्यदर्पण, 3/12 एवं विवरण
2. हिन्दी नाट्यदर्पण, 3/13 एवं विवरण
3. हिन्दी नाट्यदर्पण, विवरण पृ. 312

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी विकृत वेषादि, नासास्पन्दन आदि से हास्य रस की उत्पत्ति मानी है। उनके अनुसार निद्रा, अवहित्थ, त्रपा, आलस्यादि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं। यह आत्मस्थ व परस्थ भेद से दो प्रकार का होता है।[1] वाग्भट द्वितीय ने हास्य के तीन भेद किए हैं— स्मित, विहसित व अपहसित जो क्रमशः उत्तम, मध्यम व अधम प्रकृति में पाया जाता है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से ये स्पष्ट होता है कि इन जैनाचार्यों ने हास्य रस की उत्पत्ति विकृत वेषादि से ही स्वीकार की है तथा हास्य के भेद भी वही स्वीकार किए हैं जो अन्याचार्यों द्वारा मान्य हैं।

<u>करूण - रस</u> : करूण रस का स्थायिभाव शोक है। इष्ट वस्तु के नाश अथवा अनिष्ट की प्राप्ति होने पर इस करूणरस का आविर्भाव होता है। आचार्य भरत ने शाप, क्लेश, विनिपात, इष्टजन-वियोग, विभाव-नाश, वध, बन्ध, विद्रव, उपघात और व्यसन आदि विभावों से करूण रस की उत्पति मानी है।[3]

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने शोक से उत्पन्न रस को करूण कहा है। जिसमें पृथ्वी पर गिरना, रूदन, पीलापन, मूर्च्छा, वैराग्य, प्रलाप और अश्रुओं का वर्णन किया जाता है।[4]

---

1. अलंकारमहोदधि, 3/17 एवं वृत्ति
2. काव्यानुशासन, वाग्भट - पृ. 55
3. नाट्यशास्त्र, 6/61, पृ. 75
4. वाग्भटालंकार, 4/22

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार इष्टविनाश आदि विभाव वाला, देवोपालम्भ आदि अनुभाव तथा निर्वेद-ग्लानि आदि दुःखमय व्यभिचारिभाव वाला शोक नामक स्थायिभाव चर्वणीयता को प्राप्त होने पर करूण रस कहलाता है।[1] आदि पद से इष्टवियोग,अनिष्टसंप्रयोग, विभाव, देवोपालम्भ, निःश्वासता, नवमुखशोषण, स्वरभेद, अश्रुपात, वैवर्ण्य, प्रलय, स्तम्भ, कम्प, भूलुण्ठन, अंगों का ढीला पड़ जाना तथा आक्रन्दन आदि अनुभाव तथा निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, मोह, श्रम, त्रास, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, आलस्य, मरण प्रभृति दुःखमय ये व्यभिचारिभाव हैं।[2] करूणरस के उदाहरण रूप में उन्होंने कुमारसंभव का "अयि जीवितनाथ[3]...." इत्यादि श्लोक प्रस्तुत किया है।

रामचन्द्रगुणचन्द्र के अनुसार - मृत्यु - बंधन - धनभ्रंशादि इष्ट वस्तु के नाश तथा शाप - दिव्य प्रभाव वालों का आक्रोश विशेष और व्यसन - अनर्थादि जो अनिष्ट की प्राप्ति है। इन विभावों से उत्पन्न होने वाला - शोक स्थायिक करूण रस होता है। इसमें वाष्प, अश्रु,

---

1. इष्टनाशादिविभावो दैवोपालम्भाद्यनुभावो दुःखमय व्यभिचारी शोकःकरूणः।।
   काव्यानुशासन, 2/12
2. वही, वृत्ति, पृ. 116
3. वही, पृ. 116

विवर्णता, निश्वास, गात्र शिथिलतादि अनुभाव होते हैं। निर्वेद ग्लानि, चिन्तादि व्यभिचारी भाव होते हैं।[1]

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि भी इष्ट-नाश, अनिष्ट - संयोगादि से उत्पन्न दैवोपालम्भ, निःश्वास, अश्रुक्रन्दनादि अनुभावों, निर्वेद-ग्लानि, दैत्यादि व्यभिचारिभावों से युक्त शोक रूप स्थायिभाव वाला करूण रस मानते हैं।[2]

आ. वाग्भट द्वितीय ने आचार्य हेमचन्द्र के समान ही करूण रस का विवेचन किया है जिसमें करूण रस के विभाव, अनुभाव व व्यभिचारीभावों का उल्लेख करते हुए उसके स्थायिभाव पर प्रकाश डाला है।[3]

<u>रौद्र - रस</u> : रौद्ररस का स्थायिभाव क्रोध है। शत्रु द्वारा किये गये अपकार से इसकी उत्पत्ति होती है। आचार्य भरत इसे राक्षस, दानव और उद्धत पुरूषों के आश्रित मानते हैं। यह रस क्रोध, घर्षण, अधिक्षेप, अपमान, झूठ बचन, कठोर वाणी, द्रोह व मात्सर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है।[4]

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम के अनुसार शत्रु द्वारा तिरस्कृत होने पर रौद्र रस उत्पन्न होता है।[5] इसका नायक भीषण स्वभाववाला, उग्र और क्रोधी होता है। अपने कन्धे को पीटना, आत्मश्लाघा, अस्त्रादि का फेंकना,

---

1. हि. नाट्यदर्पण, 3/14 व विवरण
2. अलंकारमहोदधि, 3/18 व वृत्ति
3. काव्यानुशासन - वाग्भट, पृ. 55
4. नाट्यशास्त्र, 6/63, पृ. 75
5. वाग्भटालंकार, 5/29-30

भ्रुकुटि चढ़ाना, शत्रुओं की निन्दा तथा मर्यादा का उल्लंघन ये उसके अनुभाव हैं। हेमचन्द्र ने स्त्री – हरण, आदि विभाव, नेत्रों की लालिमा आदि अनुभाव और उग्रतादि व्यभिचारिभावों से युक्त क्रोधरूप स्थायिभाव वाला रौद्र रस कहा है।[1] आदि पद से स्त्रियों का अपमान, देश, जाति, अभिजन, विद्या, कर्म, निन्दा, असत्यवचन, स्वभृत्य अधिक्षेप, उपहास, वाक्यपारूष्य, द्रोह, मात्सर्य आदि विभाव, नयनराग, भ्रुकुटीकरण, दन्तोष्ठपीडन, गण्डस्फुरण, हाथों को रगड़ना, मारना, दो टुकड़े कर देना (पाटन), पीडन, प्रहरण, आहरण, शस्त्रसंपात, रूधिर निकाल देना, छेदन आदि अनुभाव तथा उग्रता, आवेग, उत्साह, विबोध, अमर्ष व चपलता आदि व्यभिचारिभावों को समाविष्ट किया गया है।[2]

शत्रु के प्रति शस्त्रादि व्यापार, असत्य, बध, बन्ध, वाक्पारूष्यादि और परगुणों के असूया – असहनजन्य मात्सर्य-विशेष, विद्या, कर्म, देश, जात्यादि की निन्दा व अपनीति आदि विभावों से क्रोध स्थायिक रौद्र रस होता है। इसका अभिनय अपने ही दांतों से ओष्ठों को काटने, भुजाओं को ठोकने, चीरफाड़ करने, शस्त्र प्रहार करने, मस्तक, भुजा, कबन्ध और कन्धों को हिलाने, मारने, पीटने, टुकड़े कर डालने, रक्त निकालने, भौंहें चढ़ाने, हाथ मलने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है। उग्रता,

---

1. दारापहारादिविभावो नयनरागाद्यनुभाव औग्र्यादि व्यभिचारी क्रोधो रौद्रः काव्यानुशासन, 2/13
2. वही, वृत्ति, पृ. 116

अमर्ष, रोमांच, वेपथु, स्वेद, चपलता, मोह, आवेग, कम्पनादि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।[1]

नरेन्द्रप्रभसूरि आ. हेमचन्द्र के समान रौद्र रस का वर्णन करते लिखते हैं कि स्त्री-हरणादि विभाव, नेत्र लालिमा आदि अनुभाव, उग्रता आदि व्यभिचारी भावों से युक्त क्रोध रूप स्थायिभाव वाला रौद्र रस होता है।[2]

वाग्भट द्वितीय का रौद्र रस विवेचन हेमचन्द्र का अनुगामी है।[3]

इस प्रकार रौद्ररस सम्बन्धी विवेचन में सभी आचार्यों में साम्य दृष्टिगत होता है।

वीर - रस : वीररस का स्थायिभाव उत्साह है। आचार्य भरत ने उत्साह नामक स्थायिभाव को उत्तम प्रकृतिस्थ माना है। उनके अनुसार वीर रस की उत्पत्ति असंमोह, अध्यवसाय, नीति, विनय, अत्यधिक पराक्रम, शक्ति, प्रताप और प्रभाव आदि विभावों से होती है।[4]

---

1. हि. नाट्यदर्पण, 3/15 व विवरण
2. अलंकारमहोदधि, 3/19
3. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ. 55
4. नाट्यशास्त्र, 6/66

वाग्भट प्रथम के अनुसार उत्साह नामक स्थायिभाव वाला वीर-रस तीन प्रकार का होता है— धर्मवीर, युद्धवीर व दानवीर। उन्होंने वीररस के नायक को समस्त श्लाघनीय गुणों से युक्त माना है।[1]

आ. हेमचन्द्र ने वीररस का लक्षण व उसके भेदों की गणना करते हुए लिखा है कि नय (नीति) आदि विभाव वाला, स्थैर्य (स्थिरता) आदि अनुभाव वाला तथा धृत्यादि व्यभिचारि भाव वाला उत्साह नामक स्थायिभाव-चर्वणीयता को प्राप्त होने पर, धर्मवीर, दानवीर और युद्धवीर भेद से तीन प्रकार का वीररस कहलाता है।[2] आदि पद से ग्राह्य विभावादि का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने वृत्ति में प्रतिनायकवर्ती नय, विनय, असंमोह, अध्यवसाय, बल, शक्ति, प्रताप, प्रभाव, विक्रम, अधिक्षेप आदि विभाव, स्थैर्य, धैर्य, शौर्य, गांभीर्य, त्याग, वैशारद्य आदि अनुभाव तथा धृति, स्मृति, उग्रता, गर्व, अमर्ष, मति, आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारिभाव की परिगणना की है।[3] नय विनय आदि का स्वरूप विवेक टीका में प्रस्तुत किया है।[4] तथा वीररस के तीन प्रकार के भेदों की पुष्टि में नाट्यशास्त्र की कारिका - "दानवीरं धर्मवीरंयुद्धवीरं तथैव च। रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि।।" प्रस्तुत की है। उन्होंने तीनों भेदों का एक ही उदाहरण- "अजित्वा सार्णवामुर्वीमनिष्ट्वा ...." इत्यादि उद्धृत किया है।[5]

---

1. वाग्भटालंकार, 5/21
2. काव्यानुशासन, 2/14
3. वही, वृत्ति, पृ. 117
4. वही, टीका, पृ. 117
5. वही, वृत्ति, पृ. 118

अन्त में वे रौद्र तथा वीररस का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं।[1]

रामचन्द्रगुणचन्द्र का कथन है कि पराक्रम-शत्रुमण्डलादि में आक्रमण, बल-सेना समुदाय, न्याय-सामादि उपायों का सम्यक् प्रयोग, यश-सर्वत्र शौर्य जन्य ख्याति, तत्त्वविनिश्चय - यथार्थ बातों का या वीरोचित बातों का निर्णय आदि विभावों से उत्साह स्थायिक वीररस उत्पन्न होता है। इसमें धैर्य-घोर संकट आने पर भी अविचलित रहना या निर्भीक रहना अथवा बुद्धिबल सन्तुलन रखना, सहायान्वेषणादि - अनुभाव हैं और धृति - मति - गर्व-स्मृति, तर्क रोमांचादि व्यभिचारी भाव हैं।[2] इन्होंने वीररस के निश्चित भेद नहीं माने हैं, अपितु युद्ध, धर्म, दान आदि गुणों तथा प्रतापाकर्षण आदि उपाधि भेदों से इसके अनेक भेद स्वीकार किए हैं।[3]

नरेन्द्रप्रभसूरि का वीररस विवेचन आ. हेमचन्द्र के समान है।[4] वाग्भट द्वितीय का वीररस विवेचन भी हेमचन्द्र सम्मत है।[5]

---

1. इह चापल्यंकनिमग्नतां स्वल्पसंतोषं मिथ्याज्ञानं चापास्य यस्तत्तव-निश्चयरूपोऽसंमोहाध्यवसायः स एव प्रधानतयोत्साहहेतुः। रौद्रं तु ममताप्राधान्यादशास्त्रितानुचितयुद्धाद्यपीति मोहविस्मयप्राधान्यमिति विवेकः। वही, वृत्ति, पृ. 118
2. हि. नाट्यदर्पण, 3/16
3. वही, 3/16 विवरण
4. न्यायादिबोध्यः स्थैर्यादिहेतुर्धृत्याद्युपस्कृतः।
   उत्साहो दान-युद्ध-धर्मभेदो वीररसः स्मृतः॥
   अलंकारमहोदधि, 3/20
5. काव्यानुशासन - वाग्भट, पृ. 56

भयानक रसः भयानक रस का स्थायिभाव भय है। इसकी उत्पत्ति भयानक दृश्यों को देखने से होती है। आचार्य भरत ने विकृत ध्वनि, भयानक प्राणियों के दर्शन, सियार और उल्लू के द्वारा त्रास, उद्वेग, शून्य - गृह, अरण्य - प्रवेश, मरण, स्वजनों के वध अथवा बन्धन के देखने - सुनने या कथन करने आदि विभावों से उसकी उत्पत्ति मानी है।[1]

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने भयानक वस्तुओं के दर्शन से भयानक रस की उत्पत्ति मानी है। यह रस प्रायः स्त्रियों, नीच व्यक्तियों तथा बालकों में वर्णित किया जाता है।[2]

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार विकृत - स्वर का श्रवण आदि विभाव, कर - कम्पन आदि अनुभाव व शंकादि व्यभिचारिभाव वाला भय नामक स्थायिभाव अभिव्यक्त होने पर भयानक रस कहलाता है।[3] हेमचन्द्र का यह कथन भरतमुनि से प्रभावित है। आदि पद से पिशाचादि का विकृत स्वर श्रवण, उसका देखना, स्वजनबध - बन्धन आदि का दर्शन, श्रवण, शून्यगृह, अरण्यगमन आदि विभाव, करकम्पन, चलदृष्टि निरीक्षण, हृदय, पाद-स्पन्दन, शुष्क औष्ठ, कण्ठ, मुखवैवर्ण्य, स्वरभेद आदि अनुभाव तथा शंका

---

1. नाट्यशास्त्र, 6/68
2. वाग्भटालंकार, 5/27
3. विकृतस्वरश्रवणादिविभावं करकम्पाद्यनुभावं शंकादिव्यभिचारि भयं भयानकः।।
   काव्यानुशासन, 2/15

अपस्मार, मरण, त्रास, चापल, आवेग, दैन्य, मोहादि व्यभिचारिभाव का समावेश किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र की मान्यतानुसार स्त्रियों व नीच प्रकृति के लोगों में भय स्वाभाविक रूप में और उत्तमप्रकृति के लोगों में कृतक (बनावटी) रूप में पाया जाता है।[1] आचार्य मम्मट के समान आचार्य हेमचन्द्र ने भी "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" से "ग्रीवाभंगाभिरामं.." इत्यादि श्लोक उद्धृत करके भयानक रस के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्रानुसार पताकारूपी कीर्ति से युक्त भीषण-संग्राम, विकृत शब्द, पिशाचादि का दर्शन, शृगाल, उलूक आदि का शब्द, भय, घबराहट, निर्जन वन, चोर व अन्य भयंकर दोषों के श्रवण दर्शनादि विभावादिकों से भयानक रस अभिव्यक्त होता है।[2] स्तम्भ, कम्पन व रोमांचादि इसके अनुभाव हैं। मुख व दृष्टि विकार, वैवर्ण्य, मूर्च्छादि भी इसके अनुभाव हैं। शंका, मोह, दैन्यावेग, चपलता त्रास आदि इसके व्यभिचारी भाव है।[3]

नरेन्द्रप्रभसूरि का कथन है कि क्रूर-स्वर श्रवणादि विभाव, कम्पनादि अनुभाव व शंकादि व्यभिचार भावों से युक्त भय नामक स्थायिभाव वाला

---

1. काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 118
2. हि. नाट्यदर्पण, 3/17
3. हि. नाट्यदर्पण, विवरण, पृ, 315-316

भयानक रस होता है।[1] उनका ये भयानक रस- विवेचन हेमचन्द्र से प्रभावित है।

इस प्रसंग में वाग्भट द्वितीय ने भी हेमचन्द्र सम्मत विवेचन ही प्रस्तुत किया है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से ये स्पष्ट होता है कि जैनाचार्यों द्वारा किया गया भयानक - रस - विवेचन भरत परम्परा का ही पोषक है।

<u>वीभत्स - रस :</u> इसका स्थायिभाव जुगुप्सा है। वीभत्स दृश्यों के दर्शन से इसकी उत्पत्ति होती है । आचार्य भरत ने भयानक रस की उत्पत्ति अहृद्य और अप्रिय पदार्थों को देखने, अनिष्ट वस्तु के श्रवण, दर्शन और परिकीर्तन आदि विभावों से मानी है।[3]

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने जुगुप्सा नामक स्थायिभाव से इसकी उत्पत्ति मानी है। उनके अनुसार अहृद्य वस्तु के श्रवण अथवा दर्शन इसमें विभाव एवं थूकना व मुख विकृति आदि इसके अनुभाव हैं। उनका कथन है कि इन थूकना आदि अनुभावों का वर्णन उत्तम जनों के सम्बन्ध में नहीं किया जाता है।[4]

---

1. कम्पादिकारणं क्रूरस्वरश्रुत्याद्युदंचितं भयंभवति शंकादिव्यभिचारी भयानकः।।
   अलंकारमहोदधि, 3/12
2. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ॰ 56
3. नाट्यशास्त्र, 6/72
4. वाग्भटालंकार, 5/31

हेमचन्द्र ने अहृद्य दर्शनादि विभाववाली, अंगसंकोच आदि अनुभाव वाली, अपस्मार आदि व्यभिचारिभाववाली जुगुप्सा, चर्वणीय दशा को प्राप्त होने पर वीभत्स रस कहलाती है[1] ऐसा माना है। आदि पद से उल्टी, घाव, पीप, कृमि – कीटादि का दर्शन, श्रवण आदि विभाव, अंगसंकोच, हृल्लास, नासा, मुख-विकूणन, आच्छादन, निष्ठीवन आदि अनुभाव तथा अपस्मार उग्रता, मोह, मद आदि व्यभिचारिभाव का समावेश किया गया है।[2] इसके उदाहरणरूप में आ. हेमचन्द्र "उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं..." इत्यादि उदाहरण प्रस्तुत किया है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने वीभत्स रस की अभिव्यक्ति अहृद्य, अप्रिय, अपवित्र एवं अनिष्ट वस्तुओं के दर्शन, श्रवण व उद्वेजन अर्थात् शरीर के हिलाने आदि रूप विभावों से होती है। अपने सभी अंगों का संकोचन, थूकना, मुख फेर लेना, नाक दबाना, आपस में अनजाने ही पैरों को पटकना, आँखों को टेढ़ा करना आदि इसके अनुभाव हैं और व्याधि, मोह, आवेग, अपस्मारादि व्यभिचारी भाव हैं।[3]

नरेन्द्रप्रभसूरि[4] एवं वाग्भट द्वितीय[5] दोनों का वीभत्स-रस विवेचन हेमचन्द्र सम्मत है।

---

1. काव्यानुशासन, 2/15
2. वही, वृत्ति, पृ. 119
3. हि. नाट्यदर्पण, पृ. 316
4. अरम्यालोकनाद्युत्था संकोचादिनिबन्धनम् ।
   वीभत्सः स्याज्जुगुप्साऽपस्मारादिव्यभिचारिणी।।
   अलंकारमहोदधि, 3/22
5. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ. 56-57

अद्भुत रस : इसका स्थायिभाव विस्मय है जिसकी उत्पत्ति आश्चर्य -जनक वस्तुओं के दर्शन से होती है। भरतमुनि ने इसकी उत्पत्ति दिव्य वस्तुओं के दर्शन, इच्छित वस्तु की प्राप्ति, उत्तम वन एवं देवालय में आने, विमान, माया, इन्द्रजालादि के दर्शन आदि विभावों से मानी है।[1]

वाग्भट प्रथम ने विस्मय स्थायिभाव वाले अद्भुत रस की उत्पत्ति असंभव वस्तु के दर्शन अथवा श्रवण से मानी है।[2]

हेमचन्द्र के अनुसार दिव्य-दर्शनादि विभाव वाला, नयनविस्तारादि अनुभाववाला और हर्षादि व्यभिचारिभाववाला, विस्मय नामक स्थायिभाव चर्वणीयता की स्थिति को प्राप्त होने पर अद्भुत रस कहलाता है।[3] आदि पद से दिव्य-दर्शन, ईप्सित मनोरथ की प्राप्ति, उपवन, देवकुल आदि गमन, सभा, विमान, माया, इन्द्रजाल अतिशायिशिल्पकर्म आदि विभाव, नयन-विस्तार, अनिमिष-प्रेक्षण, रोमांच, अश्रु, स्वेद, साधुवाद, दान हाहाकार, चेलांगुलिभ्रमण आदि अनुभाव तथा हर्ष, आवेग, जड़ता आदि

---

1. नाट्यशास्त्र, 6/74,
2. वाग्भटालंकार, 5/25
3. काव्यानुशासन, 2/16

व्यभिचारिभाव का समावेश वृत्ति में किया गया है।[1]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र अद्भुत रस की उत्पत्ति दिव्य विभूतियों इन्द्रजाल अथवा सुन्दर वस्तुओं के दर्शन तथा अभीष्ट सिद्धि से मानते हैं।[2] नयन - विस्तार, गद्गद् वचन, गात्र - वेपथु, - कम्पनादि अनुभावों से ये अभिनेय होता है। आवेग, जड़ता, संभ्रम, चपलता, उन्माद, रोमांचादि इसके व्यभिचारिभाव होते हैं।[3]

नरेन्द्रप्रभसूरि का अद्भुत - रस - विवेचन हेमचन्द्र के ही समान है[4] व वाग्भट द्वितीय का विवेचन भी हेमचन्द्र से प्रभावित है।[5]

शान्त रस : शान्तरस बहुत विवादास्पद है। नाट्य में इसकी सत्ता को तो स्वीकार ही नहीं किया जाता। इसलिये भरतमुनि द्वारा कथित आठ रसों को गिनकर आचार्य मम्मट ने इसकी गणना अलग से की है। धनंजय तो शान्तरस को मानते ही नहीं है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों ने काव्य में शान्तरस की सत्ता को स्वीकार किया है। शान्तरस

---

1. काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 119-20
2. हि. नाट्यदर्पण, 3/19
3. वही, विवरण, पृ. 316
4. दिव्यरूपावलोकादिस्मेरो हर्षाधिलंकृत:।
   दूरं नेत्रविकासादिकारणं विस्मयोऽद्भुत:।।
   अलंकारमहोदधि, 3/23
5. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ. 57

के स्थायी भाव के सम्बन्ध में भी वैमत्य है। कुछ लोग इसका स्थायिभाव शम मानते हैं तथा कुछ निर्वेद। नाट्यशास्त्र के एक प्रक्षिप्त पाठ के अनुसार आचार्य भरत ने शम नामक स्थायिभाववाले शान्तरस को मोक्षप्रवर्तक कहा है। इसकी उत्पत्ति तत्त्वज्ञान, वैराग्य और चित्तशुद्धि आदि विभावों के द्वारा होती है।[1]

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम सम्यग्ज्ञान से शान्तरस की उत्पत्ति मानते हैं। इसका नायक (पुत्रधनादि) की इच्छा से रहित होता है। यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति रागद्वेषादि के परित्याग से ही होती है।[2]

आ. हेमचन्द्र ने शान्तरस को नौ रसों में ही परिगणित किया है तथा उसका सोदाहरण लक्षण निरूपित किया है। वे लिखते हैं कि वैराग्यादि विभावों वाला, यम आदि अनुभावों वाला और धृत्यादि व्यभिचारिभावों वाला शम नामक स्थायिभाव चर्वणीयता को प्राप्त होने पर शान्तरस कहलाता है।[3] आदि पद से वैराग्य, संसार-भीरुता, तत्त्वज्ञान, वीतराग-परिशीलन, परमेश्वर अनुग्रह आदि विभाव, यम, नियम अध्यात्मशास्त्र चिंतन

---

1. नाट्यशास्त्र, बाबूलाल शुक्लशास्त्री, पृ. 350-351।
2. वाग्भटालंकार, 5/32
3. वैराग्यादिविभावो यमाद्यनुभावो धृत्यादिव्यभिचारी शमः शान्तः।
   काव्यानुशासन, 2/17

आदि अनुभाव तथा धृति, स्मृति, निर्वेद, मति आदि व्यभिचारिभाव का समावेश वृत्ति में कर लिया गया है।[1] आ. हेमचन्द्र ने तृष्णाक्षय को ही शम कहा है।[2] इस सन्दर्भ में उनकी विवेक टीका भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने शम की व्युत्पत्ति तथा विशेष अर्थ स्पष्ट किया है तथा भरतमुनि के द्वारा उपात्त निर्वेद स्थायिभाव की मान्यता का खण्डन करते हुए शम को ही शान्तरस का स्थायिभाव सिद्ध किया है। उनकी मान्यता है कि शम और शान्त को एकार्थक नहीं समझना चाहिए। हास और हास्य की भांति उसकी साध्यता सिद्ध होती है । उन्होंने लिखा है कि लौकिक और अलौकिक एवं साधारण और असाधारण के वैलक्षण्य से दोनों अलग - अलग सिद्ध होते हैं।[3]

आ. हेमचन्द्र शान्तरस को अन्य रसों से पृथक, सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि इसका विषय जुगुप्सा रूप होने से उसका वीभत्स में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है क्योंकि शान्तरस की जो जुगुप्सा (वैराग्य या संसार से विरक्ति) है, वह व्यभिचारिरूप से होती है। स्थायीरूप में नहीं। यदि जुगुप्सा को स्थायी मानकर फलपर्यन्त उसका निर्वाह किया जाएगा तो शान्तरस का समूल विनाश हो जाएगा । अतः शम व जुगुप्सा दोनों भिन्न

---

1. काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 120
2. तृष्णाक्षयरूपः शमः - वही, वृत्ति, पृ. 121
3. काव्यानुशासन, टीका, पृ, 121-123

हैं, जुगुप्सा में शम का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार धर्मवीर में भी इसका अन्तर्भाव करना उचित नहीं है, क्योंकि उसका स्थायी भाव उत्साह अभिमानयुक्त होता है और शम में अहंकार का प्रशम रूप रहता है अर्थात् अहंकार का अभाव होने पर ही शम कहलाता है। यदि दोनों को एक ही रूप में कल्पित किया जाय तो वीर और रौद्र में भी अन्तर नहीं रह जाएगा, वहां भी ऐसा ही प्रसंग आ जाएगा। इसलिए धर्मवीरादि चित्तवृत्ति विशेष के सर्वथा अहंकाररहित होने पर ही शान्तरस का पृथकत्व सिद्ध है। ऐसा न होने पर वीररस का प्रभेद ही सिद्ध होगा, इसमें भी कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार 9 अलग-अलग रस होते हैं।[1]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार - देव-मनुष्य-तिर्यक् (पशु - पक्षी) रूप से परिभ्रमण ही संसार है, ऐसे असार संसार से भयभीत होना, वैराग्य विषयों से विमुख होना, तत्त्व - पुण्यापुण्य या जीवाजीवादि का शास्त्रानुसार चिन्तन करना, इत्यादि विभावों से शम स्थायिक शान्त रस होता है।

इसमें सुख - दुःखादि द्वन्द्वों का सहन करना, क्षमा जीवाजीव अर्थात् जड़ व चैतन्य का विचार रूप ध्यान करना, मैत्री - करूणा मुदित

---

1. वही, वृत्ति, पृ, 123 - 124

-उपेक्षादि उपकार अनुभाव है। निर्वेद-मति-स्मृति-धृति आदि इसके व्यभिचारिभाव है।[1]

नरेन्द्रप्रभसूरि[2] एवं आ. वाग्भट द्वितीय[3]का शान्त-रस विवेचन हेमचन्द्र के समान है।

स्थायिभाव : सामान्यत: स्थायिभाव उन्हें कहा जाता है जो सहृदय के हृदय में सदैव विद्यमान रहते हैं। इनके स्थायी रूप से विद्यमान रहने के कारण ही इन्हें स्थायिभाव कहा जाता है। ये ही विभावादि का संयोग पाकर रसानुभूति कराते हैं। अन्य भावों से स्थायिभावों की यही महती विशेषता है कि अन्य सभी भावों का आगमन (उदय) होता है और एक निश्चित समय तक उपस्थित रहकर पुन: विलीन हो जाते हैं, किन्तु स्थायिभाव सदैव सहृदय के हृदय में विद्यमान रहते हैं। उनका यह स्थायित्व ही उन्हें स्थायिभाव की संज्ञा से विभूषित कराता है। आचार्य भरत के अनुसार जिस प्रकार मनुष्यों में राजा और शिष्यों में गुरू श्रेष्ठ होते हैं, उसी प्रकार समस्त भावो में स्थायिभाव महान् होता है।[4] उसके अनुसार

---

1. हि. नाट्यदर्पण, 3/20 व विवरण
2. वैराग्यादिविभावोत्थो यमप्रभृतिकार्यकृत् निर्वेदप्रमुखोर्जस्वी, शम: शान्तत्वमश्नुते अलंकारमहोदधि, 3/24
3. काव्यानुशासन - वाग्भट. पृ. 57
4. नाट्यशास्त्र, 7/8

उनके अनुसार स्थायिभावों की संख्या आठ है - रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा व विस्मय।[1] धनंजय के अनुसार जो भाव अपने विरोधी अथवा अविरोधीभावों के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता है, अपितु, लवणाकर (समुद्र) की तरह अन्य भावों को अपने सदृश बना लेता है, वह स्थायिभाव है।[2] उन्होंने भरत सम्मत आठ स्थायिभावों को ही स्वीकार किया है तथा अन्याचार्यों द्वारा कहे गये शम की नाट्य में पुष्टि न होने से उसे स्वीकार नहीं किया है।[3] इसी प्रकार निर्वेद को भी स्थायिभाव मानना उन्हें अभीष्ट नहीं है।[4]

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने नौ स्थायिभावों का उल्लेख किया है — रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय व शम।[5] ये नौ स्थायिभाव हेमचन्द्र[6] रामचन्द्रगुणचन्द्र[7], नरेन्द्रप्रभसूरि[8], वाग्भट द्वितीय[9] को भी समान रूप से मान्य हैं।

---

1. वही, 6/17
2. हि॰ दशरूपक, 4/34
3. वही, 4/35
4. वही, 4/36
5. वाग्भटालंकार, 5/4
6. काव्यानुशासन, 2/18
7. हि॰ नाट्यदर्पण, 3/24
8. अलंकारमहोदधि, 3/25
9. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ॰ 53

स्थायिभावों के प्रसंग में भावों का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने स्थायी और व्यभिचारी - दो प्रकार के भावों की चर्चा की है। वे लिखते हैं कि - चित्तवृत्तियां ही अलौकिक, वाचिक आदि अभिनय की प्रक्रिया के आरूढ़ होने पर अपने को लौकिक दशा में अनास्वाद्य होकर भी आस्वाद के योग्य बनाती हैं अथवा सामाजिक के मन में व्याप्त रहती हैं और मन को भावित करती हैं अतः भाव कहलाती हैं।

आचार्य हेमचन्द्र की मान्यता है कि प्रत्येक प्राणी में जन्म से ही ये नौ चित्तवृत्तियां रहती हैं। जन्म से ही प्रत्येक प्राणी इनके ज्ञान से युक्त रहता है, क्योंकि वह दुःख का विद्वेष करता है सुख को चाहता है और रमण करने की इच्छा से व्याप्त रहता है। इसमें वह अपने को उत्कर्षशाली मानकर परम उपहास करता है, उत्कर्ष का अभाव या विनाश होने की शंका से शोक करता है, अपाय (विनाश) के प्रति क्रोधित होता है, अपाय के हेतुओं का परिहार होने पर उत्साहित रहता है, विशेष पतन के भय से डरता है, अपने को कुछ अयुक्त मानकर जुगुप्सा करता है, अपने और दूसरों के द्वारा करने योग्य उन - उन वैचित्र्यपूर्ण दर्शनों से विस्मय करता है। कुछ छोड़ने की इच्छावाला वह वैराग्य के कारण शम का सेवन करता है। इतने प्रकार की वासनाओं (इच्छाओं) से शून्य या चित्तवृत्तियों से रहित प्राणी नहीं होता है। केवल किसी में कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है, कोई कम। किसी में

उचित विषय में नियंत्रित होती है, किसी में अन्य प्रकार से होती है। उनमें से कोई कोई ही चित्तवृत्ति पुरूषार्थोपयोगिनी होने से उपदेश्य होती है। उसी के विभाग के कारण ही उत्तम, मध्यमादि प्रकृति का व्यवहार प्राणियों में होता है।[1]

आ. हेमचन्द्र नौ प्रकार के स्थायिभावों का स्वरूप इस प्रकार हैं —

रति – स्त्री – पुरूषो में परस्पर आशाबन्धवाली रति कहलाती है।

हास – चित्त का विकास हास है।

शोक – वैधुर्यता शोक है।

क्रोध – तैक्ष्ण्यप्रबोध क्रोध है।

उत्साह – संरम्भ स्थैर्यको उत्साह कहते हैं।

भय– – विकलता ही भय है।

जुगुप्सा – अंगादि का संकोच ही जुगुप्सा है।

विस्मय – चित्त का विस्तार विस्मय है।

शम – तृष्णा का क्षय ही शम है।

ये लक्षण अतिसंक्षिप्त रूप से ही प्रस्तुत किये गये हैं जो कि मात्र पर्यायवाची ही प्रतीत होते हैं, किन्तु अपने आप में परिपूर्ण हैं। आचार्य

---

1. काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 124-125

हेमचन्द्र ने शान्तरस का स्थायिभाव शम मानते हुए कहा है कि यद्यपि कहीं - कहीं शम की अप्रधानता होती है फिर भी वह, व्यभिचारित्व रूप को प्राप्त नहीं होता, सर्वत्र स्वभावत्वेन स्थायित्व रूप में ही रहता है।[1]

आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने पूर्वोक्त नौ स्थायिभावों का स्वरूप निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है।[2]

रति - स्त्री और पुरूष के परस्पर प्रेम, जिसका पर्यायवाची आस्था -बन्ध भी है, को रति कहते हैं। यह (रति) कामावस्था से युक्त, अभिलाष मात्र व्यभिचारात्मक रति तथा देवता, बन्धु और मनोहर वस्तु में होने वाली प्रीति रूप रति से विलक्षण है।

हास - रंजन व उन्माद से संयुक्त चित्त का विकास हास है।

शोक - निर्वेदानुविद्ध दुःख ही शोक है।

क्रोध - अपकार करने की इच्छा और घृणा का कारण तथा परिताप का आवेश क्रोध है।

उत्साह - धर्म, दान व युद्धादि कार्यों में आलस्य न करना उत्साह है।

---

1. शमस्य तु यद्यपि क्वचिदप्राधान्यम् तथापि न व्यभिचारित्वं सर्वत्र प्रकृतित्वेन स्थायितमत्वात् ।
   काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 126
2. हि. नाट्यदर्पण 3/24 विवृत्ति।

भय – चित्त की विकलता ही भय है।

जुगुप्सा – कुत्सित का निश्चय हो जाना जुगुप्सा है।

विस्मय – उत्कृष्ट का निश्चय हो जाना विस्मय है।

शम – कामना का अभाव शम है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने रति के नैसर्गिकी, सांसर्गिकी, औपमानिकी आध्यात्मिकी, आभियोगिकी, साम्प्रयोगिकी, अभिमानिकी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच भेदों वाली वैषयिकी रति का सोदाहरण उल्लेख किया है।[1] रति का इस प्रकार सभेद विवेचन अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसी प्रकार उन्होंने हास आदि स्थायिभावों के भी स्मित, विहसित, अपहसित आदि भेदों की संभावना की है।[2] वे स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव के अन्तर को स्पष्ट करते लिखते हैं कि अपने अपने रस से अन्यत्र (दूसरे रस में) न जाने से तथा प्रत्येक समय (सर्वकाल) अपने (रस) में रहने से और अव्यभिचारि होने से रत्यादि भाव स्थायित्व की संज्ञा को प्राप्त होते हैं अर्थात् स्थायिभाव कहलाते हैं तथा हर्षादि भाव इससे विपरीत स्वभाव वाले होने से व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।[3]

इनने

1. अलंकारमहोदधि, 3/25 वृत्ति
2. एवं हासादीनामपि स्मित – विहसितापहसिताद्यः कतिचिद् भेदःसम्भवन्ति। वही, 3/25 वृत्ति
3. स्वस्वरसादन्यत्रानभिगामित्वात् सर्वकालमात्मनः सब्रह्मचारित्वाच्च रत्यादीनां स्थायित्वम्, हर्षादीनां तु तद्विपरीतत्वाद् व्यभिचारित्वम्। वही, 3/25 वृत्ति

शान्तरस का स्थायिभाव निर्वेद को न स्वीकार कर शम को माना है, जो यथार्थता के सन्निकट है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने रति के जिन नैसर्गिकी आदि बारह भेदों को स्वीकार किया है, वे अन्यत्र अनुपलब्ध हैं।

<u>विभाव</u> - विशेष प्रकार के भाव का नाम विभाव है, यह रत्यादि स्थायिभावों की उत्पत्ति में कारण है। आचार्य भरत ने विभाव का अर्थ विज्ञान किया है तथा कारण, निमित्त और हेतु को विभाव का पर्यायवाची कहा है।[1] जिसके द्वारा वाचिक, कायिक तथा सात्त्विक अभिनय विभाजित किये जाते हैं, वह विभाव कहलाता है।[2]

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने कुछ रसों के विभावों की गणना की है। हेमचन्द्र ने लिखा है कि वाचिक, कायिक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा जो स्थायी और व्यभिचारी चित्तवृत्तियों को विशेष रूप से ज्ञापित करते हैं, वे विभाव कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं - आलम्बन विभाव तथा उद्दीपन विभाव। ललनादि आलम्बन और उद्यानादि उद्दीपन विभाव हैं।[4] रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मत में - वासना रूप से स्थित, रसरूपता को प्राप्त होने वाले

---

1. नाट्यशास्त्र, पृ. 80
2. वही, पृ. 80
3. बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वांगंगाभिनयाश्रितः।
   अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः।।
   वही, 7/4
4. काव्यानुशासन, 2/1 वृत्ति

रत्यादि स्थायिभाव को विशेष रूप से भावित करते हैं अर्थात् विशेष रूप से आविर्भूत करते हैं वे ललना और उद्यानादिरूप क्रमशः विभाव कहलाते हैं।[1] आ. नरेन्द्रप्रभसूरि का कथन है कि युवक व युवती के सामने उपस्थित होने पर जिसको आलम्बन करके स्थायी और व्यभिचारीरूप भावों का जो क्षणभर में अनुभव कराते हैं, वे आलम्बन विभाव कहलाते हैं।[2] इसी प्रकार ज्योत्स्ना, उद्यानादि समृद्धि को आश्रय करते हुए स्थायी और व्यभिचारिरूप भावों को जो अत्यधिक उद्दीपित करते हैं, वे उद्दीपन-विभाव कहलाते हैं।[3] वाग्भट द्वितीय ने प्रत्येक रस के लक्षणप्रसंग में तद्सम्बन्धी रसविषयक विभावों का उल्लेख मात्र किया है।

भावदेवसूरि ने विभाव को रस का कारण बतलाते हुए नौ विभावों का एक पद्य मे संग्रह करके विभावों का संकेत मात्र किया है।[4]

---

1. वासनात्मया स्थितं स्थायिनं रसत्वेन भवन्तं विभावयन्ति अविर्भावना विशेषेण प्रयोजयन्ति इति आलम्बन-उद्दीपनरूपाललनोद्यानादयो विभावाः।
   हि. नाट्यदर्पण, 3/8 विवृत्ति
2. अलंकारमहोदधि, 3/26
3. वही, 3/27
4. काव्यालंकारसार, 8/2-3

अनुभाव - अनुभाव का शाब्दिक अर्थ है — भाव के पश्चात् उत्पन्न होने वाला। भरतमुनि के अनुसार अपने - अपने कारण से उद्बुद्ध इत्यादि को प्रकाशित करने वाला भाव "अनुभाव" कहलाता है। अनुभाव स्थायी से जन्य होता है। जैसे - विभाव स्थायी का कारण होता है, उसी प्रकार अनुभाव स्थायी का कार्य कहलाता है। भरतमुनि के अनुसार - ये अभिनय को वाणी, अंग और सात्त्विक भावों के द्वारा अनुभूति योग्य बनाते हैं, अतः अनुभाव कहलाते हैं — अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्वकृतोऽभिनय इति"।[1] धनंजय ने रत्यादि स्थायिभावों के संसूचक विकारों को अनुभाव कहा है।[2]

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने कुछ रसों के अनुभावों का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने अनुभाव का लक्षण इस प्रकार दिया है कि - स्थायिभाव और व्यभिचारिभावरूप सामाजिक सहृदय की चित्तवृत्ति विशेष का अनुभव करते हुए जिनके द्वारा साक्षात्कार किया जाता है, वे कटाक्ष-पात और भुजाक्षेपादि अनुभाव कहलाते हैं।[3] इस प्रसंग में रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि अनु अर्थात् लिंग के निश्चय के बाद (रस को) भावित अर्थात् बोधित करने वाले होने से (कार्यरूप) स्तम्भादि रस का कार्य अनुभाव कहलाते हैं।[4] फिर आगे

---

1. हिन्दी नाट्यशास्त्र, पृ. 374
2. हिन्दी दशरूपक, 4/3
3. काव्यानुशासन, 2/1 वृत्ति
4. हिन्दी नाट्यदर्पण, 3/8 विवृत्ति।

वे रसों के स्थायिभावों व व्यभिचारिभावों के कार्यभूत अनुभावों का प्रतिपादन करते लिखते हैं -- वेपथु(कम्प), स्तम्भ, रोमांच, स्वरभेद, अश्रु, मूर्च्छा, स्वेद और वैवर्ण्य आदि रस से उत्पन्न होने के कारण अनुभाव कहलाते हैं।[1] आदि शब्द से प्रसन्नता, उच्छ्वास, निश्वास, रोना-चिल्लाना, (उल्लुकसन) बाल नोचना, भूमि खोदना, लोटना-पोटना, नाखून-चबाना, भ्रुकुटि, कटाक्ष, इधर-उधर या नीचे देखना, प्रशंसा करना, हंसना, दान, चापलूसी और मुख का लाल पड़ जाना आदि अनुभाव भी गृहीत होते हैं। उनके अनुसार कहीं स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव भी अनुभाव हो सकते हैं। रसों के स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभावों के और अनुभावों के भी यथायोग्य सहस्त्रों अनुभाव हो सकते हैं।[2]

पूर्वकथित वेपथु आदि आठ अनुभावों का लक्षण वे इस प्रकार देते हैं --

वेपथु - भयादि के द्वारा शरीर का किंचित् विचलित हो जाना वेपथु है।[3]

स्तम्भ - हर्षादि के कारण यत्न करने पर भी अंगों की क्रिया का न होना तथा विषादसूचक "हा" इत्यादि शब्दों का होना स्तम्भ है।[4]

---

1. हि. नाट्यदर्पण, 3/45
2. हि. नाट्यदर्पण, विवरण पृ. 348
3. भयादेर्वेपथुर्गात्रस्पन्दो वागादिविक्रियः । वही, 3/46
4. यत्नेऽप्यंगाक्रिया स्तम्भो हर्षादेः, हा। विषादवान् ।।
   वही, 3/46

रोमांच – प्रिय के दर्शनादि से रोमों का खड़ा होना तथा अंगों का स्पर्शादि करना रोमांच है।[1]

स्वरभेद – मद आदि के कारण होने वाली शब्द की भिन्नता स्वर भेद है, यह हर्ष व हास्य को उत्पन्न करने वाला होता है।[2]

अश्रु – शोकादि के कारण उत्पन्न नयनजल अश्रु है, यह नथुने के फड़कने तथा नेत्रों के पोंछने के द्वारा अभिनेय है।[3]

मूर्च्छा – प्रहार या कोपादि के कारण उत्पन्न इन्द्रियों की असमर्थता मूर्च्छा कहलाती है। इसमें व्यक्ति भूमि पर गिर जाता है।[4]

स्वेद – श्रम आदि के कारण उत्पन्न होने वाला रोमजल का स्राव स्वेद है। पंखा झलने आदि के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।[5]

वैवर्ण्य – तिरस्कारादि के कारण उत्पन्न, मुख का विकार वैवर्ण्य है। इधर उधर देखने के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।[6]

---

1. रोमांचः प्रियदृष्ट्यादेः रोमहर्षोऽगमार्जनैः
   हि. नाट्यदर्पण 3/47
2. स्वरभेदः स्वरान्यत्वं मदादेर्हर्ष – हास्कृत
   वही 3/47
3. अश्रु नेत्राम्बु शोकाद्यैर्नासास्पन्दाक्षिरूक्षणैः।
   हि. नाट्यदर्पण, 3/48
4. मूर्च्छनं घात–कोपाद्यैरखग्लानिर्भूमिपातकृत्।
   वही, 3/48
5. स्वेदो रोमजलस्रावः श्रमादेर्व्यजनग्रहैः।
   वही, 3/49
6. छायाविकारो वैवर्ण्य क्षेपादेर्दिङ्निरीक्षणैः।
   हि. नाट्यदर्पण, 3/49

नरेन्द्रप्रभसूरि अनुभावों की गणना करते कहते हैं कि – जो कटाक्ष – पात, भुजाक्षेप, भ्रूभ्रमण, मुख-भ्रमण आदि घोर भावलीला आदिरूप जो स्तम्भादि सात्त्विक भाव हैं तथा जिनके द्वारा सामाजिक स्थायिभावों व संचारिभावों का अनुभव करते हैं, वे मेखला – स्खलन, श्वास, सन्ताप, जागरण, नथुनों का फड़कना और देवोपालम्भ आदि सभी अनुभाव हैं।[1] इस प्रकार इन्होंने उन्हीं आठ सात्त्विक भावों को गिनाया है जो रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा पूर्वोल्लिखित हैं। अन्तर मात्र ये है कि नरेन्द्रप्रभसूरि ने प्रत्येक सात्त्विक भाव (अनुभाव) का केवल उदाहरण प्रस्तुत किया है लक्षण नहीं जबकि रामचन्द्रगुणचन्द्र ने केवल लक्षण प्रस्तुत किया है उदाहरण नहीं।

वाग्भट द्वितीय ने प्रत्येक रस के लक्षण प्रसंग में उस – उस रस के अनुभावों का उल्लेख किया है। भावदेवसूरि ने भी रसों के अनुसार नौ अनुभावों का नामोल्लेख किया है।

व्यभिचारिभाव – लौकिक जगत् में जो स्थिति सहकारिभावों की होती है वही स्थिति काव्य जगत् में व्यभिचारिभावों की होती है। व्यभिचारिभावों का दूसरा नाम संचारीभाव है। संचरणशील होने से इनकी संचारिभाव संज्ञा सार्थक ही है। आचार्य भरत ने व्यभिचारिभाव की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर गतौ धातुः। धात्वर्थवागंगसत्त्वोपेतान् विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।[2] तात्पर्य यह है कि जो

1. अलंकारमहोदधि – 3/28-29
2. नाट्यशास्त्र, 2/27

विशेष रूप से रस के चारों ओर उन्मुख होकर गतिशील होते हैं, वे व्यभिचारिभाव कहलाते हैं, इनका संचरण, वाणी, अंग और सत्वादि के द्वारा होता है। उनके अनुसार व्यभिचारिभावों की संख्या तैतीस है - निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चलपता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।[1]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने व्यभिचारिभाव का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है- उसका तात्पर्य यह है कि "विविध धर्मों की ओर उन्मुख होकर संचरणशील होने के कारण तथा अपने धर्म का अर्पण करके स्थायिभावों का उपकार करने वाले व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।[2] भरतमुनि की परंपरा का अनुकरण करते हुए हेमचन्द्र ने 33 प्रकार के व्यभिचारिभावों का प्रतिपादन किया है जो इस प्रकार हैं —

धृति, स्मृति, मति, व्रीडा, जाड्य, विषाद, मद, व्याधि, निद्रा, सुप्त, औत्सुक्य, अवहित्था, शंका, चपलता, आलस्य, हर्ष, गर्व, उग्रता, प्रबोध, ग्लानि, दैन्य, श्रम, उन्माद, मोह, चिन्ता, अमर्ष, त्रास

---

1. नाट्यशास्त्र, 6/18-21
2. विविधाभिमुख्येन स्थायिधर्मोपजीवनेन स्वधर्मार्पणेन च चरन्तीति व्यभिचारिणः।
   काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 128

अपस्मार, निर्वेद, आवेग, वितर्क, असूया और मरण।

आ. हेमचन्द्र ने पर्यायवाची शब्दों के द्वारा इनका अर्थ स्पष्ट किया है और वही इनके लक्षण कहे जा सकते हैं। उनके अनुसार – धृति संतोष है। स्मृति स्मरण है। मति – अर्थ का निश्चय करना है। चित्त का संकोच व्रीडा है। अर्थ की अप्रतिपत्ति ही जड़ता है। विषाद मन की पीड़ा को कहते हैं। मद – आनन्दसंमोहसंभेद है। व्याधि – मन का सन्ताप है। मन का संमीलन ही निद्रा है। निद्रा की गाढ़ावस्था ही सुप्त है। काल की अक्षमता औत्सुक्य है। आकारगोपन ही अवहित्था है। अनिष्ट की उत्प्रेक्षा ही शंका है। चित्त का अनवस्थान चपलता है। पुरूषार्थों में अनादर ही आलस्य है। चित्त का प्रसन्न होना ही हर्ष है। दूसरे की अवज्ञा गर्व है। चण्डत्व ही उग्रता है। निद्रा समाप्ति ही प्रबोध है। बल का अपचय ग्लानि है। अनौजस्य ही दैन्य है। खेद ही श्रम है। चित्त का विप्लव उन्माद है। मूढ़ता ही मोह है। ध्यान करना ही चिन्ता है। प्रतिचिकीर्षा ही अमर्ष है। चित्त का चमत्कार ही त्रास है। आवेश ही अपस्मार है। स्वावमाननम् ही निर्वेद है। संभ्रम ही आवेग है। संभावना ही वितर्क है। अक्षम ही असूया है। मरणता मृति या मरण है।[1]

हेमचन्द्र ने उपर्युक्त तैतींस व्यभिचारिभावों में ही अन्य व्यभिचारिभावों का अन्तर्भाव कर लिया है। यथा – दम्भ का अवहित्था में, उद्वेग का निर्वेद में,

---

1. काव्यानुशासन, 2/19

क्षुधा - तृष्णा आदि का ग्लानि में।[1]

उन्होंने तैतीस प्रकार के व्यभिचारिभावों को स्थिति, उदय, प्रशम, संधि व शबलता धर्म वाला बतलाकर सभी के पृथक् पृथक् उदाहरण प्रस्तुत किये हैं तथा आगे के तैतीस सूत्रों में उनके विभाव और अनुभावों को सोदाहरण प्रतिपादित करते हुए व्यभिचारिभावों के स्वरूप का विवेचन किया है।[2]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि - रसोन्मुख स्थायिभाव के प्रति विशेष रूप से अनुकूल आचरण करने वाले (स्थायिभाव के पोषक) व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। अथवा स्थायिभाव के विद्यमान होने पर भी कभी कोई व्यभिचारिभाव नहीं होता है इसलिये व्यभिचारी होने से व्यभिचारिभाव कहलाते हैं अर्थात् अपने विभाव के होने पर भी न होने से और न होने पर भी होने से ये अपने विभावों के व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।[3] इनके अनुसार व्यभिचारिभावों की संख्या तैतीस है।[4] किन्तु आगे वे लिखते हैं कि इनके अतिरिक्त अन्य व्यभिचारिभाव भी हो सकते हैं, जैसे - क्षुधा, प्यास, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, रति, सन्तोष, क्षमा, मृदुता, सरलता, दाक्षिण्य आदि तथा स्थायिभाव तथा

---

1. वही, 2/19 वृत्ति
2. वही, 2/20-52
3. सोन्मुखं स्थायिनं प्रति विशिष्टेनाभिमुख्येन चरन्ति वर्तन्ते इति व्यभिचारिणः यद्वा व्यभिचरन्ति स्थायिनि सत्यपि केऽपि कदापि न भवन्तीति व्यभिचारिणः, स्वस्वविभावव्यभिचारिणः भावे भावात्, अभावे भावाच्च।।
   हि. नाट्यदर्पण, विवरण, पृ. 303-4
4. वही 3/25-27

अनुभाव भी व्यभिचारिभाव हो सकते हैं।[1]

पूर्वोक्त तैतीस व्यभिचारिभावों का आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इस प्रकार लक्षण प्रस्तुत किया है[2] -

निर्वेद :- तत्त्वज्ञान परक चित्तवृत्ति का नाम निर्वेद है। वह क्लेशों से उत्पन्न विरसता के कारण होता है और श्वास तथा ताप का कारण होता है।

निर्वेद के वर्णन - प्रसंग में नाट्यदर्पणकार, आचार्य मम्मट द्वारा जो निर्वेद को व्यभिचारिभाव स्वीकार करने के साथ-साथ, शान्त रस का स्थायिभाव स्वीकार किया गया है - उसका खण्डन करते लिखते हैं कि - "मम्मट ने तो व्यभिचारिभावों के निरूपण के प्रसंग में निर्वेद को शान्त रस का स्थायिभाव कहा है और रस-दोष प्रसंग में प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण करना दोष है" इस प्रकार कहकर शान्त रस के प्रति निर्वेद रूप व्यभिचारिभाव का ग्रहण करके स्वयं ही अपने कथन का खण्डन कर लिया है।[3] यहाँ नाट्यदर्पणकार

---

1. वही, 3/27, विवरण, पृ. 331
2. हि. नाट्यदर्पण, 3/28-44
3. मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्यशान्तरसं प्रति स्थायितां, "प्रतिकूल-विभावादिपरिग्रहः" इत्यत्रतु तमेव प्रति व्यभिचारितां च, ब्रुवाणः स्ववचन विरोधेन प्रतिहत इति।

   वही, विवरण, पृ. 332

के कथन का अभिप्राय मात्र इतना है कि स्थायिभाव के लिये स्थायित्व अपेक्षित है और व्यभिचारिभाव के लिए नहीं। अतः जो स्थायिभाव है वह व्यभिचारिभाव नहींहो सकता क्योंकि स्थायित्व व्यभिचारिभाव का लक्षण नहीं है और जो व्यभिचारिभाव है वह स्थायिभाव नहीं हो सकता क्योंकि अस्थायी रहना स्थायिभाव का लक्षण नहीं है। अतः निर्वेद शान्तरस का स्थायिभाव नही अपितु केवल व्यभिचारिभाव ही है। उस दशा में शान्तरस का स्थायिभाव शम होगा।

ग्लानि : पीडा का नाम ग्लानि है। वह वार्द्धक्य व श्रमादि विभावों से उत्पन्न होती है और कृशता तथा कम्पादि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली होती है।

अपस्मार : पिशाचादिरूप ग्रहों तथा वातपित्तादिरूप दोषों की विषमता से उत्पन्न बेचैनी अपस्मार कहलाती है और वह गर्हित व्यापारों से युक्त होता है।

शंका : अपने या दूसरे के दुष्कर्मों से मन का कम्पन शंका कहलाती है। और वह श्यामता आदि को उत्पन्न करने वाली होती है।

असूया : द्वेषादि के कारण सद्गुणों को (दूसरे के) सहन न कर सकना असूया है और वह सदा दूसरे के दोषों को देखने वाली होती है।

मद : ज्येष्ठादि में मद्यजन्य और निद्रा, हास्य तथा रोदन को उत्पन्न करने वाला आनन्द "मद" कहलाता है।

श्रम : रमण करने आदि के कारण उत्पन्न थकावट को श्रम कहते हैं और वह स्वेद तथा श्वासादि के कारण होता है।

चिन्ता : इष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने से अथवा अप्रिय की प्राप्ति से उत्पन्न मानसी पीड़ा को चिन्ता कहते हैं। वह इन्द्रियों की विकलता श्वास और कृशतादि की जननी होती है।

चपलता : रागद्वेषादि के कारण बिना विचारे जो कार्य करने लगता है वह चपलता है। और वह स्वेच्छाचारिता आदि की जननी होती है।

आवेग : अकस्मात् उपस्थित हो जाने वाले इष्ट या अनिष्ट से उत्पन्न क्षोभ आवेग कहलाता है और शरीर मन तथा वाणी में विकार का जनक होता है।

मति : शास्त्र तथा तर्क से उत्पन्न होने वाली नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा मति कहलाती है। और वह भ्रमोच्छेदन आदि की जननी होती है।

व्याधि : दोषों से उत्पन्न शारीरिक या मानसिक क्लेश व्याधि कहलाता है और वह अतिस्वर तथा कम्पादि का जनक होता है।

स्मृति : मिलते – जुलते सदृश पदार्थ को देखने आदि से उत्पन्न पूर्वदृष्ट अर्थ का ज्ञान स्मृति कहलाता है।

धृति : ज्ञान अथवा इष्ट प्राप्ति आदि से उत्पन्न सन्तोष धृति है। और वह शरीर की पुष्टि आदि का करने वाला होता है।

अमर्ष : तिरस्कारादि के कारण उत्पन्न बदला लेने की इच्छा अमर्ष कहलाती है। इसमें कम्पनादि अनुभाव होते हैं।

मरण : व्याधि आदि के कारण मरने की इच्छा करना मरण कहलाता है और वह इन्द्रियों को विकल करने वाला होता है।

मोह : प्रहारादि से उत्पन्न अचैतन्य "मोह" कहलाता है। इसमें चक्कर आना आदि होता है।

निद्रा : थकावट आदि से उत्पन्न इन्द्रियों के व्यापार का अभाव निद्रा कहलाती है। इससे सिर हिलने लगता है।

सुप्त : प्रबलनिद्रा का आना सुप्त नामक व्यभिचारिभाव है। इसमें बर्राना (स्वप्नायित)और मन सहित सब इन्द्रियो का विषयों से अत्यन्त वैमुख्य(मोहन)हो जाता है।

उग्रता : अपराध के कारण दुष्ट पुरूष के प्रति वध-बन्धादि द्वारा जो निर्दयता का प्रकाशन है वह उग्रता कहलाती है।

हर्ष : इष्ट की प्राप्ति के कारण मन की प्रसन्नता हर्ष होता है। इसमें स्वेद, अश्रु और गद्गदता हो जाती है।

विषाद : इष्ट वस्तु के न मिलने से चित्त का अनुत्साह "विषाद" कहलाता है। निःश्वास तथा चिन्ता के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

उन्माद : (भूतपिशाचादिरूप)ग्रह तथा (वात पित्तादि रूप)दोषों के कारण मन का पथभ्रष्ट हो जाना "उन्माद" कहलाता है और उसमें अनुचित कार्य करने लगता है।

दैन्य : आपत्तियों के कारण मन की विकलता दैन्य कहलाती है। (चेहरे की)कृष्णता व ढकने के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

व्रीडा : पश्चात्ताप अथवा माता-पितादि गुरूजनों की उपस्थित के कारण धृष्टता न करना, व्रीडा कहलाती है।

त्रास : भयंकर वस्तु को देखकर चकित हो जाना "त्रास" कहलाता है। शरीर के सिकोड़ने व काँपने के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

तर्क : वाद आदि के द्वारा एक पक्ष की संभावना तर्क कहलाती है। उससे अंगों का नचाना रूप अनुभाव उत्पन्न होता है।

गर्व : विद्यादि के कारण अन्यों की अवज्ञा करके अपने को बड़ा समझना "गर्व" कहलाता है।

औत्सुक्य :(इष्ट के) स्मरण आदि के कारण इष्ट के प्रति शीघ्रता आदि से अभिमुख प्रवृत्त होना औत्सुक्य कहलाता है।

अवहित्था : धृष्टता आदि से उत्पन्न विकार को छिपाने का यत्न अवहित्था कहलाता है। इसमें (आकार - विकृति को छिपाने के लिए) दूसरी क्रिया की जाती है।

जाड्य : इष्टादि से (अर्थात् इष्ट प्राप्ति की प्रसन्नता में) कार्य को भूल जाना जाड्य है। मौन तथा टकटकी लगाकर देखने के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

आलस्य : श्रम आदि के कारण कार्य में उत्साह का न होना आलस्य कहलाता है। जम्भाई आदि के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

विबोध : शब्दादि के कारण होने वाला निद्राभंग "विबोध" कहलाता है। तथा अँगड़ाई आदि अनुभाव होते हैं।

इस प्रकार ये नाट्यदर्पणकार द्वारा वर्णित तैंतीस व्यभिचारिभाव हुए।

नरेन्द्रप्रभसूरि को आ. हेमचन्द्र सम्मत व्यभिचारिभाव की व्याख्या अभीष्ट है।[1] उन्होंने तैंतीस व्यभिचारिभावों का नामोल्लेख करते हुए प्रत्येक का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया है।[2] आ. वाग्भट द्वितीय ने तैंतीस

---

1. विविधमाभिमुख्येन स्थायिधर्माणामुपजीवनेन स्वधर्माणां समर्पणेन च चरन्तीति व्यभिचारिणः
   अलंकारमहोदधि, 3/33 वृत्ति

2. वही, 3/31-50

व्यभिचारिभावों का नामोल्लेख किया है।[1] भावदेवसूरि ने "निर्वेदाद्यास्त्रय-स्त्रिंशद् भावास्तु व्यभिचारिणः" मात्र कहकर व्यभिचारिभावों का उल्लेख किया है।[2] इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किये गये उक्त व्यभिचारिभाव - विवेचन में कुछ नवीनतायें दृष्टिगत होती है। यथा - आ. हेमचन्द्र तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र को भरतमुनि सम्मत तैंतीस व्यभिचारिभावों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यभिचारिभाव भी स्वीकार है। आचार्य मम्मटनेजो निर्वेद को व्यभिचारिभाव के अतिरिक्त स्थायिभाव भी स्वीकार किया है, वह रामचन्द्र-गुणचन्द्र को अभीष्ट नहीं है।

सात्त्विक भाव : भरतमुनि ने मन से उत्पन्न होने वाले को सत्त्व कहा है और वह समाहित (एक निष्ठ) मन से उत्पन्न होता है तथा मन की एकनिष्ठता से सत्त्व की निष्पत्ति होती है।[3] अतः जिसकी उत्पत्ति में सत्त्व कारण हो वह सात्त्विक भाव कहलाता है। ये आठ प्रकार के होते हैं — स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

---

1. काव्या, वाग्भट - पृ. 57
2. काव्यालंकारसार 8/6
3. नाट्यशास्त्र, 7/93
4. वही, 7/93

इन सात्त्विक भावों में अनुभावत्व भी है, क्योंकि अनुभावों के सदृश ये भी नायक - नायिकादि आश्रय के विकार हैं।[1] तथापि इनकी गणना पृथक् की गई है -

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सात्त्विकभाव का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्रस्तुत करते हुए भरत के मन्तव्य का अनुकरण किया है। वे लिखते हैं कि "सीदत्यस्मिन् मन इति व्युत्पत्तेः सत्त्वगुणोत्कर्षात्साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तु सत्त्वम् तत्र भवाः सात्त्विकाः[2] अर्थात् इसमें मन खिन्न होता है तथा सत्त्वगुणों के उत्कृष्ट और श्रेष्ठ होने से प्राणात्मक वस्तु सत्त्व है, उससे उत्पन्न होने वाले सात्त्विक भाव कहलाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने भरतमुनि सम्मत आठ प्रकार के सात्त्विक भावों का ही विवेचन किया है।[3] आ. रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी सात्त्विक भाव के पूर्वोक्त आठ भेद ही स्वीकार किये हैं किन्तु आठ भेदों को अनुभाव कहा है।[4] तथा इनका उल्लेख अनुभावों के प्रसंग में किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने सात्त्विक भाव के हेमचन्द्र सम्मत उक्त आठ भेद ही स्वीकार किए हैं।[5] वाग्भट द्वितीय ने भी आठ सात्त्विक भावों की गणना की है।[6]

---

1. जैनाचार्यों काअलंकारशास्त्र में योगदान, पृ. 134
2. काव्यानुशासन, 2/53 वृत्ति।
3. वही, 2/54
4. हि. नाट्यदर्पण, 3/45
5. अलंकारमहोदधि 3/30
6. काव्यानुशासन - वाग्भट, पृ. 58

इस प्रकार सभी आचार्यों को सात्त्विकभाव के उक्त आठ प्रकार ही मान्य है। साथ ही उनके द्वारा प्रतिपादित सात्त्विकभाव और उसके भेदों के स्वरूप में भी साम्य प्रतीत होता है। मात्र रामचन्द्र-गुणचन्द्र की अपनी एक विशिष्टता है कि उन्होंने उक्त सात्त्विकभावों को अनुभावों की श्रेणी में रक्खा है। यद्यपि उक्त आठ भावों को बहुआचार्यों ने सात्त्विक भावों की ही संज्ञा दी है तथापि यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो इनमें अनुभावों की भी परिभाषा पूर्णतः घटती है। क्योंकि नायक-नायिका में परस्पर होने वाले दर्शनादि के पश्चात् ही उक्त भावों के चिन्ह प्रतीत होते हैं। अतः अनुभावों के प्रसंग में रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा यदि उक्त भावों की गणना की जाती है तो यह उनकी सूक्ष्म व तीक्ष्ण दृष्टि का ही प्रतिफल है।[1]

रसाभास, भावाभास - भरतमुनि प्रभृति काव्य-नाट्य विद्वानों ने रस तथा भाव आदि की अभिव्यंजना हेतु कुछ नियम निर्धारित किये हैं। वे नियम शास्त्र मर्यादा या लोक - मर्यादा को ध्यान में रखकर निश्चित किये गये हैं। इसी से मुनिपत्नी - विषयक रति आदि का वर्णन प्रतिषिद्ध या वर्जित माना गया है। इसी प्रकार अन्य रसों में भी कुछ वर्णन प्रतिषिद्ध माने जाते हैं। यहाँ पर शास्त्र तथा लोक का उल्लंघन करने वाले प्रतिषिद्धविषयक वर्णन ही अनुचितरूप में प्रवृत्त होने वाले कहे गये हैं। जो रस या भाव अनुचित रूप में प्रवृत्त होते हैं वे ही रसाभास या भावाभास कहलाते हैं। यह अनौचित्य अनेक प्रकार का

---

1. द्रष्टव्यः जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान, पृ. 135

हो सकता है। उसका निर्णय सहृदय पुरूषों की व्यवस्थानुसार ही हो सकता है, जैसे, रति के विषय में ही अनौचित्य के अनेक रूप हो सकते हैं। एक स्त्री का एक पुरूष के प्रति प्रेम उचित है, परन्तु यदि एक स्त्री का अनेक पुरूषों के प्रति प्रेम का वर्णन किया जाय तो वह अनुचित होने से "रसाभास" की कोटि में आयेगा। इसी प्रकार गुरू आदि को आलम्बन बनाकर हास्य रस का प्रयोग, अथवा वीतराग को आलम्बन बनाकर करूण आदि का प्रयोग, माता-पिता विषयक रौद्र तथा वीररस का प्रयोग, वीरपुरूषगत भयानक का वर्णन, यज्ञीय पशु आदि को आलम्बन बनाकर वीभत्स को, ऐन्द्रजालिक आदि विषयक अद्भुत और चाण्डाल आदि विषयक शान्तरस का प्रयोग भी अनुचित माना गया है, इसलिये वे सब रसाभास के अन्तर्गत होते हैं।[1] साहित्यदर्पणकार ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है।[2]

इस प्रकार जहाँ रस का आभास मात्र हो, वह रसाभास कहलाता है। वहाँ वास्तविक रस का अभाव होता है। इसी प्रकार जहाँ भाव आभास

---

1. काव्यप्रकाश, विश्वेश्वर - पृ. 141-42
2. उपनायकसंस्थायां मुनिगुरूपत्नीगतायां च।
   बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।।
   प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।
   शृंगारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगते कोपे।।
   शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये।
   बह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे।।
   उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र।
   साहित्यदर्पण, 3/263-266 का पूर्वार्द्ध

मात्र हो, वह भावाभास कहलाता है। वहाँ वास्तविक भाव का अभाव होता है। आचार्य मम्मट ने देवादिविषयक रति को भाव कहा है तथा आदि पद से मुनि, गुरू, नृप, पुत्रादि विषयक रति का ग्रहण किया है। वे केवल कान्ताविषयक रति की अभिव्यक्ति को ही श्रृंगार मानते हैं।[1]

इसी प्रकार का विवेचन जैनाचार्य हेमचन्द्र ने किया है। वे लिखते हैं कि "देवमुनिगुरूनृपपुत्रादिविषया तु भाव एव न पुना रसः।"[2] आ. हेमचन्द्र ने आ. मम्मट का ही शब्दशः अनुकरण किया है।

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार इन्द्रियरहित तथा तिर्यगादि में क्रमशः संभोगादि रस तथा भाव का आरोप करना रसाभास तथा भावाभास कहलाता है।[3] इसी प्रकार संभोगादि रसों एवं भावों के अनुचित रूप से वर्णन अर्थात् परस्पर अनुराग का अभाव होने पर भी अनुरक्ति वर्णन इत्यादि को भी रसाभास व भावाभास कहा है।[4]

---

1. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः भावः प्रोक्तः।
   आदि शब्दान्मुनिगुरूनृपपुत्रादिविषया, कान्ता विषया तु व्यक्ता श्रृंगारः।
   काव्यप्रकाश, वि0 4/35 व वृत्ति
2. काव्यानु, वृत्ति, पृ. 107
3. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु, चारोपाद्रस भावाभासो।
   वही, 2/54
4. वही 2/55

वैसे तो आ० मम्मट व आ० हेमचन्द्र का रसाभास व भावाभास विषयक विवेचन मिलता जुलता ही है किन्तु आ० हेमचन्द्र की प्रतिपादन शैली व उदाहरण द्वारा किया गया निरूपण मम्मट की तुलना में अधिक श्रेयस्कर तथा महत्वपूर्ण है। इतने अधिक उदाहरण अन्य किसी भी आचार्य ने नहीं दिये हैं। आ० हेमचन्द्र ने रसाभास व भावाभास को समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, श्लेष, आदि अलंकारों का जीवित तत्त्व माना है।[1] नरेन्द्रप्रभसूरि का रसाभास - भावाभास विवेचन हेमचन्द्राचार्य के समान है।[2]

हेमचन्द्राचार्य व नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा अनौचित्य पद का प्रयोग, आनंदवर्धन के "अनौचित्याद्गते नान्यद्‌ रसभंगस्य कारणम्" कथन से प्रभावित प्रतीत होता है।

अस्तु, उक्त जैनाचार्यों द्वारा रस के प्रत्येक अंग पर विचार किया गया है जो कतिपय विशिष्टताओं से युक्त होते हुए भी सामान्यतः भरत-परम्परा का निर्वाहक है।

---

1. रसाभासस्य भावाभासस्य च समासोक्त्यर्थान्तरन्यासोत्प्रेक्षारूपकोपमा-श्लेषादयो जीवितम् ।।
   काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ० 149

2. आभास रस - भावानामनौचित्यप्रवर्त्तनात्।
   आरोपात् तिर्यगाद्येषु वर्जितेष्विन्द्रियैरपि।।
   अलंकारमहोदधि 3/53

चतुर्थ अध्याय: दोष विवेचन

यद्यपि काव्य में दोषों का अभाव ही माना गया है, अत: काव्याङ्ग के रूप में दोषाभाव की ही विवेचना होनी चाहिए किन्तु अभाव का ज्ञान अभाव के प्रतियोगी के ज्ञान के बिना संभव नहीं है , अत: दोषाभाव के ज्ञान के लिये दोषों का ज्ञान आवश्यक है। अतएव सभी काव्यशास्त्र के आचार्य अपने ग्रन्थों में काव्य - दोषों का भी विवेचन करते चले आए हैं।

दोष - विवेचन सर्वप्रथम आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है।[1] आ. भामह सदोष काव्य को कुपुत्र के सदृश निन्दनीय कहते हैं।[2] आचार्य दण्डी काव्य में अल्प-दोष को भी मानव शरीर में कुष्ठ-दाग के समान मानते हैं।[3] इसी प्रकार जैनाचार्य वाग्भट - प्रथम ने अदुष्ट काव्य को यश तथा स्वर्ग प्राप्ति का साधन कहा है ।[4]

दोष - स्वरूप :

भरतमुनि गुण को दोष का विपर्यय मानते हैं ।[5] जबकि आचार्य वामन दोष को गुण का विपर्यय मानते हैं ।[6] आधुनिक विद्वान डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि गुणों को ही दोषों का विपर्यय कहना वैज्ञानिक है,

1. नाट्यशास्त्र, 17/88-95
2. काव्यालंकार, 1/11
3. काव्यादर्श, 1/7
4. वाग्भटालंकार, 2/5
5. एत एव विपर्यस्ता गुणा: काव्येषु कीर्तिता:
   नाट्यशास्त्र, 17/95
6. गुणविपर्ययात्मानो दोषा:।
   काव्यालंकारसूत्र, 2/2/1

दोषों को गुणों का विपर्यय कहना एक विपरीत क्रिया है।[1] ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन अनौचित्य को ही काव्य-दोष स्वीकार करते हैं।[2] आ. मम्मट आनन्दवर्धन का ही अनुकरण करते हुए लिखते हैं कि - जिससे मुख्यार्थ का अपकर्ष होता है वह दोष है, और काव्य में रस भावादि ही मुख्यार्थ हैं।[3] परवर्ती आचार्यों ने इसी दोष-स्वरूप का प्राय: अनुसरण किया है।

जहाँ तक जैनाचार्यों द्वारा दोषस्वरूपादि विवेचन का प्रश्न है, तो उन्होंने इसका वर्णन इस प्रकार किया है -

जैनाचार्य हेमचन्द्र की विचारधारा मम्मट की विचारधारा से बहुत साम्य रखती है। मम्मट की भांति उन्होंने भी पहले दोष का सामान्य लक्षण दिया है। उन्होंने गुण और दोष इन दोनों का एक ही कारिका के द्वारा सामान्यतया लक्षण दे दिया है। वे "रस के अपकर्षक हेतुओं को दोष कहते हैं अर्थात् जिसके द्वारा रसानुभूति में बाधा उपस्थित होती है, उसे काव्य-दोष कहते हैं। ये दोष रस के ही आश्रित होते हैं, किन्तु गौणरूप से वे शब्द और अर्थ के भी अपकर्षक होते हैं।[4] क्योंकि शब्द और अर्थ रस के उपकारक होते हैं, अतएव परस्पर या शब्द और अर्थ के भी अपघातक को

---

1. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान से उद्धृत,
   पृ. 141
2. अनौचित्याद्दृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
   ध्वन्यालोक, पृ. 259
3. मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्य:
   काव्यप्रकाश, 7/49
4. रसस्योत्कर्षापकर्षहेतु गुणदोषो, भक्त्याशब्दार्थयो:
   काव्यानुशासन, 1/12

दोष कहते हैं।

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि वैचित्र्य के लोप को दोष मानते हैं, वह विशेष रूप से रस की क्षति होने पर होता है और गौण रूप से शब्द और अर्थ की क्षति होने पर ।[1]

दोष - भेद :

काव्यगत दोषों की संख्या में उत्तरोत्तर विकास हुआ है। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने दस दोषों का उल्लेख किया है - गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायदपेत, विषम, विसन्धि एवं शब्दच्युत ।[2] इसके पश्चात आचार्य भामह ने अपने काव्यालङ्कार में चार स्थलों पर दोषों का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम छः काव्य दोषों को गिनाया है - नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् और गूढशब्दाभिधान [3] । तदनन्तर श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट - ये चार वाणी दोष कहे हैं ।[4] इसी क्रम में मेधावी के अनुसार हीनता, असंभव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य और असदृशता नामक सात दोषों का विवेचन किया है ।[5] तत्पश्चात् काव्यसौन्दर्य के घातक अठारह प्रकार के दोषों का उल्लेख किया है- अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट,

---

1. वैचित्र्यव्याहतिर्दोषः सा च भूम्ना रसक्षतेः।
   तद् ध्रुवं रस एवैषः भक्त्या शब्दार्थयोः पुनः।।
   अलंकारमहोदधि, 5/1
2. नाट्यशास्त्र, 17/88
3. काव्यालंकार, 1/37
4. वही, 1/47
5. काव्यालंकार, 2/39-40

भिन्नवृत्त, विसन्धि, देशविरोधी, कालविरोधी, कलाविरोधी, लोक विरोधी, न्यायविरोधी, आगमविरोधी, प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन और दृष्टान्तहीन ।[1]

इस प्रकार आचार्य भरत की तुलना में भामह ने काव्य – दोषों की संख्या में वृद्धि की है, जबकि भामहाचार्य के ही समकालीन आचार्य दण्डी ने मात्र दस दोषों का ही विवेचन किया है जिसका भामह ने पहले ही प्रतिपादन कर दिया था। दण्डी के दस दोष हैं – अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, और देश – काल – कला – लोक – न्याय – आगम विरोधी ।[2] अतः दोष-प्रसंग में दण्डी ने कोई नवीन बात नहीं कही है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने श्रुतिकुटत्व, ग्राम्यत्व और असभ्यत्व इन तीन दोषों का विभिन्न प्रसंगों में नामोल्लेख किया है तथा पाँच रस – दोषों का भी विवेचन किया है, किन्तु अनौचित्य को उन्होंने रस – भंग का सबसे प्रमुख दोष माना है।[3]

आचार्य मम्मट का दोष – विवेचन सर्वाधिक विस्तृत है। काव्य सम्बन्धी जितने अधिक दोष संभव हो सकते थे प्रायः उन सभी को आचार्य मम्मट ने गिना दिया है। उनके द्वारा प्रतिपादित लगभग सत्तर (70) दोष हैं जिन्हें उन्होंने कई भागों में विभक्त करके प्रतिपादित किया है –

---

1. वही, 4/1–2
2. काव्यादर्श, 3/125–126
3. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान
   पृ. 146

शब्ददोष, अर्थदोष और रसदोष। पुनः शब्ददोष के तीन भेद किए हैं - पददोष, पदांश दोष और वाक्यदोष। इस प्रकार मम्मटसम्मत समस्त दोषों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - §1§ पददोष, §2§पदांश-दोष, §3§ वाक्यदोष, §4§ अर्थदोष और §5§ रसदोष।

यद्यपि परवर्ती जैनाचार्य मम्मटानुगामी है तथापि किसी - किसी जैनाचार्य, विशेषतः हेमचन्द्राचार्य ने पद और वाक्य में सम्मिलित उभयदोषों को भी स्वीकार किया है। अतः इन समस्त दोषों का विवेचन क्रम इस प्रकार वर्णित करना सम्यक् होगा - §1§ पददोष, §2§ पदांश-दोष, §3§ वाक्य - दोष, §4§ उभय-दोष, §5§ अर्थ - दोष और §6§ रस - दोष।

पद दोष :

सुप् अथवा तिङ् प्रत्यय से युक्त शब्द पद कहलाता है,[1] और उस पद में रहने वाले दोषों को पददोष कहते हैं। आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश के सप्तम उल्लास में सर्वप्रथम सोलह पददोषों का उल्लेख किया है - §1§ श्रुतिकटु, §2§ च्युतसंस्कृति, §3§ अप्रयुक्त, §4§ असमर्थ, §5§ निहतार्थ, §6§ अनुचितार्थ, §7§ निरर्थक, §8§ अवाचक, §9§ अश्लील, §10§ संदिग्ध, §11§ अप्रतीत, §12§ ग्राम्य, §13§ नेयार्थ, §14§ क्लिष्ट, §15§ अविमृष्ट विधेयांश, और §16§ विरूद्धमतिकृत ।[2]

1. "सुप्तिङन्तं पदम्।" - अष्टाध्यायी 1/4/14
   लघुसिद्धान्तकौमुदी से उद्धृत
2. काव्यप्रकाश, 7/50-51

जैनाचार्य वाग्भट – प्रथम ने आठ पद-दोषों का उल्लेख किया है- §1§ अनर्थक, §2§ श्रुतिकटु, §3§ व्याहतार्थ, §4§ अलक्षण, §5§ स्वसंकेत-प्रक्लृप्तार्थ, §6§ अप्रसिद्ध §7§ असम्मत, और §8§ ग्राम्य ।[1] इनके लक्षण इस प्रकार हैं —

§1§ <u>अनर्थक</u> : जो पद प्रस्तुत विषय के अनुकूल न हो उसे अनर्थक कहते हैं। यथा – मैं लम्बोदर गणेशजी की स्तुति करता हूं।[2] यहाँ पर विनायक §गणेशजी§ के प्रसंग में "लम्बोदर" विशेषण अनुपयुक्त होने के कारण काव्य में अनर्थक नामक दोष उत्पन्न करता है।

§2§ <u>श्रुतिकटु</u> : काव्य में अत्यन्त कर्णकटु अक्षरों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले दोष को आचार्यों ने "श्रुतिकटु" कीसंज्ञा प्रदान की है। यथा – इस सुन्दरी को सृष्टा (ब्रह्मा)ने एकाग्रचित से बनाया है, ऐसा मैं मानता हूं।[3] यहाँ "सृष्टा" पद में टकार और रकार का प्रयोग दूषित है क्योंकि ये दोनो कर्कश वर्ण हैं।

§3§ <u>व्याहतार्थ</u> : ऐसे पद का प्रयोग जिससे इष्टार्थ के अतिरिक्त, अन्य अर्थ का प्रतिपादन होता है और वह §अन्य अर्थ§ इष्टार्थ में बाधा डालता हो "व्याहतार्थ" नामक दोष कहलाता है। यथा – हे राजन् । मात्र आप ही पृथ्वी के उपकार §भूतलोपकृतौ§ में लगे हैं ।[4] यहाँ "भूतलोपकृतौ" पद

1. वाग्भटालंकार, 2/6-7
2. वही, 2/8
3. वही, 2/9
4. वही, 2/10

"प्राणियों के विनाश में लगे हैं" इस विपरीत अर्थ का भी बोधक होने से व्याहतार्थ दोष है।

§4§ अलक्षण : जो पद व्याकरणविरूद्ध हो उसे "अलक्षण" दोष कहते हैं। यथा - "मानिनी स्त्रियों के मान-मर्दन करने वाले चन्द्रमा की विजय हो [1] §यथेन्दुर्विजयत्यसौ§ । यहाँ विजयति पद का प्रयोग व्याकरण - शास्त्र के विरूद्ध होने से अलक्षण दोष है।

§5§ स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ : जहाँ किसी प्रसिद्ध एवं सर्वविदित अर्थ के विपरीत कवि स्वकल्पित अर्थ में किसी पदविशेष को प्रयुक्त करता है। यथा - यह पर्वत पुष्पराशिमण्डित वानरध्वज §अर्जुन§ के वृक्षों से सुशोभित हो रहा है।[2]

"वानरध्वज" शब्द साधारणतया पाण्डुपुत्र अर्जुन के लिये ही रूढ़ है, किन्तु यहाँ कवि ने उसे स्वकल्पित अर्जुन नामक वृक्ष के अर्थ में प्रयुक्त किया है। अतएव यहाँ "स्वसंकेतप्रक्लृपतार्थ" नामक दोष है।

§6§ अप्रसिद्ध : अप्रसिद्ध एवं अप्रचलित अर्थ में किसी पद को प्रयुक्त करने से अप्रसिद्ध नामक दोष उत्पन्न होता है। यथा - हे राजेन्द्र । आप की सुकीर्ति चारों समुद्रों तक जा चुकी है। §"राजेन्द्र भवतः कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन्।§[3]

---

1. वाग्भटालंकार, 2/11
2. वही, 2/12
3. वही, 2/13

यद्यपि व्याकरण - शास्त्र में हन् धातु हिंसा और गमन (हन् हिंसागत्योः) इन दोनों अर्थों में पठित है किन्तु कवियों द्वारा हन् धातु का प्रयोग हिंसा अर्थ में ही प्रसिद्ध होने से यहाँ अप्रसिद्ध दोष है।

(7) <u>असम्मत</u> : जो पद किसी अर्थ को प्रकट करने में समर्थ होते हुए भी सर्वमान्य नहीं होता उस (पद) का प्रयोग "असम्मत" नामक दोष की उद्भावना करता है। यथा - सूर्य की रश्मियाँ अम्भोज (अन्धकार) के कीचड़ (अथवा अंधकार रूप कीचड़) को धोती हैं।[1] यहाँ यद्यपि "अंभोज" पद कीचड़ का बोध कराने में समर्थ है, तथापि अंभोज पद का यह अर्थ सर्वसम्मत नहीं है। अतः यहाँ "असम्मत" दोष है।

(8) <u>ग्राम्य</u> : जहाँ कोई पद प्रसंग विशेष में अनुचित होने पर भी प्रयुक्त हो वहाँ "ग्राम्य" दोष समझना चाहिए। यथा - देवताओं को पुष्पों से आच्छादित करके मैं उनके आगे धान्य - हविष् इत्यादि फेंकता हूँ।[2] यहाँ देवताओं को पुष्पों से ढंकना और सामने धान्य फेंकना दोनों ग्राम्य प्रयोग होने से ग्राम्य दोष हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने मात्र दो पद - दोषों को स्वीकार किया है - (1) निरर्थकत्व, और (2) असाधुत्व।[3]

---

1. वही, 2/14
2. वही, 2/15
3. निरर्थकासाधुत्वे पदस्य। (काव्यानुशासन, 3/4

§1§ निरर्थकत्व – पादपूर्ति हेतु "च", "हि" इत्यादि पदों का प्रयोग निरर्थक पददोष कहलाता है।[1] मम्मट की भाँति आचार्य हेमचन्द्र ने इसका यथावत् प्रतिपादन किया है। पदांश की निरर्थकता का उदाहरण भी आचार्य हेमचन्द्र ने इसी के साथ प्रस्तुत कर दिया है जो कि मम्मट से मिलता है।[2] उन्होंने प्रत्युदाहरण प्रस्तुत करने के बाद यह भी स्पष्ट किया है कि यमकादि अलंकार में निरर्थक दोष नहीं होता ऐसा किसी ने माना है।[3]

§2§ असाधुत्व – व्याकरण शास्त्रविरुद्ध पदों का प्रयोग करना असाधुदोष है।[4] जैसे – "उन्मज्जन्मकर – – – – भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः पद्य में "आजघ्ने" पद असाधु है क्योंकि हन् धातु अकर्मक है। यह आत्मनेपद में अप्राप्त है। आचार्य मम्मट ने जिसे च्युतसंस्कृति नाम से प्रतिपादित किया है उसी को हेमचन्द्राचार्य ने असाधु नाम दिया है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार अनुकरण में असाधुदोष नहीं रहता है, जैसे – "पश्येषं च गवित्याह।"[5]

---

1. तत्र चादीनां निरर्थकत्वम्। वही, वृत्ति पृ. 199
   तुलनीय – काव्यप्रकाश, वृ.पृ. 269
2. काव्यप्रकाश, पृ. 296 एवं काव्यानुशासन, वृ.पृ. 200
3. यमकादौ निरर्थकत्वं न दोष इति केचित्।
   §काव्यानु. वृत्ति, पृ. 200§
4. शब्दशास्त्रविरोधोऽसाधुत्वम्।
   वही, पृ. 201
5. काव्यानु. वृत्ति, पृ. 201

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने तीन पद दोषों का विवेचन किया है- §1§ असंस्कार §व्याकरण संस्कार रहित§, §2§ असमर्थ एवं §3§ अनर्थक ।[1] इनके लक्षण इनके नाम से ही स्पष्ट हैं।

आचार्य वाग्भट द्वितीय ने सोलह शब्ददोषों का उल्लेख किया है, उनके अनुसार ये शब्द-दोष पद और वाक्य दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं ।[2] ये इस प्रकार हैं - §1§ निरर्थक, §2§ निर्लक्षण, §3§ अश्लील, §4§ अप्रयुक्त, §5§ असमर्थ, §6§ अनुचितार्थ, §7§ श्रुतिकटु, §8§ क्लिष्ट, §9§ अविमृष्टविधेयांश, §10§ विरूद्धबुद्धिकृत, §11§ नेयार्थ, §12§ निहतार्थ, §13§ अप्रतीत, §14§ ग्राम्य, §15§ संदिग्ध, §16§ अवाचक ।

ये सोलह शब्द - दोष वे ही हैं जिन्हें मम्मट ने केवल पद - दोष माना है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं -

§1§ निरर्थक : प्रकृतानुपयोगि निरर्थक शब्द दोष कहलाता है।[3]

§2§ निर्लक्षण : आचार्य मम्मट के च्युतसंस्कृति नामक दोष के स्थान पर वाग्भट द्वितीय ने निर्लक्षण नामक दोष माना है। इन दोषों में अन्तर यह है कि च्युतसंस्कृति दोष वहीं पर होता है जहाँ व्याकरण विरूद्ध पद का प्रयोग

---

1. अलंकारमहोदधि, 5/2/पूर्वार्द्ध
2. काव्यानुशासन वाग्भट, पृ. 19
3. वही, पृ. 19

किया गया हो, किन्तु वाग्भट द्वितीय के अनुसार निर्लक्षण दोष व्याकरण विरुद्ध पद के प्रयोग करने पर तो होगा ही, साथ ही छन्द शास्त्र आदि के विरुद्ध पद का प्रयोग करने पर भी होगा ।[1] यहाँ आदि पद से अन्य किन - किन शास्त्रों का ग्रहण किया गया है यह उनकी वृत्ति से स्पष्ट नहीं होता है क्योंकि वृत्ति में व्याकरण शास्त्र विरुद्ध और छन्दःशास्त्र विरुद्ध दोषों के ही उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं ।[2]

§3§ अश्लील : लज्जा, अमंगल व घृणा को प्रकट करने के कारण अश्लील शब्द दोष तीन प्रकार का होता है ।[3]

§4§ अप्रयुक्त : कवियों द्वारा अनादृत(निषिद्ध या उपेक्षित)शब्द दोष अप्रयुक्त है ।[4]

§5§ असमर्थ : उस अर्थ के प्रतिपादन में अक्षम असमर्थ शब्द दोष है ।[5]

§6§ अनुचितार्थ : अनुचित रूप से प्रयुक्त अनुचितार्थ शब्द दोष है ।[6]

§7§ श्रुतिकटु : कर्णकटु वर्णों का प्रयोग श्रुतिकटु शब्द दोष है ।[7]

§8§ क्लिष्ट : §विवक्षित§ अर्थ की प्रतीति में विलम्ब क्लिष्ट शब्द दोष है ।[8]

---

1. वही, पृ. 19
2. वही, वृत्ति, पृ. 19-20
3. वही, पृ. 20
4. वही, पृ. 20
5. वही, पृ. 21
6. वही, पृ. 21
7. वही, पृ. 21
8. वही, पृ. 22

§9§ अविमृष्टविधेयांश : जहाँ विधेयरूप वाक्यांश का प्रधानतया निर्देश नहीं किया जाता ।[1]

§10§ विरूद्धबुद्धिकृत : विपरीत अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ ।[2]

§11§ नेयार्थ : लक्षितार्थ का जहाँ बोध होता है वह नेयार्थ है ।[3]

§12§ निहतार्थ : उभयार्थवाचक शब्द रहने पर भी अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना निहतार्थ दोष है ।[4] जैसे -

"यावकरसार्द्रप्रहारशोणित - - - - - - -"

इत्यादि पद्य में शोणित शब्द रूधिर अर्थ में प्रसिद्ध होने से दोषयुक्त है।

§13§ अप्रतीत : आगम में ही प्रसिद्ध अप्रतीत है ।[5]

§14§ ग्राम्य : असंस्कृत जन में प्रचलित उक्ति ग्राम्य है ।[6]

§15§ संदिग्ध : §एक पद के दो अर्थों का बोधक होने पर जो§ अन्य अर्थ के प्रतिभासन से संशय होता है वह संदिग्ध शब्द दोष है ।[7]

§16§ अवाचक : अभीप्सित अर्थ के प्रतिपादन में असमर्थ अवाचक शब्द दोष है ।[8]

इस प्रकार पद - दोषों के इस क्रम में आचार्य मम्मट ने सोलह, वाग्भट-प्रथम ने आठ, हेमचन्द्राचार्य ने दो, नरेन्द्रप्रभसूरि ने तीन व वाग्भट - द्वितीय

1. वही, पृ. 22
2. वही, पृ. 22
3. वही, पृ. 22
4. वही, पृ. 23
5. वही, पृ. 23
6. वही. पृ. 23
7. वही, पृ. 23
8. वही, पृ. 24

ने सोलह पद - दोषों का विवेचन किया है। इन सभी जैनाचार्यों ने प्रायः आचार्य मम्मट द्वारा वर्णित दोषों का अनुकरण करते हुए ही अपना दोष - विवेचन प्रस्तुत किया है। अतः पद - दोषों के प्रसंग में जैनाचार्यों ने कोई नवीन तथ्य प्रस्तुत नहीं किया है।

पदांशगत दोष -

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने पदांशगत दोषों - श्रुतिकटु, निहतार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, संदिग्ध व नेयार्थ - का उल्लेख करते हुए इन्हें सोदाहरण प्रस्तुत किया है।[1]

जैनाचार्य हेमचन्द्र व नरेन्द्रप्रभसूरि ने पदैक - देश (पदांगशत) दोषों को पद - दोष ही स्वीकार किया है।[2] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने पदांशगत दोषों को पदगत दोष मानते हुए भी मम्मटोक्त सात पदांशतगत दोषों में से अश्लील को छोड़कर छः दोषों के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं।[3] ये उदाहरण वही हैं, जिन्हें आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत किया है।

वाग्भट - द्वितीय ने पदांशगत दोषों का कोई उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त जैनाचार्य प्रायः पदांश दोषों को पृथक् मानने के पक्ष में नहीं हैं।

---

1. काव्यप्रकाश, पृ. 295 - 300
2. "पदैकदेशः पदमेव" - काव्यानु. पृ. 200 एवं "पदैकदेशोऽपि पदमेव" - अलङ्कारमहोदधि, पृ. 153
3. अलंकारमहोदधि, पृ. 153-154

वाक्य दोष :

वाक्य - दोषों को प्रायः सभी आचार्यों ने समानरूप से स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट ने 21 प्रकार के वाक्यदोषों का विवेचन किया है-

§1§ प्रतिकूलवर्णता, §2§ अपहृतविसर्गता, §3§ लुप्तविसर्गता, §4§ विसंधि, §5§ हतवृत्तता, §6§ न्यूनपदता, §7§ अधिकपदता, §8§ कथितपदता, §9§ पतत्प्रकर्ष, §10§ समाप्तपुनरात्तता, §11§ अर्द्धान्तरैकवाचकता, §12§ अभवन्मतसम्बन्ध, §13§ अनभिहितवाच्यता, §14§ अस्थानपदता, §15§ अस्थानसमासता, §16§ संकीर्णता, §17§ गर्भितता, §18§ प्रसिद्धि - विरोध, §19§ भग्नप्रक्रमता, §20§ अक्रमता और §21§ अमतपरार्थता ।[1]

जैनाचार्य वाग्भट - प्रथम ने 8 वाक्य - दोषों का उल्लेख किया है -

§1§ खण्डित, §2§ व्यस्तसम्बन्ध, §3§ असम्मित, §4§ अपक्रम, §5§ छन्दोभ्रष्ट, §6§ रीतिभ्रष्ट, §7§ यतिभ्रष्ट, और §8§ असत्क्रिया §क्रिया पद रहित§[2]

इनके लक्षण इस प्रकार हैं :—

§1§ खण्डित - एक वाक्य के अन्तर्गत अन्य वाक्यांश के आ जाने से प्रथम वाक्य में जहाँ विच्छेद उत्पन्न हो जाता है, वहाँ "खण्डित" नामक दोष माना जाता है। यथा -"वे जिन स्वामी जिनकी स्तुति सदैव इन्द्र भी करते रहते हैं, आप लोगों की रक्षा करें।"[3] यहाँ 'जिनकी स्तुति इन्द्र भी करते हैं,' इस वाक्य के मध्य में प्रवेश करने से खण्डित दोष है।

1. काव्यप्रकाश, 7/53-55
2. वाग्भटालंकार, 2/17
3. वही, 2/18

(2) व्यस्त सम्बन्ध - किन्ही दो पदों में परस्पर सम्बन्धी पदों के दूर-दूर रहने पर "व्यस्त सम्बन्ध" नामक दोष उत्पन्न होता है। यथा - अर्हता में अग्रगण्य तत्त्ववेत्ता (जिन) देव आप लोगों को सम्पत्ति धन - धान्य प्रदान करें।[1]

इस वाक्य में "आद्यः" और "अर्हताम्" इन दोनों पदों का परस्पर सम्बन्ध होने पर भी दूर - दूर स्थित होने से व्यस्तसम्बन्ध-दोष है।

(3) असम्मित - जहाँ शब्द और अर्थ संतुलित न हो, वहाँ पर विद्वज्जन असम्मित नामक दोष मानते हैं। यथा - मानसरोवर में निवास करने वाला पक्षी (हंस) जिसका वाहन है उन (ब्रह्माजी) के आसन (कमल) को समान लोचनों वाले (अर्थात् कमल - नयन जिनदेव) आप लोगों को अन्धकार के शत्रु (सूर्य) के विपक्षी (राहु) के शत्रु (विष्णु) की प्रिया (लक्ष्मी) अर्थात् श्री - सम्पत्ति प्रदान करें।[2]

इस श्लोक में कमलनयन हेतु "मानसौकपतथानदेवासनविलोचनः और लक्ष्मी के लिये "तमोरिपुविपक्षारिप्रियां" इन दो लम्बे-लम्बे पदों का प्रयोग होने से असम्मित दोष है।

(4) अपक्रम - विभिन्न कार्यों के पूर्वापर क्रम की लोक प्रसिद्ध मान्यता का उल्लंघन करके जहाँ पर क्रम में उलट फेर कर दिया जाता है,

---

1. वही, 2/19
2. वाग्भटालङ्कार 2/20-21

वहाँ पर "अपक्रम" नामक दोष माना जाता है यथा -(वह) भोजन करके स्नानोपरान्त गुरूजनों व आचार्यों की वन्दना करता है।[1]

यहाँ लोक - व्यवहार में प्रसिद्ध सर्वप्रथम स्नान, पुनः गुरूओं व देवताओं की वन्दना तत्पश्चात अन्य भोजनादि क्रिया - इस क्रम का उल्लंघन करने से अपक्रम नामक दोष है।

§5§ <u>छन्दोभ्रष्ट</u> - छन्दःशास्त्र के विरूद्ध वाक्य का प्रयोग छन्दोभ्रष्ट कहलाता है। यथा 'सजयतु जिनपतिः' इस श्लोकार्द्ध में अनुष्टुप छन्द का पाद है - किंतु इसमें छन्दःशास्त्रनिर्दिष्ट अनुष्टुप छन्द का लक्षण नहीं है, क्योंकि अनुष्टुप का लक्षण है - "श्लोके षष्ठं गुरूर्ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्" इत्यादि।

इस नियमानुसार उपर्युक्त उदाहरण में जो षष्ठ वर्ण "न" है उसे गुरू होना चाहिए था न कि लघु, जैसा कि यहाँ पर है। अतः यहाँ छन्दोभ्रष्ट दोष माना गया है।

§6§ <u>रीतिभ्रष्ट</u> - जहाँ वाक्य में रीति विशेष का यथेष्ट निर्वाह न किया गया हो, यथा -'रीतिभ्रष्टमनिर्वाहो यत्र रीतेर्भवेद्यथा। जिनो जयति स श्रीमानिन्द्राद्यमरवन्दितः ।।[2]

---

1. वाग्भटालंकार, 2/23
2. वही, 2/24.

यहाँ पूर्वार्द्ध में असमस्तपदी वैदर्भी तथा उत्तरार्द्ध में समस्तपदी गौडी रीति का प्रयोग होने से रीतिभ्रष्ट - दोष है।

§7§ **यतिभ्रष्ट** - जिस वाक्य के पद के मध्य में ही यतिभङ्ग हो जाय उसमें यतिभ्रष्ट दोष समझना चाहिये। यथा - "नमस्तस्मै जिन - - स्वामिने सदा नेमयेऽर्हते"।[1] (उन अर्हत् नेमिनाथ जिनेन्द्रदेव को सदा नमस्कार हो) यहाँ "जिनस्वामिने" यह पूरा पद है, अतः इसके पश्चात् ही यति होनी चाहिये थी, किन्तु "जिनस्वामी" के पश्चात् ही पद के मध्य में यति होने से यतिभ्रष्ट दोष है ।

§8§ **असत्क्रिया** - जिस वाक्य में कोई क्रियापद ही न हो उसमें "असत्क्रिया" नामक दोष होता है। यथा - "यथा सरस्वतीं पुष्पैः श्रीखण्डैर्घुसृणैः स्तवैः ।।"[2] (पुष्पों से, श्रीचन्दन से, केशर से, स्तोत्रों से सरस्वती की पूजा करता हूँ)। यहाँ "अर्चयामि" इस उचित क्रिया के अभाव में असत्क्रिया दोष है।

हेमचन्द्राचार्य ने 13 प्रकार के वाक्य - दोषों का उल्लेख किया है - (1) विसन्धि, (2) न्यूनपदता, (3) अधिकपदता, (4) उक्तपदता, (5) अस्थानस्थपदता, (6) पतत्प्रकर्षता, (7) समाप्तपुनरात्तता, (8) अविसर्गता, (9) हतवृत्तता, (10) संकीर्णता, (11) गर्भितता, (12) भग्नप्रक्रमता और (13) अनन्वितता ।[3]

---

1. वही, 2/25
2. वही, 2/26
3. काव्यानुशासन 3/5

(1) विसन्धि - पदों के मेलरूप सन्धि-कार्य से द्रव और द्रव्यों की तरह स्वरों का समवाय सम्बन्ध सन्धि है अथवा कपाटों की तरह स्वरों और व्यञ्जनों का प्रत्यासक्तिमात्र या संयोगमात्ररूप सन्धि है। उस सन्धि का विश्लेषता, अश्लीलता व कष्टता से विरूपता को प्राप्त हो जाना विसन्धि है ।[1]

जहाँ "सन्धि न करूँ" इस प्रकार स्वेच्छा से एक बार भी सन्धि नहीं की जाती अथवा प्रकृतिवद्भाव प्राप्त होने पर बार - बार सन्धि कार्य नहीं होता है, वहाँ विश्लेष के कारण वैरूप्य होता है।[2]

जहाँ पदों की सन्धि करने पर उनसे व्रीडा, जुगुप्सा और अमङ्गलार्थ की प्रतीति हो वहाँ अश्लीलत्व दोष होता है।[3]

इसी प्रकार जहाँ सन्धि होने पर पदों के पारूष्य का बोध होता है, वहाँ कष्टत्व दोष होता है।[4]

आ. हेमचन्द्र के अनुसार वक्तादि के औचित्य से दुर्वचकादि में वक्ष्यमाण होने से दोष नहीं होता। जैसा कि कहा गया है - "शुकस्त्रीबालमूर्खाणां मुखसंस्कारसिद्धये। प्रहासासु च गोष्ठीषु वाच्या दुर्वचकादयः ।।[5]

---

1. वही, वृ.पृ. 20
2. वही, वृति, पृ. 20
3. वही, वृत्ति, पृ. 201-202
4. वही, वृत्ति, पृ. 202
5. वही, वृ.पृ. 202

(2) न्यूनपदता - आवश्यक पद का न कहना न्यूनपदता या न्यूनपदत्व दोष है। यथा - "तथाभूतां दृष्ट्वा" इत्यादि पद्य में "अस्माभिः" पद का तथा "खिन्नम्" से पूर्व "इत्थं" पद का कथन आवश्यक है, किन्तु ये पद नहीं कहे गये हैं, अतः न्यूनपदता दोष है।[1] आ. हेमचन्द्र ने इसके अनेक उदाहरण दिये हैं। उपमा की न्यूनता का उदाहरण प्राकृत में "संहयचक्का - अजआ---" इत्यादि दिया है। इसमें उपमान के रूप में कमल व मृणाल की उक्ति होने पर भी उपमेयभूत मुख और भुजा का उल्लेख न होने से न्यूनपदत्व दोष है।[2] इसके साथ - साथ उन्होंने कहीं पर न्यूनपदत्व के गुण हो जाने का उदाहरण दिया है - - - "गाढालिंङ्गनवामनीकृत - - -" इत्यादि तथा कहीं पर न गुण और न दोष होने का उदाहरण - "तिष्ठेत् कोपवशात्" इत्यादि प्रस्तुत किया है।[3]

(3) अधिकपदत्व - अधिक पद का होना ही अधिकपदत्व दोष है। यथा -

"स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसंक्रान्त निशातशास्त्रतत्त्वः।
अनिरूद्धसमन्वितोक्तियुक्तिः प्रतिमल्लास्तमयोदयः स कोऽपि ।।

यहाँ "आकृती" शब्द अधिक होने से दोष है।[4] इसके अतिरिक्त आ. हेमचन्द्र

---

1. वही, वृ. पृ. 202
2. वही, वृ. पृ. 205
3. वही. वृ. पृ. 205
4. वही, वृ, पृ, 205-206

ने अधिकपदत्व के प्रत्ययांश (पदांश)आदि के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, यथा - समासादि के आश्रय से ही उस अर्थ की प्रतीति हो जाने पर भी प्रत्यय आदि की अधिकता तथा उपमा, रूपक, समासोक्ति अन्योक्ति आदि अलंकारों में अधिक पदों का प्रयोग आदि। साथ ही उन्होंने कहीं पर गुण हो जाने का उदाहरण भी "यद्रच्नाहितमति" इत्यादि प्रस्तुत किया है। इसमें दूसरा "विदन्ति" पद अन्ययोगव्यवच्छेद के लिये है।[1]

§4§ <u>उक्तपदत्व</u> - किसी पद का दो बार प्रयोग करना उक्तपदत्व दोष है। जैसे - "अधिकरतलतल्पं .. " इत्यादि उदाहरण में "लीला" पद का दो बार प्रयोग ।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने इसके गुण हो जाने के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार उक्तपदत्व दोष लाटानुप्रास में, शब्दशक्तिमूल ध्वनि में और कहीं विहित अनुवाद में गुण हो जाता है। तीनों के उदाहरण क्रमशः "जयतिक्षुण्णतिमिर", "ताला जायन्ति गुणा जाला"। एवं "जितेन्द्रियत्वं" इत्यादि दिये हैं।[3]

§5§ <u>अस्थानस्थपदता</u> - जहाँ पर पदों की स्थिति अनुचित स्थान पर होती है। वहाँ पर यह दोष होता है। जैसे -

"प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधो निवेशितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्द विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि।"

---

1. काव्यानु, वृति पृ, 209
2. वही, वृत्ति, पृ. 209
3. वही, वृत्ति, पृ. 209-210

यहाँ "स्रजं काचिन्न जहौ" इस प्रकार प्रयोग करना उचित था।[1]

§6§ पतत्प्रकर्ष – जहाँ पर क्रमशः उत्कर्ष का ह्रास हो जाता है वहाँ पतत्प्रकर्ष नामक दोष होता है।

यथा –

क:क:कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकर:
क:क:कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यत:।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यत:,
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसति: पञ्चाननो वर्तते।।[2]

यहाँ क्रम से अनुप्रास की घनता आवश्यक है। सूकर की अपेक्षा सिंह के प्रतिपादन में अधिकतर कठोरवर्णता होनी चाहिए किंतु ऐसा न होने से उक्त दोष है।

उक्त दोष के गुण होने का उदाहरण आ. हेमचन्द्र ने "प्रागप्राप्त – निशुम्भ" इत्यादि प्रस्तुत किया है जिसमें क्रोध का अभाव होने पर पतत्प्रकर्ष नहीं है।[3]

§7§ समाप्तपुनरात्त – जहाँ पर कर्त्ता, क्रिया, कर्म आदि के सम्बन्ध से वाक्य की समाप्ति हो जाती है और पुन: उस वाक्य से संबंधित अन्य पदों का प्रयोग कर दिया जाता है तो वहाँ समाप्तपुनरात्त

---

1. वही, वृत्ति, पृ. 210
2. वही, वृत्ति, पृ. 213
3. वही, वृत्ति, पृ. 213

दोष होता है।

यथा -

"ज्योत्स्नां लिम्पति चन्दनेन स पुमान् सिञ्चत्यसौ मालती

मालां गन्धजलैर्मधूनि कुरुते स्वादन्यतौ फाणितैः ।

यस्तस्य प्रथितान् गुणान् प्रथयति श्रीवीरचूडामणे -

स्तारत्वं स च शाणया मृगयते मुक्ताफलानामपि ।।

यहाँ "चूडामणेः" पर वाक्य समाप्त हो जाने पर "तारत्वम्" इत्यादि का पूँछ की तरह पुनः ग्रहण चमत्कारोत्पादक नहीं है।[1] यह कहीं - कहीं न गुण होता है न दोष। जैसे - "प्रागप्राप्त" इत्यादि उदाहरण।[2]

§8§ अविसर्गता - उत्वादि के द्वारा रकार का लोप होने तथा विसर्ग का लोप प्राप्त होने पर विसर्ग का जो अभाव होता है उसे अविसर्गता दोष कहते हैं।

यथा -

"वीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्रसः ।

यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभान्विताः ।।[3]

यहाँ पर प्रथम पंक्ति में विसर्ग का लोप हो जाने से लुप्तविसर्गता और द्वितीय पंक्ति में विसर्ग का "ओ" हो जाने से उपहतविसर्गता दोष है ।[4]

---

1. वही, वृत्ति, पृ. 213
2. वही, वृत्ति, पृ. 214
3. वही, वृत्ति, पृ. 214
4. वही, वृत्ति, पृ. 214

§9§ हतवृत्तता - यह दोष पाँच प्रकार से संभव है - (1) छन्दःशास्त्र के लक्षण से रहित, (2) यतिभ्रष्ट, (3) लक्षण का अनुसरण करने पर भी अश्रव्य, (4) अन्त लघु के गुरूभाव को प्राप्त न होना और (5) रसानुकूल छन्द न होना ।

छन्दःशास्त्रलक्षणरहित, यथा -

"अयि पश्यसि सौधमाश्रितामविरलसुमनो मालभारिणीम्।"

यहाँ वैतालीय छन्द के युग्म पाद में छः लघु अक्षरों का निरन्तर प्रयोग निषिद्ध होने से लक्षणहीन हतवृत्तता है। इसी प्रकार अन्य चार प्रकारों के भी दृष्टान्त हेमचन्द्राचार्यनेदिये हैं ।[1]

§10§ संकीर्णता - एक वाक्य के पदों का दूसरे वाक्य के पदों में मिल जाना। यथा -

कायं खायइ छुहिओ कूरं घल्लेइ निब्भरं रूट्ठो ।
सुणयं गेण्हई कण्ठे हक्केइ अ नत्तिअं थेरो ।।[2]

यहाँ "काकं क्षिपति कूरं खादति कण्ठे नप्तारं गृह्णाति श्वानं भेषयति" इस प्रकार कहना उचित था। उक्ति प्रत्युक्ति में यह दोष कहीं - कहीं गुण हो जाता है। जैसे -"बाले, नाथ, विमुञ्च मानिनि" इत्यादि ।[3]

---

1. वही, वृत्ति, पृ. 214 - 215
2. वहीं, वृत्ति, पृ. 215
3. वही, वृत्ति पृ. 215

(11) <u>गर्भितता</u> - एक वाक्य के मध्य में अन्य वाक्य का प्रविष्ट हो जाना।

यथा -

परापराकरनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः ।

वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ।।[1]

यहाँ तृतीयपाद अन्यवाक्य के मध्य में प्रविष्ट होने से दोष है। इसके गुण होने का उदाहरण आ, हेमचन्द्र ने "दिङ्मातङ्गघटा" इत्यादि प्रस्तुत किया है।[2]

(12) <u>भग्नप्रक्रमत्व</u> - प्रस्तुत का भंग होना भग्नप्रक्रमत्व दोष है। जैसे -

एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः पार्थिवः प्रत्यभाषत ।[3]

यहाँ पर "उक्त" : इस पद का प्रयोग होने के पश्चात् "प्रत्यभाषत" पद का प्रयोग हुआ है। अतः प्रकृति के भङ्ग (वद् से भाष्) हो जाने पर भग्नप्रक्रमत्व दोष है। प्रत्यभाषत् के स्थान पर प्रत्यवोचत् कहना उचित था।

(13) अनन्वितता - पदार्थों का परस्पर असम्बद्ध होना अनन्वितता दोष है।

यथा -

दृढतरनिबद्धमुष्टेःकोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य ।

कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ।।[4]

---

1. वही, वृत्ति, पृ. 215
2. वही, वृत्ति, पृ. 216
3. वही, वृत्ति, पृ. 216
4. वही, पृ. 223

यदि यहाँ आकार शब्द का अवयव संस्थान (आकृति) अर्थ विवक्षित है, तब तो परस्पर परिहार की स्थिति वाले दोनों अर्थों में यह भेद सिद्ध ही है, अतः कथन व्यर्थ है। यदि आकार से "आ" वर्ण विशेष लिया जाता है तो वर्ण नियत होने से कृपण और कृपाण रूप अर्थों के साथ उसका सम्बन्ध संभव नहीं है। अतः अनन्वितता दोष है। मम्मटाचार्य ने इष्ट सम्बन्ध के अभाव को अभवन्मतदोष कहा है।[1]

आचार्य मम्मट तथा हेमचन्द्र के वाक्यदोषों में मौलिक रूप से प्रायः समानता है परन्तु इनके क्रम तथा कुछ नामों में अन्तर है। जैसे - मम्मट के कथित पदता को आचार्य हेमचन्द्र ने उक्तपदत्व कहा है। इसी प्रकार अस्थानपदता को अस्थानस्थपदत्व, उपहतविसर्गता को अविसर्गत्व कहा है। अनन्वितत्व नामक वाक्य - दोष का मम्मट ने उल्लेख नहीं किया है, यह नाम नया है। मम्मट का अभवन्मत सम्बन्ध दोष अनन्वितत्व के बहुत निकट है। लुप्तविसर्ग और ध्वस्तविसर्ग को हेमचन्द्राचार्य ने अविसर्गत्व के अन्तर्गत ही माना है तथा विसन्धि के तीन भेदों को पृथक् - पृथक् न मानकर एक ही भेद माना है।

इस प्रकार मम्मट के 21 वाक्यदोषों के स्थान पर आ. हेमचन्द्र ने तेरह ही वाक्य-दोषों को स्वीकार किया है।

---

1. काव्यप्रकाश, पृ. 312

नरेन्द्रप्रभसूरि ने 23 वाक्यदोषों का उल्लेख किया है –

(1) रसायनुचिताधर, (2) लुप्त-विसर्गान्त, (3) ध्वस्त-विसर्गान्त, (4) इष्ट सम्बन्धवंचित, (अनन्वित अथवा अभवन्मत सम्बन्ध), (5) समाप्तपुनरारब्धता, (6) भग्नप्रक्रमता, (7) अक्रमता, (8) न्यूनपदता, (9) अर्द्धान्तरस्थैकपदता, (10) संकीर्णता, (11) गर्भितता, (12) दुर्वृत्तता, (13) सन्धिविश्लेषता, (14) सन्धिकष्टता, (15) सन्धिअश्लीलता, (16) अनिष्टान्यार्थ, (17) अस्थान-समासदुःस्थित, (18) अस्थानपद दुःस्थित, (19) पतत्प्रकर्ष, (20) अप्रोक्तवाच्य, (21) त्यक्तप्रसिद्धि, (22) पुनरूक्तपदन्यास और (23) अतिरिक्तपदता ।[1]

यहाँ नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मटाचार्य सम्मत 21 वाक्यदोषों को ही स्वीकार किया है। चूँकि नरेन्द्रप्रभसूरि ने विसन्धि के तीन भेदों की पृथक्-पृथक् गणना की है, अतः इनके अनुसार वाक्य-दोषों की संख्या 23 हो जाती है, मूलतः दोनों में अभिन्नता है। हेमचन्द्राचार्य ने जिन 13 वाक्यदोषों का उल्लेख किया है, उनमें लुप्तविसर्ग तथा ध्वस्तविसर्ग को उन्होंने अविसर्गता के अन्तर्गत ही माना है तथा विसन्धि के तीन भेदों को पृथक्-पृथक् न मानकर केवल एक ही भेद माना है। इस प्रकार आ. हेमचन्द्र के प्रसंग में 13 वाक्य-दोषों (अविसर्ग के दो तथा विसन्धि के तीन भेदों सहित 16) दोषों का विवेचन तो पहले ही किया

---

1. अलंकारमहोदधि, 5/2-6

जा चुका है। शेष जिन 7 दोषों – रसाधनुचिताक्षर, अक्रमता, अर्द्धान्तरस्थैकपदता, अनिष्टान्यार्थ, अस्थानसमासदुः स्थित, अप्रोक्त – वाच्य और त्यक्त-प्रसिद्धि को आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मटाचार्यानुसार स्वीकार किया है, उनके लक्षण व उदाहरण निम्न प्रकार से हैं —

रसाधनुचिताक्षर – रस के प्रतिकूल वर्णों का प्रयोग।

यथा –

"अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर ।।[1]

यहाँ श्रृंगार रस के प्रतिकूल टवर्ग का प्रयोग होने से दोष है।

अक्रमता – जहाँ पर क्रम का अभाव हो ।

यथा –

तुरङ्गमथ मातंगं प्रयच्छास्मै मदालसम्।
कान्ति-प्रतापौ भवतः सूर्याचन्द्रमसोः समौ।।[2]

यहाँ "मातंगमथ तुरंगम्" और "कान्ति-प्रतापौ भवतः समौ चन्द्र – विवस्वतोः" कहना उचित था, किन्तु इसके विपरीत कहने से दोष है।

---

1. अलंकारमहोदधि, पृ. 131
2. वही, पृ. 135

अर्द्धान्तरस्थैकपदता – जहाँ पूर्वार्द्ध से सम्बद्ध एक पद उत्तरार्द्ध में स्थित हो।

यथा –

भावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः।

विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ।।[1]

यहाँ 'विरराम' इस पद को पूर्वार्द्ध में रखना उचित था।

अनिष्टान्यार्थ – जहाँ अन्यार्थ प्रकृत रस के विरूद्ध हो।

यथा –

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।

गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ।।[2]

यहाँ प्रकृत वीभत्स रस के विरूद्ध श्रृंगार रस का व्यञ्जक अन्यार्थ होने से दोष है।

अस्थानासमास दुःस्थित – अनुचित स्थान पर समास करना ।

यथा –

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि।

स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।।

प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात् ।

फुल्लत्कैरवकोशनिस्सरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ।।[3]

---

1. वही, पृ. 136
2. वही. पृ. 136
3. वही. पृ. 139

यहाँ कुहु (चन्द्रमा) की उक्ति में समास नहीं किया है और कवि की उक्ति में किया है, अतः दोष है।

अप्रोक्तवाच्य - अवश्य कथनीय को न कहना ।

यथा -

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैरत्यद्भुतैर्मम हृतस्य तथाऽप्यनास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेयमाहात्म्यसारसमुदायमयः पदार्थः।।[1]

यहाँ "मम हृतस्य" के स्थान पर "अपहृतोऽस्मि" इस रूप में विधि का कथन करना चाहिए था, क्योंकि 'तथाऽपि' इस पद का द्वितीय वाक्य में ही प्रयोग किया जाना संभव है। अतः प्रथम वाक्य को द्वितीय से पृथक करने के लिए उक्त प्रकार से अवश्य कथनीय को न कहने से दोष है।

त्यक्तप्रसिद्धि - प्रसिद्धि का अतिक्रमण करना ।

यथा -

रणन्ति पक्षिणः क्ष्वेडं चक्रीवन्तो वितन्वते।
इदं बृंहितमश्वानां ककुद्मानेष हेषते ।।[2]

यहाँ मंजीर आदि में रणित, पक्षियों में कूजित, सुरत में स्वनित - मणित आदि तथा मेघों में गर्जित आदि की प्रसिद्धि का अतिक्रमण होने से दोष है।

---

1. वही, पृ. 140
2. वही, पृ. 140

आचार्य वाग्भट द्वितीय ने चौदह वाक्य - दोष माने हैं।[1] आ. हेमचन्द्र द्वारा स्वीकृत तेरह वाक्य - दोषों में हतवृत्तता को छोड़कर शेष बारह उन्हें समानरूप से मान्य हैं। इनके अतिरिक्त अर्थान्तरैकवाचक और अभवन्मतयोग - ये दो मम्मट सम्मत दोष भी उन्हें मान्य होने से उनके अनुसार चौदह वाक्य - दोष हैं। इनके लक्षण व उदाहरण प्रायः पूर्वस्वीकृत ही हैं।

आचार्य भावदेवसूरि ने 32 वाक्य दोष माने हैं, जो इस प्रकार हैं - (1) श्रुतिकटु, (2) च्युतसंस्कृति, (3) शिथिल, (4) अनुचित, (5) नेयार्थ, (6) असमर्थ, (7) क्लिष्ट, (8) निरर्थक, (9) ग्राम्य, (10) संदिग्ध, (11) कथित, (12) विकृत (13) निहतार्थ, (14) विरुद्धमतिकृत्, (15) समाप्तपुनरात्त, (16) अश्लील, (17) अप्रयुक्त, (18) अविमृष्टविधेयांश, (19) पतत्प्रकर्ष, (20) उपहत - विसर्ग, (21) लुप्तविसर्ग, (22) विसंधि, (23) कुसंधि, (24) हतवृत्त, (25) न्यून, (26) अधिक, (27) अस्थानस्थ, (28) भग्नप्रक्रम, (29) गर्भित, (30) अप्रसिद्ध, (31) संकीर्ण और (32) अक्रम।[2] इनके लक्षण नामानुरूप हैं।

---

1. काव्यानुशासन - वाग्भट - पृ. 24
2. काव्यालंकारसार - 3/1-5

अभी तक उक्त इन वाक्य – दोषों के विवेचन से ये स्पष्ट होता है कि इन जैनाचार्यों ने मम्मट का अनुसरण करते हुए भी अपनी मान्यतानुसार न्यूनाधिक विवेचन किया है। आ. वाग्भट प्रथम ने 8, हेमचन्द्र ने 13, नरेन्द्रप्रभसूरि ने 23, वाग्भट – द्वितीय ने 14 व भावदेवसूरि ने 32 वाक्य – दोषों का उल्लेख किया है। आ. हेमचन्द्र को प्रायः मम्मट का अनुयायी कहा जाता है पर उन्होंने केवल तेरह वाक्य-दोषों का उल्लेख कर निश्चय ही मम्मट से भिन्न अपनी मान्यता स्थापित की है।

<u>उभयदोषः</u> – पद तथा वाक्य दोनों में एक साथ पाये जाने वाले दोषों को उभय – दोष कहा गया है। आ. मम्मट ने यद्यपि "उभय-दोष" नाम का प्रयोग नहीं किया है तथापि पद तथा वाक्य में समानरूप से रहने वाले दोषों का विवेचन किया है। मम्मटानुसार इस प्रकार के तेरह दोष हैं– (1) श्रुतिकटु, (2) अप्रयुक्त, (3) निहतार्थ, (4) अनुचितार्थ, (5) अवाचक (6) अश्लील, (7) संदिग्ध, (8) अप्रतीत, (9) ग्राम्य, (10) नेयार्थ, (11) अविमृष्टविधेयांश और (13) विरूद्धमतिकृत –

ये तेरह दोष पदों के अतिरिक्त वाक्यगत भी होते हैं। मम्मट ने इन सबके पदगत उदाहरण देने के बाद वाक्यगत उदाहरण भी दिये हैं। इनमें से लगभग छः दोष पदांशगत भी हैं।[1]

---

1. काव्यप्रकाश, 7/52 । पदगत उदाहरण – काव्यप्रकाश पृ. 267–280, वाक्यगत उदाहरण, पृ. 281 – 294 व पदांशगत उदाहरण – पृ. 295 – 300 ।

हेमचन्द्राचार्य ने उभय - दोषों का स्वतन्त्ररूप से विवेचन किया है। उनके अनुसार उभयदोष 8 प्रकार के हैं -(1) अप्रयुक्त, (2) अश्लील, (3) असमर्थ, (4) अनुचितार्थ (5) श्रुतिकटु, (6) क्लिष्ट, (7) अविमृष्ट-विधेयांश और (8) विरूद्धबुद्धिकृत्।[1]

अप्रयुक्तत्त्व - कवियों द्वारा अनादृत अप्रयुक्त दोष है। यह लोकमात्र - प्रसिद्ध और शास्त्रमात्रप्रसिद्ध भेद से दो प्रकार का होता है।

लोकमात्रप्रसिद्धपद दोष जैसे - "कष्टं कथं रोदिति थूत्कृतेयम्।[2] यहाँ "थूत्कृता" यह पद लोकमात्र में प्रसिद्ध होने से पद - दोष है।

वाक्यदोष, यथा -

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ।।[3]

यहाँ गल्ल, भल्ल आदि अनेक शब्द लोकमात्र में प्रसिद्ध होने से वाक्य - दोष हैं। इसे मम्मट ने वाक्यगत ग्राम्यत्व दोष का उदाहरण माना है।[4]

आचार्य हेमचन्द्र ने लोकमात्र प्रसिद्ध अप्रयुक्तदोष के पदगत और वाक्यगत दोनों के कहीं - कहीं गुण हो जाने के उदाहरण भी क्रमशः

---

1. काव्यानुशासन, 3/6
2. वही, पृ. 226
3. वही, पृ. 227
4. काव्यप्रकाश, पृ. 285

"देव स्वस्तिवयं" इत्यादि और "फुल्लुक्करं कलमकूरसमं वहन्ति" इत्यादि प्रस्तुत किये हैं।

शास्त्रमात्रप्रसिद्ध पददोष,

यथा –

यथाऽयं दारूणाचरः सर्वदैव विभाव्यते।

तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथ वा ।।[1]

यहाँ 'दैवत' शब्द पुल्लिंग में लिंगानुशासन में ही प्रसिद्ध है। अतः दोष है। अथवा "सम्यग्ज्ञानमहाज्योति" इत्यादि में आशय शब्द वासना के पर्याय रूप में योगशास्त्र में ही प्रसिद्ध है। इसी प्रकार से धातुपाठ और अभिधानकोश में प्रसिद्ध पदों के उदाहरण भी दिये हैं। इनके कहीं पर गुण होने का उदाहरण "सर्वकार्यशरीरेषु" इत्यादि तथा श्लेष में उसके न गुण होने और न ही दोष होने का उदाहरण "येन ध्वस्तमनोभवेन" इत्यादि साथ – साथ प्रस्तुत कर दिये हैं।

शास्त्रमात्र प्रसिद्ध वाक्यगतदोष,

जैसे –

तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगताजुषः ।

दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः सफलितः सखे ।।[2]

---

1. काव्यानुशासन, पृ. 227
2. वही, पृ. 229

यहाँ अधिमात्रोपाय आदि शब्द योगशास्त्र मात्र में प्रसिद्ध होने से दोष है। इसके कहीं - कहीं गुण होने का उदाहरण, यथा "अस्माकमद्य-हेमन्ते" इत्यादि।

अश्लीलत्व - व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमंगल व्यञ्जकतारूप भेद से ये तीन प्रकार का होता है।[1]

व्रीडाभिव्यञ्जक पदगत, यथा -

साधनं सुमहद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भुवम् ।।[2]

यहाँ पर "साधनं" शब्द पुरुष का लिंगवाचक होने से व्रीडाभि-व्यञ्जक है।

वाक्यगत, यथा -

भूपतेरूपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना।
तत्तत्प्रहणनोत्साहवती मोहनमादधौ ।।[3]

यहाँ प्रहणन, उपसर्पण और मोहन शब्द व्रीडादायक होने से दोष है। इसी प्रकार जुगुप्सा और अमंगलव्यञ्जक अश्लीलत्व के भी पदगत और वाक्यगत दोष के उदाहरण आ० हेमचन्द्र ने दिये हैं। साथ ही कामशास्त्र

1. वही, पृ. 229
2. वही, पृ. 229
3. वही, पृ. 230

और ग्रामकथाओं में उनके गुण होने के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं।

<u>असमर्थत्व</u> - अवाचक होने से कल्पितार्थ होने से और सन्दिग्धता होने से विवक्षित अर्थ को न कहने की शक्ति ही असमर्थ दोष है।

पदगतदोष का उदाहरण, यथा -

हा धिक् सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा,
तद्विच्छेदरुजाऽन्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम्
किं कुर्मः, कुशले सदैव विधुरो धाता न चेत्तत्कथं,
तादृग्यामवतीमयो भवति मे नो जीवलोकोऽधुना।।[1]

यहाँ दिनम् पद प्रकाशमय अर्थ को कहने में अवाचक (असमर्थ) है
वाक्यगत, यथा -

विभजन्ते न ये भूपमालभन्ते न ते श्रियम्।
आवहन्ति न ते दुःखं प्रस्मरन्ति न ये प्रियाम्।।[2]

यहाँ विभजन्ति (विभाग) सेवन को आलभति (विनाश) लाभ को आवहति (करोति - करता है) धारण को और प्रस्मरति (विस्मरण) स्मरण अर्थ को कहने मे अवाचक (असमर्थ) है।

---

1. वही, पृ. 231-232
2. वही. पृ. 236

कल्पित अर्थ होने से असमर्थता – इसका पदगत उदाहरण –

किमुच्यतेऽस्य भूपाल मौलिमालामहामणेः ।
सुदुर्लभंवचोबाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते ।।[1]

यहाँ "वचः" शब्द से "गीः" शब्द लक्षित होता है, अतः कल्पितार्थत्व होने से असमर्थ दोष है। मम्मट ने यहाँ पदांशगत नेयार्थता दोष माना है।[2]

वाक्यगत, यथा –

सपदि पंक्ति विहंगमनामभृत्तनय संविलितं बलशालिना।
विपुलपर्वतवर्षिशितैः शरैः प्लवगसैन्यमुलूकजिता जितम् ।।[3]

यहाँ पंक्ति दस संख्या का बोधक है। विहंगम का अर्थ है चक्र, उस नाम को धारण करने वाला (चक्रभृत्) रथ। अर्थात् दस रथ जिसके हैं (दशरथ), उसके पुत्र राम – लक्ष्मणउलूकजिता – इन्द्र को जीतने वाले हैं। इस प्रकार कल्पित होने से असमर्थत्व दोष है।

संदिग्धार्थ होने से असमर्थ दोष – इसका पदगत उदाहरण –

अलिङ्गितस्तत्र भवान्सम्पराये जयश्रिया।
आशीः परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु।[4]

---

1. वही, पृ. 236
2. काव्यप्रकाश, पृ. 300
3. काव्यानु, पृ. 236
4. काव्यानुशासन, पृ. 237

यहाँ पर "वन्द्यां" पद वन्दी के सप्तमी विभक्ति एकवचन में प्रयुक्त होकर बन्दी बनायी गयी महिला का बोधक है अथवा 'आशी: परम्परां,' का विशेषण एवं द्वितीया विभक्ति एक - वचन में प्रयुक्त होकर पूज्या का बोधक है, इसमें संदेह है।

वाक्यगत, यथा -

सुरालयोल्लासपर: प्राप्तपर्याप्तकम्पन: ।
मार्गणप्रवणो भास्वद् भूतिरेष विलोक्यते ।।[1]

यहाँ पर सुर, कम्पना, मार्गण एवं भास्वद्भूति क्रमश: देव, सोना, बाण और विभूति अर्थ के वाचक हैं अथवा क्रमश: मदिरा, कम्पन, भिक्षा एवं राख आदि अर्थ के वाचक हैं, इसमें संदेह है, अतएव असमर्थता दोष है।

आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट सम्मत अवाचकता, प्रतिहितता, नेयार्थता व संदिग्धता नामक दोषों का अन्तर्भाव असमर्थत्व दोष में कर लिया है।[2]

<u>अनुचितार्थता दोष</u> - पदगत यथा,

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नत: सत्रिभिरिष्यते च या।
प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागता:।।[3]

---

1. वही, पृ. 237
2. काव्यानु, विवेक टीका, पृ. 229
3. वही, पृ. 238

यहाँ पर पशु पद कातरता की अभिव्यक्ति कर रहा है जो कि अनुचित है। (यहाँ पर वीरों की शूरता का वर्णन होना चाहिए) अतएव अनुचितार्थ नामक दोष है।

वाक्यगत, यथा -

कुविन्दस्त्वं तावत्पश्यति गुणग्राममभितो।
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि वनस्थास्तव विभो।।
शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकट सर्वांगसुभगा।
तथापि त्वत्कीर्तिर्भ्रमति विगताच्छादनामिह।।[1]

यहाँ कुविन्दादि शब्द जुलाहापरक अर्थ के भी वाचक होने से स्तूयमान राजा के तिरस्कार को व्यंजित करते हैं, अतः दोष है।

श्रुतिकटुत्व - परूषवर्ण को श्रुतिकटु दोष कहते हैं। पदगत, यथा -

अनंगमंगलगृहापांग भङ्गितरंगितैः।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कातार्थ्यं लभते कदा।।[2]

यहाँ "कातार्थ्य" पद श्रुतिकटु होने से दोष है।

वाक्यगत, यथा -

अचूचुरच्चण्डि कपोलयोस्ते कान्तिद्रवं द्राग्विशदं शशांकः। [3]

---

1. वही, पृ. 239
2. वही, पृ. 240
3. वही, पृ. 240

यहाँ "चण्डि" और "द्राग" आदि पदों में श्रुतिकटुता होने से दोष है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इसके वक्ता आदि के औचित्य से गुण होने के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। जैसे – वैयाकरण के वक्ता और प्रतिपाद्य होने से क्रमशः "दीधीङ्वेवीङ् समः" इत्यादि तथा " यथा"त्वामहमङ्गाक्षी" इत्यादि । सिंह में वाच्य होने से परूष शब्दों के गुण होने का उदाहरण, "मार्तङ्गाः किमु वल्गितैः "इत्यादि दिया है। वीभत्स में व्यङ्ग्य होने पर गुण होने का उदाहरण तथा क्रोधी व्यक्ति के सिर धुनने आदि की स्थिति में इसके गुण होने का उदाहरण भी दिया गया है। कहीं – कहीं पर यह दोष न गुण होता है और न दोष। जैसे –

शीर्णघ्राणांघ्रिपाणीन्" इत्यादि।

<u>क्लिष्टत्व</u> – व्यवधानपूर्वक अर्थ का बोध कराने वाला क्लिष्टत्व दोष है।

पदगत, यथा –

दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकानां ।
ज्योत्स्नाजुषा जललवास्तरलं पतन्ति ।।[1]

इसमें दक्ष की आत्मजा तारा, उसका दयित (प्रिय) चन्द्रमा, उसकी वल्लभायें चन्द्रकान्तमणियां, उसकी वेदिकाओं की चाँदनी के साथ

---

1. वही, पृ, 241

संयोग से चंचल जलकण गिर रहे हैं। यहाँ अर्थ की प्रतीति व्यवधानपूर्वक होने से दोष है। झटित्यर्थ की प्रतीति में गुण होता है। जैसे - काञ्चीगुण - स्थानमनिन्दितायाः"

क्लिष्टदोष का वाक्यगत उदाहरण -

धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरंगशावाक्ष्याः।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ।।[1]

यहाँ केशपाश की शोभा देखकर किसका मन रञ्जित नहीं होता है। इस प्रकार दूरस्थित सम्बन्ध में क्लिष्टता दोष है।

अविमृष्टविधेयांश - जहाँ प्रधानरूप से विधेयांश का कथन न किया गया हो वहाँ ये दोष होता है।

पदगत, यथा -

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने।।[2]

यहाँ अलक्ष्यता अनुवाद्य नहीं है, अपितु विधेय है, अतः "अलक्षिता जनिः" यह कहना चाहिए था ।

---

1. वही, पृ. 242
2. वही, पृ. 242

वाक्यगत, यथा -

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्मद्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः।।
इत्यप्रार्थितसर्वलभ्यविभवे दोषोऽप्ययमेको वने।
दुष्टप्रापार्थिनि यत्परार्थघटनाबन्धैर्वृथा स्थीयते।।[1]

यहाँ "शाद्वल" इस अनुवाद वाक्य से "शय्या" आदि विधेय हैं। यहाँ शब्द रचना विपरीत करने से वाक्य - दोष ही है, वाक्यार्थ नहीं।

विरुद्धबुद्धिकृत - पदगत, यथा -

गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः।
सविधे निरहङ्कारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः ।।[2]

यहाँ अम्बिकारमण का अर्थ गौरीरमण विवक्षित है, किन्तु मातृरमण इस प्रकार विरुद्धबुद्धि उत्पन्न होने से दोष है।

वाक्यगत, यथा -

अनुत्तमानुभावस्य परैरपिहितौजसः ।
अकार्यसुहृदोऽस्माकमपूर्वास्तव कीर्तय ।।[3]

---

1. वही, पृ. 242
2. वही, पृ. 260
3. वही, पृ. 260

यहाँ "अकार्यों में मित्र" से "बुरे कामों में मित्र" तथा "अपूर्व कीर्ति" में अपूर्वक कीर्ति अर्थात् अकीर्ति रूप विरूद्ध अर्थ की प्रतीति होने से दोष है । इसके कहीं - कहीं गुण होने का उदाहरण "अभिधाय तदातदप्रियं" इत्यादि दिया है।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने अनेक उदाहरणों द्वारा विषय को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया तथा एक - एक दोष से संबंधित सभी बातें एक साथ ही कह दी हैं।

आचार्य मम्मट के निहतार्थ, अवाचक, संदिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य और नेयार्थ को आचार्य हेमचन्द्र ने अलग से स्वीकार नहीं किया है, अपितु इनका समावेश स्वीकृत दोषों में ही कर लिया है। असमर्थ नामक उभयदोष में अवाचक, कल्पित तथा संदिग्ध को समाहित कर लिया है। उन्होंने जिन दोषों को जिसके अन्तर्गत स्वीकार किया है उसमें तत् - तत् दोषों के उदाहरण दिये हैं। साथ ही दोषों के अन्तर्भाव का यत्र - तत्र स्वोपज्ञ विवेक टीका में उल्लेख किया है।

आचार्य मम्मट ने तेरह दोष पदगत और उनमें क्लिष्ट, अविमृष्ट-विधेयांश तथा विरूद्धमतिकृत् इन तीन को मिलाकर 16 दोष समासगत माने है। इसी प्रकार इन 16 में से च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक इन तीन दोषों को छोड़कर शेष 13 वाक्यगत दोष माने हैं तथा इन्हीं में से 6 को पदांशगत दोषं के उदाहरण के रूप में भी प्रतिपादित किया है। परन्तु हेमचन्द्राचार्य ने इस

प्रकार का विभाजन नहीं किया है अपितु उपर्युक्त 8 दोषों को स्वतंत्ररूप से प्रतिपादित किया है जो पद तथा वाक्य दोनो में समानरूप से पाये जाते हैं।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने 15 वाक्यदोषों का उल्लेख किया है। (1) ग्राम्य, (2) संदिग्ध, (3) दुःश्रव, (4) अप्रतीत, (5) अयोग्यार्थ (अनुचितार्थ), (6) अप्रयुक्त, (7) अवाचक, (8) जुगुप्साजनक अश्लील, (9) अमंगलजनक अश्लील, (10) व्रीडाजनक अश्लील, (11) नेयार्थ, (12) निहतार्थ, (13) विरूद्धमतिकृत, (14) अविमृष्टविधेयांश और (15) संक्लिष्ट।[1]

इनमें से 8 दोषों का विवेचन हेमचन्द्राचार्य के उभय-दोष वर्णन के प्रसंग में किया जा चुका है। जुगुप्सा, अमंगल और व्रीडाजनक - इन तीनों को हेमचन्द्र ने एक अश्लील दोष के अन्तर्गत माना है। इसी प्रकार अप्रयुक्त में ग्राम्य, अप्रतीत, अप्रयुक्त और निहतार्थ तथा असमर्थ में संदिग्ध, अवाचक और नेयार्थ का अन्तर्भाव किया है।

नरेन्द्रप्रभसूरिकृत उभयदोषों के लक्षणों व उदाहरणों में कोई नवीनता नहीं है।

आ॰ वाग्भट-द्वितीय ने निरर्थक आदि 16 शब्ददोष माने हैं।[2] उनके अनुसार ये सभी शब्द-दोष पद और वाक्य में समान रूप से पाये जाते हैं तथा इनका उल्लेख पहले पद-दोष प्रसंग में किया जा चुका है।

---

1. अलंकारमहोदधि, 5/6 - 8
2. काव्यानुशासन, वाग्भट - पृ॰ 19

अर्थदोष - विभिन्न कारणों के द्वारा अर्थ के दूषित होने को अर्थदोष कहते हैं। मम्मटाचार्य ने 23 अर्थदोषों का उल्लेख किया है -(1) अपुष्ट, (2) कष्ट, (3) व्याहत, (4) पुनरूक्त, (5) दुष्क्रम, (6) ग्राम्य, (7) संदिग्ध, (8) निर्हेतु, (9) प्रसिद्धिविरूद्ध, (10) विद्याविरूद्ध, (11) अनवीकृत, (12) सनियम - परिवृत्त, (13) अनियम - परिवृत्त, (14) विशेष - परिवृत्त, (15) अविशेष - परिवृत्त, (16) आकांक्षा, (17) अप्रयुक्त, (18) सहचर-भिन्न, (19) प्रकाशितविरूद्ध, (20) विध्ययुक्त, (21) अनुवादायुक्त, (22) त्यक्तपुनः स्वीकृत और (23) अश्लील।[1]

आचार्य वाग्भट प्रथम ने अर्थदोषों के सम्बन्ध में मात्र इतना लिखा है कि - बिना किसी कारण के देश, काल, आगम, अवस्था और द्रव्यादि के विरूद्ध अर्थ का गुम्फन नहीं करना चाहिए।[2] यथा - चैत्र मास के प्रारंभ में विकसित कुटज पुष्पों की पंक्ति से मुस्कराती हुई दिशाओं में हिम - कण के सदृश उष्ण सूर्य के अति प्रचण्ड हो जाने पर मरूस्थल के सरोवर में जलक्रीडा के लिये आए हुए मद के कारण अन्ध हाथियों के बच्चों को विषमय बाणों के प्रहार से योगीजन बेध रहे हैं।[3] यहाँ बसन्त ऋतु में कुटज पुष्पों का पुष्पित होना, कालविरूद्ध, सूर्य में हिमकण के समान शीतलता, द्रव्यविरूद्ध, मरूस्थल के सरोवर में जलक्रीड़ा देशविरूद्ध, हाथियों के बच्चों का मद के

1. काव्यप्रकाश, 7/55 - 57
2. वाग्भटालंकार, 2/27
3. वाग्भटालंकार, 2/28

कारण अन्ध हो जाना अवस्थाविरुद्ध और योगीजनों द्वारा बाणों से हाथी मारना आगमविरुद्ध होने से दोष है।

हेमचन्द्राचार्य ने प्रायः मम्मट का अनुसरण करते हुए 20 अर्थ - दोषों को स्वीकार किया है - (1) कष्ट, (2) अपुष्ट, (3) व्याहत, (4) ग्राम्य, (5) अश्लील, (6) साकांक्ष, (7) संदिग्ध, (8) अक्रम, (9) पुनरुक्त, (10) सहचरभिन्न, (11) विरुद्धव्यंग्य, (12) प्रसिद्धिविरुद्ध, (13) विद्याविरुद्ध, (14) त्यक्तपुनरात्त, (15) परिवृत्तनियम, (16) परिवृत्त - अनियम, (17) परिवृत्त - सामान्य, (18) परिवृत्त - विशेष, (19) परिवृत्त - विधि और (20) परिवृत्त - अनुवाद।[1]

इसके सोदाहरण लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिये हैं —

(1) कष्ट - "कष्टावगम्यत्वात्कष्ट त्वमर्थस्य" अर्थात् अर्थ का कष्टपूर्वक ज्ञान होना कष्टत्व दोष कहलाता है। यथा -

सदामध्ये यासाममृतरसनिष्पन्दसरसां
सरस्वत्युद्दामा वहितबहुमायां परिमलम्।
प्रसादं ता एता धनपरिचयाः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितरुचिरायां तु रुचयः।।[2]

---

1. काव्यानुशासन, 3/7
2. काव्यानुशासन, पृ. 261

अर्थात् जिन कवि - रूचियों के प्रतिभारूप प्रभावों के मध्य में बहुत मार्गवाली - सुकुमार, विचित्र और मध्यम रूप मार्गत्रय वाली सरस्वती चमत्कारपूर्वक प्रवाहित होती रहती है, वे कविरूचियां सर्गबन्ध लक्षण रूप महाकाव्याकाश में परिचयगत होकर दृश्य काव्य की भांति कैसे प्रसन्नता उत्पन्न करा सकती है? तथा जिन सूर्यप्रभाओं के मध्य में त्रिपथगा प्रवाहित होती है, वे आदित्य प्रभाएं मेघ से परिचित होने वाली कैसे प्रसन्न हो सकती हैं? इस प्रकार यहाँ पर दृश्य काव्य की अपेक्षा महाकाव्य की रचना कठिन होती है। इस अर्थ की प्रतीति बहुत कठिनाई से होती है, अतः कष्टत्व दोष है।

§2§ अपुष्टार्थता - "प्रकृतानुपयोगोऽपुष्टार्थत्वम्" अर्थात् प्रकृति में अनुपयोगी होना ।

यथा -

> तमालश्यामलं क्षारमत्यच्छमतिफेनिलम्।
> फालेन लंघयामास हनूमानेष सागरम्।।[1]

यहाँ "तमालश्यामल" आदि के ग्रहण न करने पर भी प्रकृत अर्थ की प्रतीति में कोई बाधा न होने से उक्त दोष है।

§3§ व्याहत - "पूर्वापरव्याघातो व्याहतत्वं" अर्थात् पूर्वापर अर्थ का घातक होना व्याहतत्त्व दोष कहलाता है ।

---

1. वही, पृ. 261

यथा -

जहि शत्रुकुलं कृत्स्नं जय विश्वंभिरामिमाम्।
न च ते कोऽपि विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिनः।।[1]

यहाँ विद्वेष के अभाव में शत्रुवध पूर्वापर विरुद्ध होने से उक्त दोष है।

{4} ग्राम्य - "अवैदग्ध्यं ग्राम्यत्वं" अर्थात् अविदग्धता (चातुर्य का अभाव) ग्राम्यत्व दोष है।

यथा -

स्वपिति यावदयं निकटो जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते।
इति निगद्य शनैरनुमेखलं ममकरं स्वकरेण रुरोध सा ।।[2]

{5} अश्लील - "व्रीडादिव्यञ्जकत्वमश्लीलत्वं" अर्थात् लज्जा आदि की व्यञ्जकता अश्लील दोष है। जैसे -

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ।।[3]

दुष्ट व्यक्ति के लिये प्रयुक्त उपर्युक्त पद्य से पुरुष जननेन्द्रिय

---

1. वही, पृ. 262
2. वही, पृ. 262
3. वही, पृ. 262

की भी प्रतीति होती है, अतः अश्लीलत्व दोष है।

§6§ साकाड्.क्ष - "साकाङ्क्षत्वम्" अर्थात् आकांक्षायुक्त होना ही साकाङ्क्षत्व दोष है।

यथा -

अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभो प्रत्युत,
द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया।
उत्कर्षञ्च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः,
स्त्रीरत्नञ्च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथं मृष्यते।।[1]

यहाँ "स्त्रीरत्नं" के पश्चात् "उपेक्षितुं" इस पद की आकांक्षा रहती है। "परस्य" का "स्त्रीरत्नं" से सम्बन्ध करना उचित नहीं है, क्योंकि "परस्य" का सम्बन्ध उत्कर्ष के साथ पहले ही हो चुका है।

इसी प्रकार -

गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयाद्
विमोक्ष्ये शस्त्र। त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते।।[2]

---

1. वही, पृ. 262
2. वही, पृ. 263

यहाँ पर शस्त्रत्याग में हेतु की आकांक्षा बने रहने से दोष है। इसे आ. मम्मट ने निर्हेतुत्व के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[1]

"जहाँ आकांक्षा नहीं रहती वहां दोष नहीं रहता है" इसका उदाहरण "चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते" इत्यादि हेमचन्द्र ने मम्मट के सदृश ही दिया है।[2] यहाँ रात्रि में कमल का संकोच और दिन में चन्द्रमा की कान्तिरहितता लोकप्रसिद्ध है। "न भुङ्क्ते" के लिये हेतु की अपेक्षा नहीं रहती है। मम्मट ने निर्हेतु नामक एक पृथक् अर्थदोष स्वीकार किया है। आचार्य हेमचन्द्रानुसार निर्हेतु का साकांक्षता में ही अन्तर्भाव हो जाता है, अलग से मानना उचित नहीं है।[3]

(7) संदिग्धता - "संशयहेतुत्वं सन्दिग्धत्वं" अर्थात् संशय के हेतु को संदिग्ध दोष कहते हैं।

यथा -

> मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
> रम्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेर विलासिनीनाम्।।[4]

यहाँ प्रकरण के अभाव में सन्देह होने से दोष है। शान्त अथवा श्रृंगार किसी एक का कथन करने पर अर्थ निश्चित हो सकता है।

---

1. काव्यप्रकाश, पृ. 330
2. काव्यानुशासन, पृ. 263
3. काव्यानु. टीका, पृ. 263
4. वही, पृ. 263

(8) अक्रमत्व - "प्रधानस्यार्थस्य पूर्वं निर्देशः क्रमस्तदभावोऽक्रमत्वम्" अर्थात् प्रधान अर्थ का पूर्व निर्देश करना क्रम है और उसका अभाव अक्रमत्व दोष कहलाता है। मम्मट ने इसे दुष्क्रम कहा है।

इसका उदाहरण हेमचन्द्राचार्य ने इस प्रकार दिया है -

"तुरगमथवा मातङ्गं मे प्रयच्छ मदालसम्[1]

यहाँ "मातङ्गं" का पहले निर्देश करना उचित था । अथवा क्रम के अनुष्ठान का अभाव अक्रमत्व है ("क्रमानुष्ठानाभावो वाक्रमत्वम्") यथा - "काराविऊण खउरं "[2] इत्यादि। आचार्य हेमचन्द्र ने कहीं - कहीं अतिशयोक्ति में इसके गुण हो जाने का उदाहरण भी साथ - साथ दिया है। जैसे - "पश्चात्पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम्" इत्यादि।[3]

(9) पुनरूक्तत्व - "द्विरभिधानं पुनरूक्तम्" अर्थात् एक ही अर्थ का दो बार कथन करना पुनरूक्त दोष कहलाता है।

यथा -

प्रसाधितस्याथ मधुद्विषोऽभूदन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतत्।
वपुष्यशेषेऽखिललोककान्ता सानन्यकाम्या ह्युरसीतरा तु ।।[4]

इस प्रकार कहकर इसी अर्थ को पुनः दूसरे श्लोक द्वारा कहते हैं —

---

1. वही, पृ. 264
2. वही, पृ. 264
3. काव्यानु.वृत्ति, पृ. 264
4. वही, पृ. 264

कपाटविस्तीर्णमनोरमोरः स्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य।
आनन्दिता शेषजना बभूव सर्वांगसंङ्गिन्यपरैव लक्ष्मीः।।[1]

अतः यहाँ एक ही अर्थ का दो बार कथन होने से दोष है। इसके कहीं - कहीं गुण होने का उदाहरण आ. हेमचन्द्र ने "प्राप्ताः श्रियः सकलकाम" इत्यादि दिया है। यह निर्वेद के वशीभूत (उदासीन) व्यक्ति का कथन होने से शान्तरस की पुष्टि करता है। अतः यहाँ पुनरूक्तत्व दोष गुण हो गया है।[2] आचार्य मम्मट ने अनवीकृतत्व नामक एक अन्य अर्थदोष माना है और उसी के उदाहरणरूप में "प्राप्ताः श्रियः" यह उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार यहाँ एक ही अर्थ का पुनः पुनः कथन किया गया है, अतः कोई नवीनता नहीं है। इसलिये अनवीकृतत्व दोष है।[3]

§10§ भिन्नसहचरत्व - "उचित सहचारिभेदो भिन्नसहचरत्वम्" अर्थात् उचित सहचर की भिन्नता भिसहचरत्व दोष है। यथा -

श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा।
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन वालङ्क्रियते नरेन्द्रता।।[4]

यहाँ श्रुति - बुद्धि आदि उत्कृष्ट सहचरों से व्यसन - मूर्खता रूप निकृष्ट सहचर की भिन्नता भिन्नसहचरत्व दोष है।

---

1. वही, पृ. 264
2. वही, 267
3. काव्यप्रकाश, उदा. 272
4. काव्यानुशासन, पृ. 267

§11§ विरूद्धव्यंग्यत्व - "विरूद्धं व्यङ्ग्यं यस्य तद्भावो विरूद्धव्यंग्यत्वम्" अर्थात् विरूद्ध व्यंग्य का भाव ही उक्त दोष है। यथा -

"लग्नं रागावृताङ्ग्या - - - - - - - - - - - - - ।[1] इत्यादि में "विदितं तेऽस्तु" (तुम्हें मालूम होना चाहिए) इससे "लक्ष्मी उसको छोड़ रही है" इस विरूद्ध व्यंग्य की प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ विरूद्धव्यंग्यत्व दोष है।

§12§ प्रसिद्धिविरूद्धत्व - "प्रसिद्ध्या विद्याभिश्च विरूद्धत्वम्। तत्र प्रसिद्धिविरूद्धत्वं" अर्थात् प्रसिद्धि के विरूद्ध कथन करना उक्त दोष है । यथा -

इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने,
यदेतस्मिन् हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम्।
इदं तद् दुःसाध्यक्रमणपरमास्त्रं स्मृतभुवा,
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम्।।[2]

यहाँ काम का चक्रलोक में अप्रसिद्ध होने से दोष है। अथवा "उपपरिसरं गोदावर्याः ——— ।[3] इत्यादि में पैरों के प्रहार से अशोक में पुष्पों का निकलना ही कवियों में प्रसिद्ध है, अंकुरों का निकलना नहीं । अतः अंकुरोद्गम

---

1. काव्यानु, पृ. 267
2. वही, पृ. 267
3. वही, पृ. 268

के वर्णन में प्रसिद्धि - विरुद्धदोष है। अथवा अनुप्रास में, यथा -

"चक्री चक्रारपंक्ति ———[1] इत्यादि उदाहरण में कर्त्ता और कर्म के प्रतिनिधि रूप में स्तुति का वर्णन अनुप्रास के अनुरोध से ही किया गया है। पुराण, इतिहास में उस प्रकार की प्रसिद्धि नहीं है। अतः उक्त दोष है।

विद्याविरुद्धत्व - "कलाचतुर्वर्गशास्त्राणि विद्या कलाश्च गीतनृत्तचित्रकर्मादिकाः। अर्थात् कला, चतुर्वर्ग शास्त्र विद्या है और गीत, नृत्त चित्रकर्मादि कलाएं हैं।

गीतविरुद्ध, यथा -

> श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः
> सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम्।
> प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः
> परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय।।[2]

यहाँ संगीतशास्त्र विरुद्ध कथन होने से गीतविरुद्ध (विद्याविरुद्ध) दोष है। आ. हेमचन्द्र ने धर्मशास्त्रविरुद्ध, अर्थशास्त्रविरुद्ध, कामशास्त्र विरुद्ध और मोक्षशास्त्रविरुद्ध उदाहरण वृत्ति में पृथक् - पृथक् प्रस्तुत किये हैं।

---

1. वही, पृ. 268
2. वही, पृ. 269

(14) त्यक्तपुनरात्तत्व - यथा -

"लग्नं रागावृताङ्ग्या ———।" यहाँ "विदितं तेऽस्तु" इस प्रकार उपसंहार होने पर भी "तेन" इत्यादि के द्वारा पुनः ग्रहण करने से दोष है।[1] इसके गुण हो जाने का उदाहरण "शीतांशोरमृतच्छटा यदि -" इत्यादि उन्होंने प्रस्तुत किया है।

(15) परिवृत्त - नियम - "परिवृत्तौ विनिमयितौ नियमानियमौ सामान्यविशेषौ विध्यनुवादौ च यत्र । तद्भावस्तत्त्वम्।"

जिसका नियमपूर्वक कहना उचित हो उसे बिना किसी नियम के कह देने में उक्त दोष होता है। यथा -

यत्रानुल्लिखितार्थमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा ।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लंघ्य यत्सम्पद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम्।।[2]

यहाँ छाया मात्र से मणि बने हुए पत्थरों में उस मणि को पत्थर रूप में ही गणना करना उचित था, यह नियम होने पर उसका आभास यह अनियम कहा है, अतः परिवृत्तनियम दोष है। मम्मट ने इसे सनियम परिवृत्त कहा है।

1. काव्यानुशासन, पृ. 267
2. वही, पृ. 271

§16§ परिवृत्त – अनियम – "परिवृत्तोऽनियमो नियमेन" अर्थात् जिसका नियमपूर्वक कथन उचित न हो किन्तु सनियम कथन हो तो उक्त दोष होता है। यथा –

वक्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते,
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चत्य भीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन्कथमवनिपते। तेऽम्बुपानाभिलाषः ।।[1]

यहाँ शोण यह अनियम वाच्य होने पर "शोण एव" यह नियम कहा है। अतः परिवृत्त – अनियम दोष है।

§17§ परिवृत्त – सामान्य – "परिवृत्तं सामान्यं विशेषेण" अर्थात् सामान्य की अपेक्षा विशेष वाचक शब्द का प्रयोग करना, यथा –

कल्लोलवेल्लितदृषत्परूषप्रहारैः
रत्नान्यमूनि मकराकर। मावमंस्थाः।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम,
याञ्चाप्रसारितकरः पुरूषोत्तमोऽपि।।[2]

यहाँ "एकेन किं न विहितो भवतः स नाम" इस सामान्य के वाच्य होने पर "कौस्तुभेन" इस विशेष का कथन होने से परिवृत्त सामान्य दोष है।

---

1. वही, पृ. 271–72
2. वही, पृ. 272

§18§ <u>परिवृत्त – विशेष</u> – "परिवृत्तो विशेषः सामान्येन" अर्थात् विशेष की अपेक्षा सामान्यवाचक शब्द का प्रयोग करना। यथा –

श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः सान्द्रैर्मषीकूर्चकैः,
मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां स्मितम्।
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टिके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः॥[1]

यहाँ "ज्योत्स्नाम्" इस विशेष के वाच्य होने पर "श्यामाम्" इस सामान्य का कथन करने से उक्त दोष है।

§19§ <u>परिवृत्त विधि</u> – "परिवृत्तो विधिरनुवादेन" अर्थात् विधि की अपेक्षा अनुवाद कथन करना। यथा –

अरे रामाहस्ताभरण, भ्रमरश्रेणिशरण,
स्मरक्रीडाव्रीडाशमन, विरहिप्राणदमन,
सरोहंसोत्तंस, प्रचलदलनीलोत्पलसखे,
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना॥[2]

यहाँ विधि के वाच्य होने पर "विरहिप्राणदमन" रूप अनुवाद का कथन होने से परिवृत्तविधि दोष है।

---

1. वही, पृ. 272
2. वही, पृ. 272

§20§ परिवृत्त - अनुवाद - "परिवृत्तोऽनुवादो विधिना" अर्थात् अनुवाद की अपेक्षा विधि का कथन करना । यथा -

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशां,
अकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम्।
इयं परिसमाप्यो रणकथाऽद्य दोःशालिनां,
अपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः।।[1]

यहाँ "शयित" इस अनुवाद के वाच्य होने पर "शेषे" इस विधि का कथन करने से परिवृत्त - अनुवाद दोष है।

इस प्रकार आ. हेमचन्द्र ने मम्मट के 23 अर्थदोषों के स्थान पर 20 अर्थदोष माने हैं। अधिकांश उदाहरणों में तथा कतिपय उदाहरणों के प्रतिपादन में साम्य दृष्टिगत होता है। मम्मट ने जिन अन्य तीन अर्थ - दोषों - निर्हेतु, अनवीकृतत्व व अपद्युक्तता को माना है, उनमें से निर्हेतु का अन्तर्भाव हेमचन्द्राचार्य ने साकाङ्क्ष में [illegible] किया है तथा अनवीकृतत्व का जो उदाहरण मम्मट ने दिया है उसे आ. हेमचन्द्र ने पुनरूक्त दोष के गुण होने के उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है। निष्कर्षतः आ. हेमचन्द्र ने मम्मट के आधार पर ही दोष - निरूपण प्रस्तुत किया है, किन्तु विवेचन तथा उदाहरणों के क्षेत्र में उनकी विचार - सूक्ष्मता व पाण्डित्य स्पष्ट परिलक्षित होता है।

---

1. वही, पृ. 273

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट द्वारा उल्लिखित 23 अर्थदोषों का ही विवेचन किया है।[1] उनके उदाहरण भी प्रायः काव्यानुशासन व काव्यप्रकाश से गृहीत हैं।

आ. वाग्भट द्वितीय ने 14 अर्थदोषों का उल्लेख किया है। जिनके नाम इस प्रकार हैं — (1) कष्ट, (2) अपुष्ट, (3) व्याहत, (4) ग्राम्य, (5) अश्लील, (6) साकांक्ष, (7) संदिग्ध, (8) अक्रम, (9) पुनरुक्त, (10) सहचरभिन्न, (11) विरुद्धव्यंग्य, (12) प्रसिद्धि-विरुद्ध, (13) विद्याविरुद्ध और (14) निर्हेतु।[2] इसके अतिरिक्त उन्होंने लिखा है कि परिवृत्त नियम, परिवृत्त - अनियम, परिवृत्त सामान्य, परिवृत्त विशेष, परिवृत्त विधि और परिवृत्त - अनुवाद आदि दोष काव्यप्रकाश में कहे जाने पर भी पूर्वोक्त दोषों में उनका अन्तर्भाव हो जाता है अतः हमने उनका उल्लेख नहीं किया है।[3]

भावदेवसूरि ने आठ अर्थदोषों का उल्लेख किया है— (1) अपुष्टार्थ, (2) कष्ट, (3) व्याहत, (4) विरुद्ध, (5) अनुचित, (6) ग्राम्य, (7) संदिग्ध और (8) पुनरुक्त[4]। "अनुचितार्थ" को जिसे पूर्वाचार्यों ने पदगत

---

1. अलंकारमहोदधि, 5/11-14
2. काव्यानुशासन - वाग्भट, पृ. 27
3. परिवृत्तनियमा नियमसामान्यविशेष विध्यनुवादादयः काव्यप्रकाशादावुक्तावपि पूर्वोक्तेष्वेवान्तर्भवन्तीत्यस्माभिर्नोक्तः।
   - काव्यानुशासन - वाग्भट, स्वोपज्ञ - अलंकार तिलक टीका-पृ. 29
4. काव्यालङ्कारसार, 3/19

दोष माना है - भावदेवसूरि ने अर्थदोष माना है।

इस प्रकार अर्थदोषों के प्रसंग में विचार करने से यही प्रतीत होता है कि प्रायः सभी जैनाचार्यों ने आचार्य मम्मट को ही आधार मानकर दोष निरूपण किया है।

रस - दोष - रसवादी आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा, जीवनाधायक तत्त्व माना है। एवंभूत रस के दूषित हो जाने से काव्यत्व की हानि निश्चित है। अतः रसदोषों के परिहार हेतु उनका ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

आचार्य मम्मट ने दस प्रकार के रसदोषों का उल्लेख किया है - (1) स्वशब्दवाच्यता अर्थात् व्यभिचारिभावों, रसों और स्थायिभावों का स्वशब्द से कथन करना, (2) अनुभाव तथा विभाव की कल्पना से अभिव्यक्ति,[1] (3) रस के प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण, (4) एक ही रस की पुनः पुनः दीप्ति, (5) अनवसर में रस का विस्तार, (6) अनवसर में रस का विच्छेद, (7) अङ्ग रस का अतिविस्तार, (8) अंगी रस का भूल जाना, (9) प्रकृतियों का विपर्यय और, (10) अनङ्ग, (अनुपयोगी) रस का कथन।[2]

---

1. प्रथम में तीन और द्वितीय में दो भेदों को मिलाकर गिनने से दस दोष होते हैं। इन्हें अलग - अलग मानने पर दस के स्थान पर तेरह भेद हो सकते हैं। आचार्य विश्वेश्वर ने काव्यप्रकाश के पृ. 357 पर 13 भेदों को गिनाया है।
2. काव्यप्रकाश, 7/60-62

जैनाचार्य हेमचन्द्र रस-दोषों के विवेचन प्रसंग में सर्वप्रथम लिखते हैं कि रसादि का स्वशब्द से कथन करना, कहीं - कहीं संचारिभाव को छोड़कर रसदोष कहलाता है।[1] उन्होंने वृत्ति में आदि पद से रस के अतिरिक्त स्थायिभाव व व्यभिचारिभाव को भी परिगणित किया है तथा सभी के उदाहरण दिये हैं। रस के साथ श्रृंगारादि के स्वशब्द से कथन का उदाहरण "श्रृंगारी गिरिजानने सकरूपो......।[2] इत्यादि तथा स्थायि और व्यभिचारिभावों के स्वशब्द से कथन के उदाहरण पृथक् - पृथक् दिये हैं। यथा - "संप्रहारेप्रहरणैः.....।[3] इत्यादि एवं "सव्रीडा दयितानने.....।[4] इत्यादि|उनके अनुसार कहीं - कहीं संचारी भाव के शब्दतः कथित होने पर भी दोष नहीं होता है इसका उदाहरण उन्होंने "औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा.....।[5] प्रस्तुत किया है।

इसके पश्चात् विभावादि की प्रतिकूलता नामक रसदोष का विवेचन अलग से करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि रस के बाधित होने पर आश्रय के ऐक्य होने पर, निरन्तरता होने पर और अनङ्गता होने पर विभावादि की प्रतिकूलता नामक रसदोष होता है।[6] यथा - "प्रसादे वर्तस्व

---

1. रसादेः स्वशब्दोक्तिः क्वचित् सञ्चारिवर्ज दोषः काव्यानुशासन, पृ. 159, 3/1
2. वही, पृ, 159
3. वही, पृ. 160
4. वही, पृ, 160
5. वही, पृ. 160
6. अबाध्यत्वे आश्रयैक्ये नैरन्तर्येऽनङ्गत्वे च विभावादिप्रातिकूल्यम् वही, 3/2

प्रक्टय.....।[1] इत्यादि में प्रकृत श्रृंगार रस के प्रतिकूल शान्त रस के अनित्यता प्रकाशन रूप विभाग का ग्रहण किया गया है तथा उससे प्रकाशित निर्वेद भी आस्वादित हो रहा है, अतः दोष है।

किन्तु यही विभावादि जब बाधित रूप में कथित होते हैं तो दोष नहीं होता अपितु प्रकृत रस का परिपोष होता है, यथा – क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः ...।[2] इत्यादि। इसी प्रकार "सत्यं मनोरमाः रामाः ....।[3] इत्यादि भी।

इसी प्रकार आश्रयैक्य विरोध, नैरन्तर्य विरोध व अनङ्गत्व विरोध भी होता है।

आश्रयैक्य विरोध उसे कहते हैं, जहाँ एक ही आश्रय में वीर और भयानक जैसे दो विरोधी रसों का वर्णन हो। इस प्रकार का दोष एक रस का प्रतिनायकगत वर्णन कर देने से समाप्त हो जाता है।[4]

जहाँ एक ही आश्रय में बिना किसी व्यवधान के दो विरोधी रसों का वर्णन हो तो उसे नैरन्तर्य विरोध कहते हैं। उदाहरण शान्त व श्रृंगार ये दो विरोधी रस एक साथ किसी व्यक्ति में उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः

---

1. वही, पृ. 161
2. वही, पृ. 162
3. वही, पृ. 162
4. वही, पृ, 162

ऐसा वर्णन करने पर नैरन्तर्य विरोध होता है। किन्तु शान्त तथा शृंगार के मध्य अन्य रस का वर्णन करने से विरोध समाप्त हो जाता है।[1]

इसी प्रकार जब दो विरोधी रस अङ्गी रूप में अभिहित हो तो दोष होता है, किन्तु जब एक रस किसी दूसरे प्रधान रस का अंग हो जाता है तो दोष समाप्त हो जाता है।[2]

तदनन्तर निम्नलिखित 8 रसदोषों का आ. हेमचन्द्र ने विवेचन किया है — (1) विभाव और अनुभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, (2) एक ही रस की पुनः पुनः दीप्ति, (3) अनवसर में रस का विस्तार, (4) अनवसर में रस का विच्छेद, (5) अंग का अतिविस्तार से वर्णन, (6) अंगी (रस) की विस्मृति, (7) अनंग का वर्णन और (8) प्रकृति व्यत्यय।[3]

इनका विवेचन इस प्रकार है —

§1§ <u>विभावानुभाव की कष्टकल्पना द्वारा अभिव्यक्ति</u> – इनमें विभाव,

यथा –

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः।।[4]

---

1. वही, पृ. 162
2. वही, पृ. 164
3. वही, 3/3
4. वही, पृ. 169

यहाँ पर वर्णित रति परिहार आदि अनुभावों के करूण इत्यादि में भी संभव होने से कामिनी रूप आलम्बन विभाव की प्रतीति बड़ी कठिनता से होती है, अतः दोष है।

इसी प्रकार अनुभाव की कष्टकल्पना का उदाहरण —

कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधूतदिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः।
लीलाशिरोऽशुंकनिवेशविशेषक्लृप्तिव्यक्त स्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा।।[1]

यहाँ उद्दीपन (चन्द्रमा) और आलम्बन रूप (नायिका) श्रृंगार योग्य विभाव, अनुभाव में पर्यवसित रूप में स्थित न होने से अनुभाव की कष्टपूर्वक अभिव्यक्ति हो रही है।

(2) <u>रस की पुनः पुनः दीप्ति</u> – अंगभूत रस का परिपोष हो जाने पर भी बार – बार उसे उद्दीप्त करना दोष है, यथा –

कुमारसंभव के रतिविलाप में ।[2]

(3) <u>अनवसर में रस का विस्तार</u> – उदाहरणार्थ – "वेणीसंहार" के द्वितीय अंक में भीष्मादि अनेक वीरों के युद्ध में विनाश के अवसर पर दुर्योधन का श्रृंगार वर्णन अनवसर में रस का विस्तार है।[3]

---

1. वही. पृ. 170
2. वही, पृ. 170
3. वही, पृ. 170

§4§ अनवसर में रस का विच्छेद – उदाहरणार्थ – "वीरचरित" नाटक के द्वितीय अंक में राम तथा परशुराम के युद्धोत्साह में अविच्छिन्न रूप से प्रवृत्त होने पर राम की यह उक्ति – "कङ्कणमोचनाय गच्छामि" अनवसर में ही रसास्वादन में विच्छेद कराने वाली है, क्योंकि इससे रामगत वीररस की प्रतीति में बाधा पड़ती है।[1]

§5§ अङ्ग (अप्रधान)रस का अतिविस्तार से वर्णन – यथा –

"हयग्रीव – वध" में हयग्रीव (प्रतिनायक) का विस्तार से वर्णन दोष है।[2]

§6§ अंगी (प्रधान) की विस्मृति – यथा – "रत्नावली" के चतुर्थ अंक में बाभ्रव्य के आगमन से नायक वत्सराज द्वारा सागरिका (अंगी) की विस्मृति दोष है, क्योंकि स्मृति सहृदयता का सर्वस्व है। यथा – "तापसवत्सराज" मे छः अंकों में भी वासवदत्ता विषयक प्रेम सम्बन्ध कथावशात् विच्छेद की आशंका होने पर भी निबद्ध किया गया है।[3]

§7§ अनंग का वर्णन – अनङ्ग अर्थात् प्रकृत रस के अनुपकारक का वर्णन होने पर भी दोष होता है। यथा – "कर्पूरमंजरी" में राजा द्वारा नायिका और अपने द्वारा किए बसन्त वर्णन की उपेक्षा कर बन्दियों द्वारा वर्णित बसन्त की प्रशंसा करना।[4]

---

1. वही, पृ, 171
2. वही, पृ. 171
3. वही, पृ. 172-173
4. वही, पृ, 172

§4§ <u>प्रकृतिव्यत्यय</u> - (पात्रों का विपर्यय) हेमचन्द्राचार्य के अनुसार प्रकृति सात प्रकार की होती है - (1) दिव्या, (2) मानुषी, (3) दिव्यमानुषी, (4) पातालीया, (5) मर्त्यपातालीया, (6) दिव्य पातालीया, (7) दिव्यमर्त्यपातालिया।[1]

वीर, रौद्र, श्रृंगार और शान्तरस प्रधान काव्यों में क्रमशः धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित व धीरप्रशान्त नायक होते हैं, ये चारों उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन - तीन प्रकार के होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र की मान्यतानुसार रति, हास्य, शोक और अद्भुत को मानुषोत्तम प्रकृति की तरह दिव्यादि प्रकृतियों में भी निबद्ध करना चाहिए, किन्तु संभोग श्रृंगाररूप उत्तम देवता विषयक रति का वर्णन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका वर्णन माता - पिता के संभोग वर्णन की तरह अत्यन्त अनुचित है। कुमारसंभव में जो शंकर -पार्वती के संभोग का वर्णन किया गया है, वह कवित्व - शक्ति के तिरस्कार से अधिक दोषों से युक्त प्रतिभासित नहीं होता है। क्रोध का भी भृकुटि आदि विकार से रहित शीघ्र फलदायक रूप में निबद्ध करना चाहिए। स्वर्ग - पाताल गमन, समुद्र लंघन आदि के उत्साह का वर्णन मनुष्यों से भिन्न दिव्यादि प्रकृतियों में करना चाहिए । मनुष्यों में जितना पूर्व चरित्र प्रसिद्ध है या उचित है उतना ही वर्णन करना चाहिए। इससे अधिक असंभव वर्णन करने पर

---

2. वही, पृ. 173-174

असत्यता की प्रतीति होती है और "नायक की भांति आचरण करना चाहिए, प्रतिनायक की भांति नहीं" इस उपदेश में पर्यवसित नहीं होता है। इस प्रकार कही गई प्रकृतियों का अन्यथारूपेण वर्णन प्रकृतिव्यत्यय है।[1]

आगे वे लिखते हैं कि "तत्रभवन्", "भगवन्" इन सम्बोधनों का उत्तम नायक के द्वारा प्रयोग किया जाना चाहिए, अधम के द्वारा नहीं, वह भी मुनि आदि में, राजा आदि में नहीं। "भट्टारक" सम्बोधन का प्रयोग (उत्तम के द्वारा) राजा आदि मे नहीं करना चाहिए। परमेश्वर सम्बोधन का प्रयोग मुनि प्रभृति में नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर प्रकृति व्यत्यय दोष होता है।[2] इसके समर्थन में उन्होंने रूद्रट की दो कारिकायें भी उद्धृत की हैं।[3] इसी प्रकार देश, काल और जाति आदि के वेष - व्यवहारादि का समुचित रूप से औचित्य के आधार पर निबन्धन करना चाहिए।[4] इसका सोदाहरण विवेचन विवेक टीका में उन्होंने प्रस्तुत किया है।[5] यह विवेचन काव्यामीमांसा से बहुत कुछ मिलता है। आचार्य मम्मट तथा हेमचन्द्र के रसदोष विवेचन में पर्याप्त साम्य है। दोनों ही आचार्यों ने रसदोषों के नाम प्रायः एक से ही दिये हैं। मात्र उनके वर्णन क्रम में अन्तर है।

---

1. वही, पृ, 176 - 178
2. वही, पृ. 178
3. वही, वृत्ति, पृ. 178
4. वही, टीका, पृ. 179 - 198

आ. रामचन्द्र - गुणचन्द्र ने 5 रसदोषों का उल्लेख किया है- (1) रसों का अनौचित्यपूर्ण वर्णन, (2) अंगों की उग्रता अर्थात् अप्रधानभूत रस का प्रधान रस की अपेक्षा विस्तारपूर्वक वर्णन, (3) मुख्य रस की पुष्टि का अभाव, (4) मुख्य रस का आवश्यकता से अधिक विस्तार और (5) अंगी (प्रधान) रस को भुला देना।[1]

§1§ <u>रसों का अनौचित्यपूर्वक वर्णन करना</u> - सहृदयों के मन शंका या संदेह उत्पन्न करने वाला कर्म अनौचित्य कहलाता है, और वह अनेक प्रकार का हो सकता है।[2] यह रस का अनौचित्य -

§क§ कहीं प्रतिकूल विभावादि के वर्णन रूप होता है।

जैसे - व्यजत मानमलं ... ।[3] इत्यादि।

§ख§ कहीं बेमौके विस्तार कर देना भी रस दोष होता है जैसे वेणीसंहार के द्वितीयांक में धीरोद्धत प्रकृति के नायक होने पर भी भीष्मादि लाखों वीरो का नाश कर डालने वाले भीषण युद्ध के प्रारम्भ होने पर भी भानुमती के प्रति श्रृंगार का वर्णन अकाण्ड - प्रथन रूप रसदोष का उदाहरण है।

---

1. दोषोऽनौचित्यमङ्गौग्र्यं अपोषोत्युक्तिरङ्गिभित्
   हिन्दी नाट्य दर्पण, पृ. 324
2. सहृदयानां विचिकित्साहेतु कर्मानौचित्यं तच्चानेकधा,
   वही, पृ. 324
3. वही, पृ. 324

(ग) कहीं अवसर के बिना ही रस का विच्छेद कर देना, यथा - महावीरचरित में राम व परशुराम के मध्य वीर रस के पूर्ण प्रवाह पर आ जाने पर राम का "कङ्कणमोचनाय गच्छामि" यह कथन।

(घ) कहीं उत्तम, अधम तथा मध्यम प्रकृतियों का विपरीत रूप में वर्णन (प्रकृति - विपर्यय नामक रसदोष है) ।

(ङ.) मध्य तथा अधम प्रकृति के नायकादि के साथ अग्राम्य अर्थात् शुद्ध श्रृंगार, वीर, रौद्र तथा शांतरस के प्रकर्ष का वर्णन ।

(च) उत्तम प्रकृतियों में भी दिव्य पात्रों के श्रृंगार का वर्णन करना, माता - पिता के श्रृंगार रस के वर्णन के समान होने से अनुचित है।

(छ) देवताओं को छोड़कर उत्तम प्रकृतियों मे भी तुरंत फल देने वाले क्रोध, स्वर्ग या पाताल में गमन, समुद्रलंघनादि के उत्साह का वर्णन भी प्रकृति व्यत्यय नामक रसदोष है।

(ज) धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित व धीरशांत रूप उत्तम प्रकृतियों में भी वीर, रौद्र, श्रृंगार तथा शांत रसों का वर्णन न करना अथवा विपरीत वर्णन प्रकृति-विपर्यय नामक रस-दोष होता है और मध्यम तथा अधम प्रकृतियों में तो इन धीरोदात्तादि में

वीरादि रसों के प्रकर्ष का वर्णन भी अनुचित होने से प्रकृति विपर्यय नामक रसदोष में आता है।

(झ) कहीं वर्णों तथा समासों का रस के विपरीत रूप में अन्यथा प्रयोग भी रसदोष है।

(ञ) कहीं उत्तम प्रकृति के नायक की उत्तम नायिका के प्रति व्यभिचार संभावना भी अनौचित्य मानी जाती है।

(ट) कहीं नायिका के पादप्रहारादि से नायक के कोप का वर्णन करना भी अनौचित्य है।

(ठ) कहीं आयु, वेष, देश, काल, अवस्था तथा व्यवहारादि का अन्यथा वर्णन भी अनौचित्य माना जाता है।

(ड) यमक, इसी प्रकार अनुचितरूप से प्रयुक्त श्लेष, चित्र, ऋतु, समुद्रादि, सूर्य तथा चन्द्र के उदयास्तादि जो कि रस के अंग नहीं है उनके प्रकर्ष का वर्णन भी अनौचित्य है।[1]

(2) <u>अङ्गों की उग्रता</u> – अर्थात् मुख्य रस के पोषक होने से अवयव रूप की उग्रता अत्यन्त विस्तार के कारण उत्कट हो जाना भी दोष है। जैसे – कृत्यारावण में जटायु के वध, लक्ष्मण के शक्ति लगने और सीता

---

1. नाट्यदर्पण, पृ. 324-326

सीता की विपत्ति को सुनने पर रामचन्द्र के बार - बार करूण ﴾विलापादि﴿ का आधिक्य।[1]

﴾3﴿ अपोष अर्थात् - मुख्य रस की पुष्टि का अभाव होने पर यह रसदोष होता है, यथा - "वीभत्सा विषया... ।[2] इत्यादि उदाहरण। यह अपरिपोष (1) प्रधान रस का अथवा (2) मुक्तकों में स्वतंत्र रूप से वर्णित का होता है। अंगभूत का अपरिपोष दोष नहीं होता है।[2]

﴾4﴿ मुख्य रस का आवश्यकता से अधिक विस्तार - "अत्युक्ति" नामक रसदोष कहलाता है। जैसे - कुमारसंभव में रति के विलाप में।[3]

﴾5﴿ "अङ्गिभित्" अर्थात् प्रधान रस को भुला देना रस का अपरिपोष जनक "अङ्गिभित्" नामक दोष कहलाता है। जैसे - रत्नावली के के चतुर्थ अंक में बाभ्रव्य के आगमन पर सागरिका की विस्मृति।[4]

नाट्य दर्पणकार का कथन है कि उक्त 5 दोषों में से प्रथम अनौचित्य को छोड़कर अंगों की उग्रता आदि शेष चारों दोष यथार्थ में अनौचित्य के

---

1. वही, पृ. 326-27
2. वही, पृ. 327
3. वही, पृ. 327-328
4. वही, पृ. 328

ही अन्तर्गत आ जाते हैं, किन्तु मात्र सहृदयों को अनौचित्य के अनेक भेदों का ज्ञान कराने के लिए सोदाहरण प्रतिपादन किया है।[1]

रामचन्द्र - गुणचन्द्र का कथन है कि कुछ लोग जो व्यभिचारिभाव, रस तथा स्थायिभावों के नामतः ग्रहण (स्वशब्द वाच्यत्व) को भी रसदोष मानते हैं, यह उनके मत में उचित नहीं है क्योंकि व्यभिचारिभाव आदि के वाचक अपने पदों (नामों) का प्रयोग होने पर भी विभावादि की पुष्टि होने पर रस की अनुभूति होती ही है। उसमें कोई बाधा नहीं होती है। इसलिये व्यभिचारिभाव की स्वशब्द - वाच्यता कोई दोष नहीं है।[2] यथा- "दूरादुत्सुक - मागते विवलितं... ।" इत्यादि उदाहरण में उत्सुकता आदि रूप व्यभिचारिभावों के स्वशब्दवाच्य होने पर भी रस की उत्पत्ति होने से यह व्यभिचारिभावादि की स्वशब्दवाच्यता दोष नहीं होता।

आगे वे लिखते हैं कि इसी प्रकार दो रसों में समान रूप से पाये जाने वाले विभावादि वाचक पदों से किसी एक नियतरस के विभावादि की कठिनता से प्रतीति भी (जिसे कि मम्मटादि ने रसदोषों में गिनाया है वह रसदोष न होकर) संदिग्धत्वरूप वाक्यदोष ही है।[3]

---

1. हि. नाट्यदर्पण, पृ. 328
2. केचित्तु व्यभिचारि - रस - स्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः, तदयुक्तम्। व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकपद प्रयोगेऽपि विभावपुष्टौ।
   हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ. 328
3. उभयरस साधारण विभावपदानां कष्टेन नियतविभावाभिधायित्वाधिगमोऽपि संदिग्धत्वलक्षणो वाक्यदोष एव ।
   वही, पृ. 329

यथा - "परिहरति रतिं मतिं लुनीते ...। इत्यादि में रति का परिहरण आदि रूप विभाव श्रृंगार की तरह करूणादि में भी हो सकते हैं इसलिये उनके श्रृंगार के प्रति भाव होने में संदेह है।[1] अत: यहाँ संदिग्धता रूप वाक्य दोष है। जबकि मम्मट ने यहाँ कामिनी रूप विभाव की प्रतीति कष्टपूर्वक होने से विभाव की कष्टकल्पना रूप रसदोष माना है, जो नाट्यदर्पकार के मत मे संभव नहीं है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने आ. मम्मट सम्मत ही दस रसदोषों का उल्लेख किया है।[2]

इस प्रकार रस - दोषों पर समग्र रूप से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि ये जैनाचार्य आचार्य मम्मट से प्रभावित हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने यद्यपि 8 रसदोषों का विवेचन किया है तथापि आ. मम्मट ने स्वीकृत रसादि की स्वशब्दवाच्यता एवं प्रतिकूल विभावादि के ग्रहण रूप - रसदोषों को भी अस्वीकार करने में कोई कारण प्रस्तुत नहीं किया है। अपितु इन दो दोषों का विवेचन भी किया है। रामचन्द्रगुणचन्द्र ने 5 रस-दोषों को स्वीकार करते हुए भी प्रथम भेद अनौचित्य में ही अन्य चार रसदोषों का अन्तर्भाव माना है तथा इस प्रकार उन्होंने ध्वन्यालोककार

---

1. वही, पृ. 329
2. अलंकारमहोदधि, पृ. 5/18-20

आनन्दवर्धन के "अनौचित्यादृते नान्यस्य रसभङ्गस्य कारणम्" कथन का अनुकरण करते हुए उनके मत का समर्थन किया है। आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने आ. मम्मट का ही अनुकरण किया है। शेष वाग्भट - प्रथम, वाग्भट - द्वितीय एवं भावदेवसूरि ने रसदोषों का कोई उल्लेख नहीं किया है।

दोष-परिहार - पूर्वोल्लिखित दोषों में से कतिपय दोष वक्तादि के औचित्य से दोषाभावरूप या गुण बन जाते हैं। इसी को दोष-परिहार कहा गया है।

आचार्य मम्मट ने दोष-परिहार का विवेचन करते हुए लिखा है कि प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुता दोष नहीं होता है और अनुकरण में सभी श्रुतिकटु आदि दोषों की अदोषता संभव है। इसी प्रकार वक्तादि के औचित्य से दोष कहीं गुण हो जाते हैं और कहीं न दोष होते हैं और न गुण।[1]

जैनाचार्यों ने प्रायः मम्मट को आधार बनाकर अपना दोष - परिहार विवेचन किया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने तत्तद्दोषों के प्रत्युदाहरणों की चर्चा दोष - निरूपण प्रसंग में एक साथ की है। साथ ही अन्त में निष्कर्षतया तीन सूत्रों द्वारा उनका अलग से प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं कि अनुकरण करने

---

1. काव्यप्रकाश, 7/59

पर निरर्थक आदि शब्द – अर्थ दोष नहीं होते हैं।[1] इसी प्रकार वक्ता, प्रतिपाद्य विषय, व्यंग्य, वाच्य व प्रकरणादि की विशेषता के कारण दोष कहीं – कहीं न गुण होते हैं और न दोष[2] तथा कहीं वक्ता आदि की विशेषता होने पर दोष गुण हो जाते हैं।[3]

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि का कथन है कि वक्तादि के औचित्य से दोष कहीं – कहीं गुण भी हो जाते हैं।[4] उदाहरणस्वरूप में उन्होंने असंस्कार, निरर्थक, भग्न–प्रक्रम, अक्रम, न्यूनता, संकीर्णता, गर्भितता, सन्धिकष्टता, पतत्प्रकर्षता, व्यक्तप्रसिद्धि, पुनरूक्त पदन्यास, पदाधिक्य, ग्राम्यता, सन्दिग्धता, दुःश्रवता, अप्रतीत, अयोग्यादि, अप्रयुक्त और निहतार्थ, अश्लील, संवीत, विरूद्धमति और क्लिष्टता – इन शब्ददोषों की गुणता[5] व

---

1. "नानकरणे। अनकरणविषये निरर्थकादयः शब्दार्थदोषा न भवन्ति। उदाहरण प्रागेवदर्शितम्।"

   – काव्यानु, 3/8, वृत्ति, पृ. 273

2. "वक्त्राद्यौचित्ये च। वक्तृप्रतिपाद्यव्यंङ्ग्यवाच्यप्रकरणादीनां महिम्ना न दोषो न गुणः। तथोदाहृतम्"।

   – वही, 3/10, वृत्ति, पृ. 273

3. "क्वचिद् गुणः। वक्त्राद्यौचित्ये क्वचिद्गुण एव तथैवदोहृतम्।"

   – वही, 3/90, वृ. पृ. 273

4. अलंकारमहोदधि 5/17
5. वही, पृ. 166–175

दुष्क्रम पुनरूक्त, अश्लील, और विमुक्तपुनराहृत इन अर्थदोषों की गुणता[1] प्रदर्शित की है[2]। तथा समाप्तिपुनरारब्ध, न्यूनता एवं दुःश्रवता इन अर्थदोषों की दोषाभावता प्रदर्शित की है।

रसदोषों के परिहार हेतु उनका कथन है कि विरूद्ध संचारिभाव आदि का बाध्यत्वेन कथन, विरूद्ध रसों का भिन्न आश्रय में वर्णन, मध्य में रस का समावेश, स्मृति रूप में वर्णन अथवा अंगांगिभाव रूप में वर्णन आदि होने पर रसदोषों का निराकरण हो जाता है।[3] यहाँ इन पर आ. मम्मट का प्रभाव परिलक्षित होता है।

आ. वाग्भट द्वितीय ने दोष – परिहार का पृथक् विवेचन न करके दोष – विवेचन के ही प्रसंग में जहाँ उचित समझा है, विवेचन किया है।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किया गया रस–दोष विवेचन, पूर्वाचार्यों का अनुकरण होते हुए भी उनके काव्यशास्त्रीय ज्ञान का परिचायक है।

---

1. वही, पृ. 175–176
2. वही, पृ. 177
3. वही, पृ. 5/21–23

पंचम अध्याय : गुण - विवेचन व जैनाचार्य

काव्य-विवेचना के प्रारंभिक काल से ही काव्य - गुणों का उल्लेख होता रहा है। भरतमुनि ने "माधुर्य" तथा "औदार्य" आदि का उल्लेख किया है तथा ओज का स्वरूप भी बतलाया है। प्रथम अलंकारवादी आ. भामह के पश्चात् तो गुणों के स्वरूप तथा संख्यादि विवेचन का युग ही आरम्भ हो गया था, किन्तु उस समय गुण तथा अलंकारों का स्वरूप विवेक नहीं हो पाया था। आ. दण्डी के गुण - निरूपण में भी गुण तथा अलंकार का भेद स्पष्ट नहीं हुआ था। इसीलिये भट्टोद्भट ने गुण तथा अलंकारों के भेद को परंपरागत ही बतलाया था। उनके मत में गुण तथा अलंकार में कोई भेद नहीं है।[1] लौकिक गुण तथा अलंकारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलंकारों का शरीरादि के साथ संयोग - सम्बन्ध होता है, और शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ संयोग नहीं अपितु समवाय सम्बन्ध होता है किन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार दोनों की ही समवाय सम्बन्ध से स्थिति होती है, इसलिये काव्यमेंउनके भेद का उपपादन नहीं किया

---

1. उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम।
   अलंकारसर्वस्व, पृ. 19

जा सकता है। उनमें जो लोग भेद मानते हैं, वह केवल भेड़चालमात्र है।[1]

उद्भट के परवर्ती आचार्यों ने नित्यता तथा अनित्यता को लेकर गुण तथा अलंकारों में भेद प्रदर्शन किया तथा निष्कर्षस्वरूप गुणों की कसौटी नित्यता व अलंकारों की कसौटी परिवर्तनशीलता स्वीकार की है। सर्वप्रथम रीतिवादी आ. वामन ने गुण तथा अलंकारों का भेद करने का प्रयास किया तथा स्पष्टतः लिखा – काव्य के शोभाकारक धर्म गुण हैं और उस काव्य-शोभा की वृद्धि करने वाले (चमत्कारक) धर्म अलंकार हैं।[2] उनके अनुसार काव्य में गुणों की स्थिति अपरिहार्य है, परन्तु अलंकारों की स्थिति अपरिहार्य नहीं है।

तदनन्तर ध्वनिवादी आ. आनंदवर्धन ने गुण के स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन किया तथा यह बतलाया कि गुण शब्दार्थ अथवा शब्दविन्यास आदि के धर्म नहीं अपितु काव्य की आत्मा अर्थात् रस के धर्म हैं।[3] उन्होंने गुण तथा

---

1. समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्तया स्थिति-रिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः।

   काव्यप्रकाश, पृ. 384

2. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

   काव्यालंकारसूत्र, 3/1/1-2

3. ध्वन्यालोक, 2/6

अलंकार के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि काव्य के आत्मभूत रसादिरूपध्वनि के आश्रित रहने वाले धर्म गुण होते हैं और अलंकार काव्य के अंगभूत शब्द तथा अर्थ के धर्म होते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य ने गुणों को रसाश्रित तथा अलंकारों को शब्द तथा अर्थ के आश्रित धर्म मानकर उनके भेद का उपपादन किया है।[1] आ. मम्मट ने इनका ही अनुसरण किया है तथा उद्भट व वामन से पृथक गुणों को रस के स्थिर (अचल) धर्म माना है। गुण का लक्षण देते हुए वे लिखते हैं कि - आत्मा के शौर्यादि धर्मों की तरह काव्य में जो प्रधान रस के उत्कर्षाधायक तथा अचल स्थिति वाले होते हैं, वे गुण कहलाते हैं।[2]

प्रायः काव्यप्रकाशकार का अनुसरण करते हुए आ. हेमचन्द्र ने रस का उत्कर्ष करने वाले हेतुओं को गुण कहा है। ये गुण उपचार (गौणरूप) से शब्द और अर्थ के उत्कर्षाधायक होते हैं।[3]

---

1. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
   अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्।।
   ध्वन्यालोक, 2/6
2. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
   उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।
   काव्यप्रकाश, 8/66
3. रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयोः।
   काव्यानुशासन, 1/12

आशय यह है कि गुण मुख्यतः रस के ही धर्म हैं, गौणरूप से वे उस रस के उपकारक शब्द और अर्थ के कहे जाते हैं। यहाँ पर गुण व दोष का रसाश्रयत्व सिद्ध करते हुए हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं कि गुण तथा दोष का रसाश्रित होना अन्वय व्यतिरेक के विधान से भी सिद्ध है। जहाँ दोष रहते हैं वहीं गुण भी रहते हैं और वे दोष रसविशेष में रहते हैं, शब्द और अर्थ में नहीं। यदि वे शब्द और अर्थ के दोष होंगे तो वीभत्स रस में कष्टत्वादि तथा हास्यादि रसों में अश्लीलत्वादि दोष गुण नहीं हो पाएंगे। क्योंकि ये अनित्य दोष हैं, कभी दोष रहते हैं, कभी नहीं भी रहते और कभी-कभी गुण भी हो जाते हैं। जिस अंगीरस के वे दोष होते हैं उसके अभाव में वे दोष नहीं रह जाते, उसके रहने पर दोष रहते हैं। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक के द्वारा गुण और दोष का रसाश्रयत्व ही सिद्ध होता है, शब्दार्थाश्रितत्व नहीं। गौणरूप में भले ही वे गुण और दोष शब्दार्थ के कहे जायें किन्तु वास्तविक रूप में वे रसाश्रित धर्म हैं।[1]

हेमचन्द्राचार्य ने अंग के आश्रित रहने वाले धर्मों को अलंकार कहा है।[2] तथा अपनी विवेक टीका में पूर्वाचार्यों के विचारों का खण्डन

---

1. "रसाश्रयत्वं च गुणदोषयोरन्वयव्यतिरेकानुविधानात्।.... यदि हि तयोः स्युस्तर्हि वीभत्सादौ कष्टत्वादयो गुणा न भवेयुः, हास्यादौ चाश्लीलत्वादयः। ... रस एवाश्रयः।
   वही, 1/12 वृत्ति
2. अङ्गाश्रिता अलंकाराः।
   वही, 1/13

प्रस्तुत करते हुए गुणालंकार विवेक[1] का प्रतिपादन किया है। इसमें भट्टोद्भट के अभेदवादी मत व वामन के भेदवादी मत का खण्डन और स्वमत का प्रतिपादन किया है। जिसमें मम्मट का प्रभाव परिलक्षित होता है।

जैसा कि पूर्वकथित है कि भट्टोद्भट ने गुण व अलंकार में कोई भेद नहीं माना है। उनके इस मत को हेमचन्द्राचार्य ने निरस्त कर दिया है।[2] उनका कथन है कि काव्य के सन्दर्भ में अलंकारो को ही रक्खा व हटाया जाता है, गुणों को नहीं तथा अलंकारो को त्याग करने से न तो वाक्य दूषित होता है न ही उनके ग्रहण से पुष्ट।[3] इसे उन्होंने उदाहरण द्वारा पुष्ट किया है तथा यह भी कहा है कि गुणों का तो त्याग व ग्रहण करना सम्भव ही नहीं है।[4] इस प्रकार गुण व अलंकार दोनों अलग-अलग

---

1. अंगाश्रिता इति। ये त्वंगिनि रसे भवन्ति ते गुणाः। एष एव गुणालंकारविवेकः।
   काव्यानुशासन, विवेक टीका, पृ. 34
2. एतावता शौर्यादिसदृशा गुणाः केयूरादितुल्या अलंकारा इति विवेकमुक्त्वा संयोगसमवायाभ्यां शौर्यदीनामस्ति भेदः। इह तूभयेषां समवायेन स्थितिरित्यभिधाय तस्माद् गडरिकाप्रवाहेण गुणालंकार भेद इति भामहविवरणे यद भट्टोद्भटोऽभ्यधात्, तन्निरस्तम्। वही, टीका, पृ. 34-35
3. तथाहि-कवितारः संदर्भेष्वलंकारान् व्यवस्यन्ति न्यस्यन्ति च, न गुणान्। नचालंकृतीनामपोद्धाराहाराभ्यां वाक्यं दुष्यति पुष्यति वा। वही, टीका, पृ. 35
4. गुणानामपोद्धाराहारौ तु न संभवत इति, वही, पृ. 36

तत्त्व हैं। इन दोनों का आश्रय भी भिन्न भिन्न है। अतः भट्टोद्भट का अभेदवादी मत अनुचित है।

आगे वे वामन के भेदवादी मत को भी उद्धृत करते हुए व्यभिचारयुक्त बताते हैं तथा तर्क व उदाहरण प्रस्तुत कर स्वमत की पुष्टि करते हैं। यह भी पूर्वोल्लिखित है कि वामन ने गुण व अलंकार में भेद माना है। पर हेमचन्द्र इसका खंडन सोदाहरण निरूपण करते हुए लिखते हैं कि "गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः" इत्यादि में प्रसाद, श्लेष, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति आदि गुणों का सद्भाव होने पर भी उसकी काव्य-व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं हो रही है। तथा -

"अपि काचिच्छ्रुता वार्ता तस्यौन्निद्रविधायिनः।
इतीव प्रष्टुमायाते तस्याः कर्णान्तमीक्षणे।।"

इस पद्य मे उत्प्रेक्षा अलंकार मात्र होने पर - तीन चार गुणों के अविवक्षित होने पर भी काव्य व्यवहार होता ही है। अतः वामन के मत में भी व्यभिचार आ जाता है। अतः अलंकार अंगाश्रित व गुण रसाश्रित होते हैं यह हमारा मत ही श्रेयस्कर है।[1]

---

1. ..... वामनेन यो विवेकः कृतः सोऽपि व्यभिचारी।....
तस्माद्यथोक्त एव गुणालंकार विवेकः श्रेयानिति।
वही, टीका, पृ. 36

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि का गुण - स्वरूप आ. आनंदवर्धन व मम्मट के गुण - स्वरूप का मेल है। उन्होंने गुण के लिए आवश्यक और पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत सभी उत्कृष्ट तत्त्वों को ग्रहण कर गुण - स्वरूप निरूपण किया है। वे लिखते हैं कि - जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार जो रस के आश्रित रहते हैं, अकृत्रिम हैं, नित्य हैं तथा काव्य में वैचित्र्य के उत्पादक हैं, वे गुण कहलाते हैं।[1] इसी को और स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि - जिस प्रकार प्राणी के शौर्य - स्थैर्य आदि गुण आत्मा के ही आश्रित रहते हैं, आकार में नहीं, उसी प्रकार माधुर्यादि गुण भी रस के ही आश्रित रहते हैं। ये गुण रस के ही धर्म हैं, वर्ण समूह के नहीं। यही अलंकारों से गुण का भेद है।[2] क्योंकि गुणों के अभाव में अलंकारो से युक्त रचना भी काव्य न हो सकेगी। जैसा कहा भी गया है कि यदि यौवनशून्य स्त्री के शरीर की तरह गुणों से शून्य काव्यवाणी हो, तो निश्चय ही लोकप्रिय अलंकार भी धारण करने पर अच्छी नहीं लगती है।[3]

---

1. शौर्यादय इवात्मानं रसमेव श्रयन्ति ये।
   गुणास्ते सहजा काव्ये नित्यवैचित्र्यकारिणः।।
   अलंकारमहोदधि, 6/1
2. वही, 6/1 वृत्ति
3. वही, पृ. 187

वाग्भट - प्रथम, वाग्भट - द्वितीय व भावदेवसूरि - इन जैनाचार्यों ने गुण विवेचन तो किया है पर गुण-स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है।

गुण - भेद

सर्वप्रथम आ॰ भरत ने दस गुणों का उल्लेख किया है-(1) श्लेष (2) प्रसाद, (3) समता, (4) समाधि, (5) माधुर्य, (6) ओज, (7) पदसौकुमार्य, (8) अर्थाभिव्यक्ति, (9) उदारता और (10) कान्ति।[1] इन्हीं का अनुसरण करते हुए आ॰ दण्डी [2] व वामन[3] ने भी दस गुणों का उल्लेख किया है, जिनके नाम भरत निर्दिष्ट ही हैं। इनके अतिरिक्त वामन ने दस अर्थगुणों का भी उल्लेख किया है, जिससे उनके मतानुसार गुणों की संख्या 20 है। इन दस अर्थगुणों के नाम तो वही हैं, जो शब्द-गुणों के हैं, किन्तु इनके स्वरूप में अन्तर है। इस प्रकार दण्डी को पूर्णरूपेण एवं वामन को आंशिक रूप में भरत का अनुयायी कहा जा सकता है।[4]

---

1. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
   अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते:।।
   - नाट्यशास्त्र, 17/96
2. काव्यादर्श 1/41
3. काव्यालंकारसूत्र, 3/1/4
4. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान, पृ॰ 189

दूसरी परंपरा में वे आचार्य है, जिन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद - इन तीन गुणों का उल्लेख किया है। इसमें भामह आनंदवर्धन, मम्मट और आचार्य हेमचन्द्र को रखा जा सकता है। आ. मम्मट ने वामनसम्मत शब्द और अर्थगुणों का खण्डन करते हुए लिखा है कि कुछ गुण दोषाभावरूप हैं, कुछ दोषरूप हैं और शेष का अन्तर्भाव माधुर्य, ओज और प्रसाद में ही हो जाता है। अतः गुणों की संख्या तीन है, दस नहीं।[1]

तीसरी परम्परा में उन समस्त आचार्यों को रखा जा सकता है जिन्होंने दस अथवा तीन से न्यूनाधिक गुणों का उल्लेख किया है। इसमें अग्निपुराणकार, भोज, आचार्य हेमचन्द्र व जयदेव द्वारा उल्लिखित अज्ञातनामा आचार्य हैं। अग्निपुराणकार ने गुणों की संख्या 18 मानी है,[2] जो शब्द, अर्थ और उभयगुणों में विभाजित है। भोज ने सामान्यतः गुणों की संख्या 24 मानी है[3] जिनमें उक्त भरतसम्मत दस गुणों के अतिरिक्त उदात्तता, और्जित्य, प्रेय, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गांभीर्य, विस्तार, संक्षेप, संमितत्व, भाविकत्व, गति , रीति उक्ति और प्रौढ़ि - ये 14 गुण हैं।

---

1. काव्यप्रकाश, 8/72
2. अग्निपुराणका काव्यशास्त्रीय भाग, 10/5-6, 12/18-19
3. सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/60-65

उन्होंने 24 गुणों को वाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक में विभाजित कर गुणों की संख्या 72 स्वीकार की है, जो अन्याचार्यों की अपेक्षा सर्वाधिक है। हेमचन्द्राचार्य द्वारा उल्लिखित अज्ञातनामा आचार्य के अनुसार गुणों की संख्या 5 है- ओज, प्रसाद, मधुरिमा, साम्य और औदार्य।[1] इसी प्रकार जयदेव द्वारा उल्लिखित अज्ञातनामा आचार्य के अनुसार गुणों की संख्या 6 है - न्यास, निर्वाह प्रौढ़ि, औचिति, शास्त्रान्तररहस्योक्ति व संग्रह।[2]

जैनाचार्यों में सर्वप्रथम वाग्भट प्रथम ने दस गुणों का विवेचन किया है,[3] जो भरतमुनि सम्मत है। प्रत्येक का सोदाहरण स्वरूप निम्न प्रकार है-

औदार्य - अर्थ की चारुता के प्रत्यायक पद के साथ वैसे ही अन्य पदों की सम्मिलित योजना को "उदारता" नामक गुण कहते हैं।[4]

---

1. काव्यानुशासन, 4/1 विवेकवृत्ति।
2. चन्द्रालोक, 4/12
3. वाग्भटालंकार, 3/2
4. पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः।
   मिलितानां यदाधानं तदौदार्यं स्मृतं यथा।।
   वही, 3/3

यथा -

गन्धेभविभ्राजितधाम लक्ष्मीलीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम्।
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार।।[1]

इस श्लोक में चारुताप्रत्यायक "गन्ध" शब्द के साथ अन्य सुन्दर पद "इभ", लीलाम्बुज शब्द के साथ "छत्र" और क्रीडा शब्द के साथ "गिरौ" शब्द अर्थ में चारुता का आधान करते हैं। अतः इसमें औदार्य नामक गुण है।

समता और कान्ति - रचना की अविषमता (अनुकूलता) समता है तथा रचना की उज्ज्वलता कान्ति।[2]

समता, यथा -

कुचकलशविसारिस्फारलावण्यधारामनुवदति यदंगासंगिनी हारवल्ली।
असदृशमहिमानं तामनन्योपमेयां कथय कथमहं ते चेतसि व्यञ्जयामि।।[3]

यहाँ पर "कुच" के साथ कलश, विसारि के साथ स्फार आदि अविषम पदों का प्रयोग होने से समता गुण है।

---

1. वाग्भटालंकार, 3/4
2. बन्धस्य यदवैषम्यं समता सोच्यते बुधैः।
   यदुज्ज्वलत्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा।।
   वही, 3/5
3. वही, 3/6

कान्ति, यथा -

> फलैः क्लृप्ताहारः प्रथममपि निर्गत्य सदना-
> दनासक्तः सौख्ये क्वचिदपि पुरा जन्मनि कृती।
> तपस्यन्नश्रान्तं ननु वनभुवि श्रीफलदलै-
> रखण्डैः खण्डेन्दोश्चिरमकृत पादार्चमनसौ ।।[1]

यहाँ विरुद्ध सन्धि के त्याग से "फलैः क्लृप्ताहारः" में विसर्गों के अलोप से और समासहीन होने से इस श्लोक में "कान्ति" नामक गुण है।

<u>अर्थव्यक्ति</u> - जहाँ पर अर्थ को समझने में किसी तरह का विघ्न नहीं रहता वहाँ "अर्थव्यक्ति" गुण समझना चाहिए।[2]

यथा -

> त्वत्सैन्यरजसा सूर्ये लुप्ते रात्रिरभूद्दिवा।।[3]

सूर्यास्त होने से रात्रि का आगमन स्वाभाविक है। इसको समझने के लिये किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती है। अतएव इस पद्य में अर्थ-व्यक्ति नामक गुण है।

---

1. वाग्भटालंकार, 3/7
2. यद्धेयत्वमर्थस्य सार्थव्यक्तिः स्मृता यथा।
   वही, 3/8 का पूर्वार्द्ध
3. वही, 3/8 का उत्तरार्द्ध

<u>प्रसन्नता</u> - जिस गुण के कारण शीघ्र पढ़ते ही अर्थावबोध हो जाता है उसे "प्रसन्नता" अथवा प्रसक्ति कहते हैं।[1]

यथा -

कल्पद्रुम इवाभाति वाञ्छितार्थप्रदो जिनः।[2]

यहाँ, यह कहने से कि जिनदेव कल्पतरू की भाँति अभिलषित फल के देने वाले हैं उनकी दानशीलता तुरंत स्पष्ट हो जाती है। अतः यहाँ पर प्रसन्नता नामक गुण है।

<u>समाधि</u> - जहाँ पर एक वस्तु के गुण का आधान अन्य वस्तु के साथ किया जाता है, वहाँ समाधि नामक गुण होता है।[3]

यथा -

यथाश्रुभिररिस्त्रीणां राज्ञः पल्लवितं यशः।।[4]

---

1. झटित्यर्थार्पकत्वं यत्प्रसक्तिः सोच्यते बुधैः।
   3/10 का पूर्वार्द्ध
2. वही, 3/10 का उत्तरार्द्ध
3. स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते।
   वही, 3/11 का पूर्वार्द्ध
4. वही, 3/11 का उत्तरार्द्ध

पल्लवित होना लतावृक्षादि का गुण है, न कि यश का किन्तु कवि ने पल्लवित होने की विशेषता को राजा के यश में नियोजित करके समाधि गुण उत्पन्न कर दिया है।

श्लेष और ओजस् - अनेक पदों का परस्पर गुम्फित होना श्लेष है और समास का बाहुल्य ओज। समास बहुला पदावली गद्य में ही शोभित होती है, पद्य मे नहीं।[1]

यथा -

मुदा यस्योद्गीतं सह सहचरीभिर्वनचरै-
र्मुहुः श्रुत्वा हेलोद्धृतधरणिभारं भुजबलम्।
दरोद्गच्छद्दर्भाङ्कुरनिकरदम्भात्पुलकिता-
श्चमत्कारोद्रेकं कुलशिखरिणस्तेऽपि दधिरे।।[2]

यहाँ समस्त पद एक सूत्र मे गुँथी गई मणियों के सदृश परस्पर गुम्फित हैं, अतः श्लेष गुण है।

ओज, यथा -

समराजिस्फुरदरिनरेशकरिनिकरशिरः सरससिन्दूरपूरपरिचयेने-
वारूणितकरतलो देव।।[3]

---

1. श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परम्।
   ओजः समासभूयस्त्वं तद्गद्येष्वतिसुन्दरम्।।
   वही, 3/12
2. वही, 3/13
3. वही, 3/14

यह गद्यांश समासबहुल होने से "ओज" गुण का उदाहरण है।

माधुर्य और सौकुमार्य - सरस अर्थ के बोधक पदों का प्रयोग माधुर्य गुण है और कोमल-कान्त - पदावली का प्रयोग सौकुमार्य गुण है।[1]

माधुर्य, यथा -

फणिमणिकिरणालीस्यूतकञ्चन्निचोलः।
कुचकलशनिधानस्येव रक्षाधिकारी
उरसि विशदहारस्फारतामुज्जिहानः
किमिति करसरोजे कुण्डली कुण्डलिन्याः।।[2]

यहाँ श्रृंगाररस के अनुकूल सरस अर्थ के बोधक पद होने से माधुर्य गुण है। सौकुमार्य, यथा -

प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव देव! त्वदीयः करवाल एषः।
नो चोदनेन द्विषतां मुखानि श्यामायमानानि कथं कृतानि।।[3]

यहाँ कोमलकान्त पदावली होने से सौकुमार्य गुण है।

---

1. सरसार्थपदत्वं यत्तन्माधुर्यमुदाहृतम्।
   अनिष्ठुराक्षरत्वं यत्सौकुमार्यमिदं यथा।।
   वही, 3/15
2. वाग्भटालंकार, 3/16
3. वाग्भटालंकार, 3/17

आ. हेमचन्द्र ने माधुर्य, ओज तथा प्रसाद - इन तीन गुणों को स्वीकार करते हुए[1] अन्य सभी गुणों का खण्डन किया है। आ. मम्मट द्वारा किये गये खण्डन की अपेक्षा आ. हेमचन्द्र का खण्डन-मण्डन अधिक व्यापक है। आ. मम्मट ने केवल वामनसम्मत दस गुणों का ही खण्डन किया है जबकि आ. हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञ विवेक टीका में विस्तारपूर्वक दसवादी आचार्यों के अतिरिक्त अज्ञातनामा आचार्यसम्मत, ओज, प्रसाद, मधुरिमा, साम्य और औदार्य नामक 5 गुणों का भी खण्डन किया है[2] तथा उनका भी खण्डन किया है जो छन्द विशेष के आधार पर गुणों की शोभा मानते हैं, जैसे - स्रग्धरा आदि छन्दों में ओजो गुण आदि।[3] उनकी मान्यता है कि

---

1. माधुर्यौजः प्रसादास्त्रयो गुणाः।।

   काव्यानुशासन 4/1

2. ओजः प्रसादमधुरिमाणः साम्यमौदार्यं च पंचेत्यपरे। तथा हि-यददर्शितविच्छेदं पठतामोजः, विच्छिद्य पदानि पठतां प्रसादः, आरोहावरोहतरंगिणि पाठे, माधुर्यम्, ससौष्ठवमेव स्थानं पठतामौदार्यम्, अनुच्चनीचं पठतां साम्यमिति। तदिदमलीकं कल्पनातन्त्रम्। यद्विषयविभागेन पाठनियमः स कथं गुणनिमित्तमिति।

   काव्यानुशासन, 4/1 / टीका

3. छन्दोविशेषनिवेश्या गुणसंपत्तिरिति केचित्। तथा हि। स्रग्धरादिष्वोजः।

   वही, 4/1 विवेक टीका

लक्षण में व्यभिचार होने से, उच्यमान तीन ही गुणों में अन्तर्भाव होने से या दोष - परिहार के रूप में स्वीकृत होने से अन्य गुणों को नहीं माना जा सकता। अतः उनके अनुसार गुण तीन ही हैं, दस अथवा पाँच नहीं।[1] इस सन्दर्भ में उनकी विवेक टीका अति महत्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने दस गुणों के अतिरिक्त पाँच गुणों का उल्लेखपूर्वक खण्डन किया है जो कि उनके व्यापक अध्ययन का परिचय प्रस्तुत करता है। हेमचन्द्राचार्य द्वारा स्वीकृत माधुर्य, ओज व प्रसाद गुण का विवेचन इस प्रकार है -

§1§ माधुर्य - माधुर्यगुण संभोग श्रृंगार में द्रुति का हेतु है। अर्थात् द्रुति का हेतु और संभोगश्रृंगार में रहने वाला जो धर्म है वह माधुर्य कहलाता है।[2] द्रुति का अर्थ है आर्द्रता अर्थात् चित्त का द्रवीभाव। श्रृंगार के अंगभूत हास्य और अद्भुत आदि रसों में भी माधुर्य गुण होता है।[3] अत्यन्त द्रुति का कारण होने से यह माधुर्यगुण शान्त, करुण और विप्रलम्भश्रृंगार में भी अतिशययुक्त

---

1. त्रयो न तु दश पञ्च वा। लक्षणव्यभिचारादुच्यमानगुणेष्वन्तर्भावात्। दोषपरिहारेण स्वीकृतत्वाच्च।
   वही, वृत्ति, पृ. 274

2. द्रुतिहेतु माधुर्यं श्रृंगारे।
   काव्यानु. 4/2

3. द्रुतिरार्द्रता गलितत्वमिव चेतसः। श्रृंगारेऽर्थात्संभोगे। श्रृंगारस्य च ये हास्याद्भुताद्यो रसा अंगानि तेषामपि माधुर्यं गुणः।
   काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 289

(चमत्कारोत्पादक) होता है।[1]

माधुर्य के इस स्वरूप विवेचन में मम्मट का ही प्रभाव परिलक्षित होता है, परन्तु मम्मट ने माधुर्य को द्रुतिहेतु के अतिरिक्त आह्लादस्वरूप वाला भी कहा है।[2] साथ ही करूण, विप्रलंभ तथा शान्त में माधुर्य को उत्तरोत्तर चमत्कारजनक कहा है।[3] जबकि आ. हेमचन्द्र ने इस क्रम को बदलकर शान्त, करूण और विप्रलम्भ कर दिया है। जहाँ आचार्य मम्मट ने तीनो गुणों का स्वरूप बतलाकर बाद में उसके व्यञ्जक वर्णादि की चर्चा की है वही आ. हेमचन्द्र ने ऐसा न करके एक-एक गुण से संबंधित सभी बातों पर विचार किया है। माधुर्य गुण के स्वरूप - विवेचन के बाद वे उसके व्यञ्जकों का निरूपण करते हुए लिखते हैं कि अपने अन्तिम वर्ण से युक्त, ट वर्ग को छोड़कर अन्य सभी वर्ग, ह्रस्व रकार तथा णकार और समासरहित (या अल्पसमास वाली) कोमल - रचना माधुर्य व्यञ्जक है।[4]

---

1. शान्तकरूणविप्रलम्भेषु सातिशयम्।।
   काव्यानुशासन, 4/3
2. आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृंगारे द्रुतिकारणम्।।
   काव्यप्रकाश, 8/68 का उत्तरार्द्ध
3. करूणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।
   काव्यप्रकाश, 8/69 का पूर्वार्द्ध
4. तत्र निजान्त्याक्रान्ता अटवर्गा वर्गा ह्रस्वान्तरितौ रणावसमासो मृदुरचना च।
   काव्यानु, 4/4

इसमें आ॰ हेमचन्द्र ने प्रायः मम्मट का अनुसरण करते हुए माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्ण, समास और रचना का प्रतिपादन किया है।[1] वृत्ति में उन्होंने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अपने वर्ग के (अन्तिम) पञ्चम वर्ण ङ ञ ण न म – से युक्त, शिर के वर्ण सहित (क वर्ग, च वर्ग, आदि) अटवर्ग अर्थात् ट वर्ग रहित – ट ठ ड ढ रहित शेष वर्ग और ह्रस्व से व्यवहित रेफ और णकार – ये वर्ण और असमास अर्थात् समास का अभाव या छोटे छोटे समास वाली तथा मृदु रचना माधुर्य गुण की व्यंजक होती है।[2] यथा –

शिञ्जानमञ्जुमञ्जीरा्श्चारुकाञ्चनकाञ्चयः।
कङ्कणाङ्कभुजा भान्ति जितानङ्ग तवाङ्गनाः।।[3]

1. तुलनीयः मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
   अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ।।
   काव्यप्रकाश, 8/74
2. निजेन निजवर्गसम्बन्धिनान्त्येन ङञणनमलक्षणेन शिरस्याक्रान्ता अटवर्गाः टठडढरहिता वर्गा ह्रस्वान्तरितौ च रेफणकारौ। असमास इति। समासाभावोऽल्पसमासता वा, मृदी च रचना। तत्र माधुर्ये माधुर्यस्य व्यञ्जकेत्यर्थः।
   काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ॰ 289
3. वही, पृ॰ 289

प्रस्तुत रचना में अधिकांशतः वर्ग के पंचम वर्णों का प्रयोग किया गया है। अतः यह रचना माधुर्यगुण की व्यञ्जक है।

इसी प्रकार -

दारूणरणे रणन्तं करिदारणकारणं कृपाणं ते।
रमणकृते रणरणकी पश्यति तरूणीजनो दिव्यः।।[1]

इस उदाहरण में रेफ व णकार की बहुलता होने से ये वर्णादि माधुर्य गुण के व्यञ्जक हैं।

किंतु इससे भिन्न ट वर्गादि से युक्त रचना माधुर्यगुण की व्यञ्जक नहीं होती, यथा -

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठिमाम्।
कम्बुकण्ठयाश्लेषं कण्ठेकुरू कण्ठार्तिमुद्धर।।[2]

यहाँ श्रृंगार रस के प्रतिकूल वर्णों का समायोजन होने से माधुर्य गुण नहीं है। इसे मम्मट ने प्रतिकूलवर्णता नामक वाक्यदोष

---

1. वही, पृ. 290
2. वही, पृ. 290

के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। आ. हेमचन्द्र ने एक और प्रत्युदाहरण प्रस्तुत कर श्रृंगार के प्रतिकूल वर्णों को दिखाया है। यथा-

> बाले मालेयमुच्चैर्न भवति गगनव्यापिनी नीरदानां।
> किं त्वं पक्ष्मान्तवान्तैर्मलिनयसि मुधा वक्त्रमश्रुप्रवाहैः।।
> एषा प्रोद्वृत्तमत्तद्विपकटकषणक्षुण्णविन्ध्योपलाभा।
> दावाग्नेर्व्योम्नि लग्ना मलिनयति दिशां मण्डलं धूमलेखा।।[1]

यहाँ दीर्घ समास से युक्त, परूष वर्णों वाली रचना विप्रलम्भ श्रृंगार के विरूद्ध है।

§2§ ओजस् - चित्त की दीप्ति अर्थात् उज्ज्वलता या विस्तार में जो कारण हो वह ओजगुण कहलाता है। यह वीर, वीभत्स और रौद्ररस में क्रमशः अधिक अतिशयान्वित होता है, अर्थात् वीर की अपेक्षा वीभत्स और वीभत्स की अपेक्षा रौद्ररस में तथा रौद्र के अंगभूत अद्भुत रस में भी ओजगुण क्रमशः अधिक अतिशययुक्त होता है।[2] ओजगुण के विवेचन में भी मम्मट का प्रभाव स्पष्ट है।[3] आ. हेमचन्द्र ने मात्र "तेषामंगेऽद्भुते च"

---

1. वही, पृ. 290

2. "दीप्तिहेतुरोजो वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिकम्। दीप्तिरूज्ज्वला, चित्तस्य विस्तार इति यावत्। क्रमेणेति वीराद् बीभत्से ततोऽपि रौद्रे, तेषामंगेऽद्भुते च सातिशयमोजः।"
   काव्यानु, 4/5, वृ.पृ. 290

3. तुलनीय: काव्यप्रकाश 8/69 व 70 का पूर्वार्द्ध

अधिक कहा है। व्यञ्जकों के निरूपण में भी मम्मट से पूर्ण समानता है।[1] आ. हेमचन्द्र लिखते हैं कि वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्णों का क्रमशः द्वितीय और चतुर्थ वर्ण के साथ योग, रेफ और तुल्यवर्ण से युक्त वर्ण तथा ट वर्ग और श, ष, वर्ण, दीर्घसमासवाली और कठोर (उद्धत) रचना ओजगुण की व्यञ्जक है।[2] आगे उन्होंने लिखा है कि प्रथम वर्ण से द्वितीय वर्ण तथा तृतीय वर्ण से चतुर्थ वर्ण के मिले हुए वर्ण, नीचे ऊपर या दोनों जगह किसी भी वर्ण के साथ रेफ का संयोग, तुल्यवर्णों का संयोग, णकाररहित ट वर्ग (ट ठ ड ढ) श, ष का संयोग और दीर्घसमासवाली कठोर रचना ओजगुण की व्यञ्जक है।[3]

---

1. "योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
   टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि।।"
   काव्यप्रकाश, 8/75
2. "आद्यतृतीयाक्रान्तौ द्वितीयतुर्यौ युक्तो रेफस्तुल्यश्च टवर्गशषा
   वृत्तिदैर्घ्यमुद्धता गुम्फश्चात्र।।
   काव्यानुशासन, 4/6
3. आद्येन द्वितीयस्तृतीयेन चतुर्थ आक्रान्तो वर्णस्तथाधः उपरि उभयत्र वा येन केनचित्संयुक्तो रेफस्तुल्यश्च वर्णो वर्णेन युक्तस्तथा टवर्गोऽर्थाणकारवर्जः, शषौ च। दीर्घः समासः, कठोरा रचना च। अत्रौजसि। ओजसो व्यञ्जकेत्यर्थः।
   काव्यानु, वृत्ति, पृ. 29।

आ. हेमचन्द्र ने ओजगुण के उदाहरणरूप मे निम्न पद्य प्रस्तुत किया है —

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा।
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां-
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः।।[1]

यहाँ उपर्युक्त वर्णों की संरचना और दीर्घ समासादि के होने से ओजगुण की अभिव्यक्ति हो रही है। आ. मम्मट ने इसे अविमृष्टविधेयांश नामक समासगत दोष के उदाहरण रूप में भी उद्धृत किया है।[2] उपर्युक्त कथित वर्णों से विपरीत वर्णों वाली रचना ओजगुण की व्यञ्जक नहीं होती है । जैसे –

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन्ह्रदाः पूरिताः।
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः।।
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति नो।
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः क्रोधनः।।[3]

---

1. वही, पृ. 29।
2. द्रष्टव्यः काव्यप्रकाश वि, उदाहरण 350
3. वही, पृ. 29।

इसमें उक्त प्रकार के वर्णों का अभाव है तथा समास - रहित अनुद्धत रचना होने से ओजोगुण विरुद्ध है।

§3§ <u>प्रसाद</u> - विकास का हेतु प्रसाद गुण सभी रसों में होता है। शुष्क ईंधन में अग्नि की भाँति तथा स्वच्छ जल की तरह चित्त में सहसा व्याप्त होने वाला तथा समस्त रसों में पाया जाने वाला प्रसाद गुण है।[1] प्रायः यही मत आ. मम्मट का भी है।[2] श्रवणमात्र से अर्थबोध कराने वाले वर्ण, समास और रचनायें प्रसादगुण की व्यञ्जक हैं।[3] यथा -

दातारो यदि कल्पशाखिभिरलं यद्यर्थिनः किं तृणैः।
सन्तश्चेदमृतेन किं यदि खलास्तत्कालकूटेन किम्।
किं कर्पूरशलाकया यदि दृशोः पन्थानमेति प्रिया,
संसारेऽपि सतीन्द्रजालमपरं यद्यस्ति तेनापि किम्।।[4]

---

1. "विकासहेतुः प्रसादः सर्वत्र। विकासः शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवच्च सहसैव चेतसां व्याप्तिः। सर्वत्रेति सर्वेषु रसेषु।"
   काव्यानुशासन, 4/7, वृ. पृ. 291

2. काव्यप्रकाश 8/70

3. "इह श्रुतिमात्रेणार्थप्रत्यायका वर्णवृत्तिगुम्फाः।।
   श्रुत्यैवार्थप्रतीतिहेतवो वर्णसमासरचनाः।
   काव्यानुशासन 4/8, वृ. पृ. 291

4. वही, पृ. 192

माधुर्य, ओज व प्रसाद के व्यञ्जक वर्णों को क्रमशः उपनागरिका, परूषा व कोमला नामक वृत्ति कहा गया है और अन्य आचार्य इन्हें ही वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीति कहते हैं। जैसा कि कहा गया है -

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकेष्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैऽस्तु परूषा कोमला परैः।।
केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयोमताः।।[1]

वृत्ति, रीति, मार्ग , संघटना तथा शैली प्रायः समानार्थ हैं। वृत्ति शब्द का प्रयोग उद्भट ने किया है। उन्होंने अपने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' मे उपनागरिका, परूषा तथा कोमला नामक तीन वृत्तियों का विवेचन किया है। इन्हीं तीन वृत्तियों को वामन ने तीन प्रकार की रीतियों के रूप में, कुन्तक तथा दण्डी ने तीन प्रकार के मार्गों के रूप मे और आनन्द-वर्धन ने तीन प्रकार की संघटना के रूप मे माना है। अतः उद्भट की वृत्तियाँ, वामन की रीतियाँ, दण्डी और कुन्तक के मार्ग तथा आनन्दवर्धन की संघटना एक ही भाव को व्यक्त करती है।[2]

---

1. वही, पृ. 192

2. आ. विश्वेश्वरः काव्यप्रकाश, पृ, 405

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार पूर्वोक्त गुणों में यद्यपि वर्ण, रचना, समासादि नियत (निश्चित) हैं तथापि कहीं कहीं वक्ता, वाच्य (प्रतिपाद्य विषय) तथा प्रबन्ध के औचित्य से वर्णादि का अन्य प्रकार का प्रयोग भी उचित माना जाता है।[1] कहीं कहीं वक्ता तथा प्रबन्ध दोनों की उपेक्षा करके केवल वाच्य के औचित्य से ही रचना होती है। जैसे - "मन्थायस्तार्णवाम्भः ....।[2] इत्यादि। कहीं वक्ता तथा प्रबन्ध दोनों की उपेक्षा करके केवल वाच्य के औचित्य से ही रचनादि होती है। जैसे - प्रौढच्छेदानुरूपोच्छल...।[3] इत्यादि, तथा कहीं कहीं वक्ता तथा वाच्य की उपेक्षा करके प्रबन्ध के औचित्य के अनुसार रचनादि होती है, यथा - आख्यायिका में श्रृंगार के वर्णन में कोमल वर्णादि प्रयुक्त नहीं होते हैं, कथा में रौद्ररस में अत्यन्त उद्धत वर्णरचनादि प्रयुक्त नहीं होते हैं और नाटकादि में रौद्ररस में भी दीर्घसमासादि प्रयुक्त नहीं होते हैं। इसी प्रकार अन्य औचित्यों का भी अनुसरण करना चाहिए।[4]

---

1. "वक्तृवाच्यप्रबन्धौचित्याद्वर्णादीनामन्यथात्वमपि।"
   काव्यानुशासन, 4/9
2. वही, पृ. 292
3. वही, पृ. 293
4. वही, पृ. 292 - 294

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने वामन सम्मत दस शब्दगुणों तथा दस अर्थगुणों का खण्डन करके आ. मम्मट तथा हेमचन्द्र आदि द्वारा स्वीकृत माधुर्यादि तीन गुणों की स्थापना की है।[1] उनका कथन है कि वामन ने जो समास रहित पदों वाली रचना को माधुर्य गुण कहा है, वह "अस्त्युत्तरस्याम्" इत्यादि पद्य में विद्यमान है, पुनः उसे अर्थश्लेष का उदाहरण प्रस्तुत कर अर्थश्लेष को अलग से गुण मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार रचना की अकठोरता रूप शब्दसौकुमार्य, कोमलकान्तपदावली रूप अर्थसौकुमार्य, अर्थ का दर्शन रूप अर्थ समाधि और घटना का श्लेष रूप अर्थश्लेष नामक जो गुण है, इनका हमें जो माधुर्य गुण का स्वरूप अभीष्ट है, उसमे अन्तर्भाव हो जाता है।[2] अतः उक्त गुणों को पृथक् - पृथक् मानना ठीक नहीं है।

रचना की गाढ़ता ओज नामक शब्दगुण, अर्थ की प्रौढ़ि ओज नामक अर्थगुण, अनेक पदों का एक पद के समान दिखाई देना शब्दश्लेष, आरोह और अवरोह का क्रम शब्दसमाधि, बन्ध की विकटता उदारता नामक शब्दगुण, बन्ध की उज्जवलता कान्ति नामक शब्दगुण और रचना

---

1. गुणांश्चान्ये जगुः शब्दगतान् दशार्थगान्।
   माधुर्यौजः प्रसादास्तु सम्मतास्त्रय एव नः।।
   अलंकारमहोदधि, 6/3
2. अलंकारमहोदधि, पृ. 190-91

में रसों की दीप्ति कान्ति नामक अर्थगुण कहलाता है। इन गुणों के मूल में चित्त के विस्तार रूप दीप्ति विद्यमान है, जो ओजोगुण का स्वरूप है अतः इनका अन्तर्भाव ओजोगुण में हो जायगा।[1]

ओजोगुण मिश्रित रचना की शिथिलता प्रसाद नामक शब्दगुण, अर्थ स्पष्टता रूप प्रसाद नामक अर्थगुण, शीघ्र ही अर्थ का बोध कराने वाली रचना अर्थव्यक्ति नामक शब्दगुण और जो रचना वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट रूप से विवेचन कराये वह अर्थव्यक्ति नामक अर्थ गुण कहलाता है। इनका अन्तर्भाव हमें अभीष्ट लक्षण वाले प्रसादगुण में हो जाता है।[1]

काव्य में निबद्ध रचना शैली का अन्त तक परित्याग न करना समता नामक शब्दगुण, प्रक्रम का अभेद रूप अविषमता नामक अर्थगुण और रचना में ग्राम्यता का अभाव उदारता नामक अर्थगुण कहलाता है। समता तथा उदारता ये दोनों क्रमशः भग्नप्रक्रम व ग्राम्यदोष का अभावमात्र है।[2] इस प्रकार वामन ने जो दस शब्दगुण व दस अर्थगुण माने हैं वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनका माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीनों गुणों में अन्तर्भाव हो जाता है। पुनः आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने अपने द्वारा स्वीकृत इन माधुर्यादि

---

1. वही, पृ. 194 - 195
2. वही, पृ. 195

तीन गुणों का लक्षणसहित उदाहरणपूर्वक विवेचन किया है। तथा आ. हेमचन्द्र के समान प्रत्येक गुण के उदाहरण के साथ उसका प्रत्युदाहरण भी प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही रसों में गुणों की तरतमता व गुणों के व्यञ्जक वर्ण - विशेषों का भी निर्देश किया है।[1]

आ. वाग्भट - द्वितीय ने सर्वप्रथम भरतमुनि सम्मत दस काव्य-गुणों के नामोल्लेखपूर्वक लक्षण प्रस्तुत किए हैं, किन्तु इन्होंने स्वयं केवल माधुर्यादि तीन गुणों को ही स्वीकार किया है तथा शेष का अन्तर्भाव इन्हीं तीन गुणों में माना है।[2] आ. भावदेवसूरि ने गुणवर्णन प्रसंग में पहले भरतादि - सम्मत श्लेष, प्रसाद आदि दस गुणों का नामोल्लेख किया है तथा प्रत्येक का लक्षण व संक्षेप में उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।[3] इसी

---

1. वही, 6/15-28

2. दण्डिवामनवाग्भटादिप्रणीता दशकाव्यगुणाः। वयं तु माधुर्यौजः प्रसादलक्षणांस्त्रीनेव गुणान्मन्यामहे। शेषास्तेष्वेवान्तर्भवन्ति।
   काव्यानु, वाग्भट, टीका, पृ. 39

3. काव्यालंकारसार -
   4/2-7

क्रम में माधुर्यादि तीन गुणों का भी 'परैः' पद से उल्लेख किया है[1] जो अन्य मत का द्योतक है। अतः उनके अनुसार दस गुण ही मानना चाहिए। इस प्रसंग में भावदेवसूरि ने शोभा, अभिमान, हेतु, प्रतिषेध, निरूक्त, युक्ति, कार्य और प्रसिद्धि - इन आठ काव्य चिन्हों (काव्य-लक्षणों) का भी उल्लेख किया है।[2] जो इस प्रकार हैं —

§1§ शोभा - दोष का निषेध। यथा-

जहाँ तुम हो वहाँ कलियुग भी शुभ है।

§2§ अभिमान - वस्तुविषयक ऊहापोह। यथा -

यदि वह चन्द्रमा है तो उष्णता कैसे?

§3§ हेतु - अन्यदेकोक्ति का त्याग हेतु है। यथा -

"न इन्दुर्नार्कोगुरूहसौ"।

§4§ प्रतिषेध - निषेध । यथा -

तुमने युद्ध से नहीं, भौंह से ही शत्रुओं को जीत लिया।

§5§ निरूक्त - निर्वचन। यथा -

उन दोनों को मैं इस प्रकार समझता हूँ, किन्तु आप दोषाकर हैं।

---

1. वही, 4/8
2. काव्यालंकारसार - 4/9

§6§ युक्ति – विशिष्टता । यथा –

तुम नवीन जलद हो, जो सोने की वर्षा करते हो।

§7§ कार्य – फलकथन। यथा –

रात्रिरूपी स्त्री से विशिष्ट यह चन्द्रमा (आप दोनों के) अच्छेद (संयोग) के लिये उदित हो रहा है।

§8§ प्रसिद्धि – प्रसिद्ध वस्तुओं में तुल्यता का कथन – यथा –

समुद्र जल से महान् है और आप बल से महान हैं।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि इन सभी जैनाचार्यो ने अलंकारशास्त्र की परम्परा का अक्षुण्णरूप से निर्वाह करते हुए अपनी शैली मे गुण-स्वरूप आदि विषयों पर विवेचन प्रस्तुत किया है। आ. हेमचन्द्र ने जो अतिरिक्त पांच काव्यगुणों का उल्लेखपूर्वक खण्डन किया है, वह अन्य किसी आचार्य द्वारा निर्दिष्ट न किये जाने के कारण उल्लेखनीय है। आ. वाग्भट प्रथम, भावदेवसूरि – ये जैनाचार्य भरत तथा वामन आदि के अनुयायी है, क्योंकि इन्होंने दस गुणों का समर्थन किया है। आ. हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि व वाग्भट द्वितीय ये तीन जैनाचार्य आनन्दवर्धन व मम्मटादि के समर्थक हैं क्योंकि इन्होंने माधुर्यादि तीन गुणों को ही स्वीकार किया है तथा शेष का इन्ही में अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इन सभी जैनाचार्यों ने पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य किसी एक विचारधारा को स्वीकार कर, शेष का युक्तिपूर्वक खंडन किया है।

षष्ठ अध्याय : अलंकार विवेचन व जैनाचार्य

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का अत्यधिक महत्व है। इसकी महत्ता इस बात से भी घोषित होती है कि काव्यशास्त्र अलंकारशास्त्र के ही नाम से अभिहित किया जाता रहा है। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने इसकी महिमा का आख्यान करते हुए इसे वेद का सातवां अंग माना है। उनके अनुसार अलंकार वेद के अर्थ का उपकारक होता है तथा अलंकारों के अभाव में वेदार्थ की अवगति नहीं हो सकती है।[1]

"अलंकरोति इति अलंकार:" इस व्युत्पत्ति के अनुसार काव्य के शोभावर्धक तत्वो को अलंकार कहते हैं तथा "अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकार:" इस व्युत्पत्ति के आधार पर जिनके द्वारा काव्य अलंकृत किया जाय उसे अलंकार कहते हैं। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार काव्य के स्वाभाविक धर्म हैं और द्वितीय के अनुसार अस्वाभाविक या साधनमात्र।

अलंकारों का वास्तविक विवेचन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी उपलब्ध नहीं होता है। इन्होंने केवल चार अलंकारों - उपमा, रूपक, दीपक और यमक का उल्लेख किया है।[2] शनैः शनैः अलंकारशास्त्र का विकास होता

---

1. उपकारकत्वात् अलंकार: सप्तमङ्गमिति यायावरीय:। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात वेदार्थानवगति:।
   काव्यमीमांसा द्वितीय अध्याय, पृ. 5
2. नाट्यशास्त्र, 17/43

गया, अलंकार विषयक मान्यतायें दृढ़ होती गईं अलंकारो की संख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई तथा अलंकारशास्त्र कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया, जिनमें अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, और वक्रोक्ति सम्प्रदाय प्रमुख हैं। यह सम्प्रदाय क्रमशः अलंकार, रीति, रस, ध्वनि व वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व मानते थे। अलंकार सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य भामह थे। आचार्य भामह ने अलंकार को इतनी महत्ता प्रदान की कि सम्पूर्ण काव्यशास्त्र ही अलंकारशास्त्र इस संज्ञा से अभिहित होने लगा, पर अलंकारों का महत्व विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में विभिन्न प्रकार से निरूपित हुआ। आचार्य दण्डी ने काव्य की शोभा बढ़ाने वाले सभी धर्मों को अलंकार कहा है।[1] साथ ही आचार्य दण्डी ये भी स्पष्ट लिखते हैं कि दूसरे ग्रन्थों में जो सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्ति, वृत्त्यंग तथा उनके लक्षणों आदि का वर्णन किया है, उन्हें हम अलंकारो के अन्तर्गत ही मानते हैं।[2] आचार्य वामन ने काव्य में सौन्दर्य के आधायक सभी तत्वों को अलंकार स्वीकार किया है।[3] ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने ये स्वीकार किया कि जिस प्रकार कटक, कुण्डलादि लौकिक अलंकार कामिनी के शरीर को सुशोभित

---

1. काव्यादर्श, 2/1
2. काव्यादर्श, 2/367
3. काव्यालंकारसूत्र, 1/1/2-3

करते हैं उसी प्रकार यमक, उपमादि अलंकार काव्य-शरीर को सुशोभित करते हैं।[1] आनंदवर्धन का अनुसरण करते हुए आचार्य मम्मट ने रमणी के हारादि आभूषणों की भांति काव्य में शब्द और अर्थ का अंगरूप से कभी-कभी उपकार करने वाले अनुप्रास उपमादि को अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।[2]

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम लिखते हैं कि जिस प्रकार अलंकारों के अभाव मे स्त्री का रूप सुशोभित नहीं होता है, उसी प्रकार अलंकारों से रहित काव्य भी सुशोभित नहीं होता है।[3]

आचार्य हेमचन्द्र की मान्यता है कि अंगीरस के जो अंगभूत शब्द और अर्थ हैं उनके आश्रित रहने वाले धर्म अलंकार कहलाते हैं। वे अलंकार रस के रहने पर कभी-कभी उपकार करते हैं और कभी-कभी नहीं भी करते। रस का अभाव होने पर तो वे वाच्य वाचक मात्र के चमत्कार में ही सीमित रह जाते हैं।[4] इसलिये आगे वे रसोपकारक अलंकार - प्रकारों का विवेचन करते

---

1. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
   अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्।।
   ध्वन्यालोक 2/6
2. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।
   काव्यप्रकाश, 8/67
3. स्त्रीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम्।
   वाग्भट॰ 4/1
4. अङ्गाश्रिता अलंकाराः।
   काव्यानुशासन, 1/13

हुये लिखते हैं कि रसपरक होने पर अलङ्कार का यथासमय ग्रहण और यथासमय त्याग कर देने पर तथा अलङ्कार का अत्यन्त निर्वाह न करने पर या अंगत्व में निर्वाह किये जाने पर अलङ्कार रस के उपकारी होते हैं।[1]

आचार्य हेमचन्द्र की मान्यतानुसार अलङ्कारों का सन्निवेश रस के उपकारक रूप में ही होना चाहिये, बाधक या तटस्थ रूप में नहीं। अलङ्कारों का सन्निवेश अंग में भी हो तो समय पर ही हो तभी वह रसोपकारी होता है, अन्यथा नहीं। गृहीत अलङ्कार को यथासमय छोड़ देने पर भी अलङ्कार रसोपकारी होता है, यथासमय न छोड़ने पर वह रसोपकारी नहीं होता। अलङ्कारों का अत्यन्त निर्वाह भी नहीं किया जाना चाहिये और यदि निर्वाह किया भी जाये तो अङ्गत्वेन ही किया जाना चाहिये। अङ्गत्व में अलङ्कार के निर्वाह न होने पर वह रसोपकारी नहीं होता है।[2]

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने अलङ्कारों के सन्निवेश और उनके रसोपकारी प्रकारों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है।

---

1. "तत्परत्वे काले ग्रहत्यागयोर्नातिनिर्वाहेप्यङ्गत्वे रसोपकारिणः।
   काव्यानु, 1/14

2. "तत्परत्वं रसोपकारकत्वेनालङ्कारस्य निवेशो, न बाधकत्वेन, नापि ताटस्थ्येन। अङ्गत्वेऽपि कालेऽवसरे ग्रहणं। गृहीतस्याप्यवसरे त्यागो। नात्यन्तं निर्वाहो। निर्वाहेऽप्यङ्गत्वं।
   वही, वृत्ति व उदाहरण पृ. 35-41

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि शौर्यादि के सदृश आत्मा के आश्रित रहने वाले गुणों से विपरीत हारादि अलंकारों की तरह आहार्य (ग्रहण करने और त्यागने योग्य) अनुप्रास और उपमादि को अलंकार मानते हैं।[1]

इस प्रकार जैनाचार्य वाग्भट प्रथम, हेमचन्द्र व नरेन्द्रप्रभसूरि ने अलंकार व उसके महत्त्व के संबंध में आचार्य आनन्दवर्धन व मम्मटाचार्य का ही अनुसरण किया है।

अलंकारों की संख्या :

सर्वप्रथम भरतमुनि ने केवल 4 अलंकारों का उल्लेख किया। तत्पश्चात् भामहाचार्य ने 38 अलंकारों का उल्लेख किया, दण्डी ने 37, वामन ने 31 और उद्भट ने 41 अलंकारो का प्रतिपादन किया। रुद्रट द्वारा प्रतिपादित अलंकारों की मुख्य संख्या 54 तथा मिश्रित संख्या 73 है। भोजराज ने 72, अग्निपुराणकार ने 16 तथा रूय्यक ने 82 अलंकार माने हैं। मम्मटाचार्य ने 67 अलंकारों का प्रतिपादन किया है।

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने 39, हेमचन्द्राचार्य ने 35, आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने 77, आचार्य वाग्भट द्वितीय ने 69 एवं भावदेवसूरि ने 58 अलंकारों का प्रतिपादन किया है।

---

1. श्रयन्तोऽपि रसं सन्तं जातु तेभ्यो विपर्ययम्।
   ये तु विश्रत्यलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।

   अलंकारमहोदधि, 6/2

अलंकारों का वर्गीकरण :

यत: अलंकार शब्दार्थाश्रित होते हैं, अत: उन्हें प्रमुख रूप से शब्दालंकार और अर्थालंकार के भेद से द्विधा विभाजित करके प्रतिपादित किया गया है। सामान्यतया शब्दों पर आश्रित रहने वाले अलंकारों को शब्दालंकार व अर्थों पर आश्रित रहने वाले अलंकारों को अर्थालंकार कहा जाता है। कतिपय आचार्यों मम्मटादि ने शब्द और अर्थ पर समान रूप से आश्रित रहने वाले अलंकारों को उभयालंकार कहा है। आचार्य मम्मट ने अलंकारों के विभाजन का मापदण्ड अन्वय - व्यतिरेक स्वीकार किया है।[1] अलंकारों के विभाजन का मापदण्ड अन्वय - व्यतिरेक तो हेमचन्द्राचार्य ने भी स्वीकार किया है,[2] पर उन्होंने उभयालंकारों के वर्ग को स्वीकार नहीं किया है।

शब्दालंकार : जहाँ शब्दगत चमत्कार पाया जाय वह शब्दालंकार है। शब्दालंकार में शब्द परिवर्तन संभव नहीं है क्योंकि शब्दों का परिवर्तन होने पर काव्यगत सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है। अत: शब्दालंकार में शब्दों की विशेष महत्ता होती है।

शब्दालंकारो की संख्या के विषय मे आचार्यों में मतभेद रहा है। भरतमुनि ने मात्र यमक को शब्दालंकार कहा है।[3] भामहाचार्य ने अनुप्रास

1. काव्यप्रकाश, पृ. 423
2. काव्यानुशासन, पृ. 401
3. नाट्यशास्त्र, 17/62

व यमक - इन दो का उल्लेख किया है। दण्डी ने यमक और चित्रालंकार को उपमा रूपकादि से पृथक् शब्दालंकार स्वीकार किया है।[1] सर्वप्रथम रूद्रट ने स्पष्ट रूप से वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र को शब्दालंकार कहा है।[2] आचार्य मम्मट ने शब्दालंकार के अन्तर्गत वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र व पुनरूक्तवदाभास का प्रतिपादन किया है, परन्तु उनके मत में प्रथम पांच ही मूलतः शब्दालंकार हैं।[3] अन्तिम पुनरूक्तवदाभास को वे उभयालंकार के रूप में मानते हैं।[4] इसीलिये उन्होंने उसे शब्दालंकारों के अन्त मे तथा अर्थालंकारों के विवेचन से पूर्व रखा है।

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक इन 4 अलंकारों को शब्दालंकार कहा है।[5] उन्होंने चित्र के एक स्वरचित्र आदि अनेक भेद प्रस्तुत किए हैं।[6] वक्रोक्ति के केवल दो ही भेद किए हैं- सभंगश्लेषवक्रोक्ति और अभंगश्लेषवक्रोक्ति[7]। अनुप्रास के - छेकानुप्रास व लाटानुप्रास[8] ये दो भेद किए हैं तथा यमक के 24 भेदों का सोदाहरण

---

1. द्रष्टव्य: जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान, पृ. 206
2. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
   शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु।।
   रूद्रट-काव्यालंकार, 2/13
3. काव्यप्रकाश - नवम् उल्लास
4. वही, पृ. 439
5. चित्रं वक्रोक्त्यनुप्रासो यमकं ध्वन्यलंक्रिया
   वाग्भटालंकार, 4/2
6. वही, 4/9 - 13
7. वही, 4/15-16
8. वही, 4/17

विवेचन किया है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्टतः 6 शब्दालंकारों का प्रतिपादन किया है – अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरूक्तवदाभास।[2] वे उभयालंकार नहीं मानते हैं। पुनरूक्तवदाभास को उन्होंने शब्दगत अलंकार माना है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार 6 शब्दालंकारों का विवेचन इस प्रकार है–

§1§ <u>अनुप्रास</u> : "व्यंजनस्यावृत्तिरनुप्रासः" अर्थात् व्यंजन की आवृत्ति अनुप्रास है। व्यंजनों की यह आवृत्ति कई प्रकार की हो सकती है, जैसे – एक व्यंजन की अनेक बार, अनेक व्यंजनों की एक या अनेक बार। सभी प्रकार की आवृत्ति के पृथक् – पृथक् उदाहरण दिए गये हैं। "तात्पर्यमात्र-भेदिनो नाम्नः पदस्य वा लाटानाम्।" अर्थात् मात्र तात्पर्य के भेद से होने वाली नाम अथवा पद की आवृत्ति लाटानुप्रास है। आशय यह है कि शब्दार्थ के अभेद होने पर भी अन्वय मात्र से भिन्न नाम अथवा पद की एक अथवा अनेक की एक बार या अनेक बार आवृत्ति लाट सम्बन्धी अर्थात् लाट देश के लोगों को प्रिय होने से लाटानुप्रास कहलाती है।

---

1. वाग्भटालंकार
2. शब्दालंकाराणां षण्णां तावदाह। षण्णामिति। अनुप्रासयमकचित्र-श्लेषवक्रोक्तिपुनरूक्ताभासानाम्।
   काव्यानु, वृत्ति, टीका, पृ. 295

आचार्य मम्मट ने अनुप्रास का विवेचन करते हुए वर्णों की समानता या आवृत्ति को अनुप्रास कहा है। उन्होंने छेकगत और वृत्तिगत भेद से उसे दो प्रकार का माना है।[1] परन्तु आचार्य हेमचन्द्र इन दोनों को अलग - अलग न मानकर एक ही भेद मानते हैं, वे वृत्त्यनुप्रास को नहीं मानते। उनका लाटानुप्रास का प्रतिपादन लगभग मम्मट की तरह ही है, किन्तु उन्होंने मम्मट के लाटानुप्रास के (1) एक समास में, (2) भिन्न समासों में अथवा (3) समास और असमास में प्रातिपदिक पद (नाम)की आवृत्ति - इन भेदों को नहीं माना है, तथापि एक नाम की आवृत्ति एक बार तथा अनेक बार और अनेक नाम की आवृत्ति एक बार तथा अनेक बार के पृथक् - पृथक् उदाहरण दिए हैं तथा पद की आवृत्ति के भी एक बार, अनेक बार, अनेक पदों की आवृत्ति एक बार तथा अनेक बार के उदाहरण दिये हैं।

(2) <u>यमक</u> : "सत्यर्थेऽन्यार्थानां वर्णानां श्रुतिक्रमैक्ये यमकम्।" अर्थात् अर्थ के होने पर भिन्न अर्थवाले वर्णों की क्रमशः श्रुति (श्रवण)यमक है। यमक का स्वरूप प्रायः आ. मम्मट के समान है।[2] यमक के भेद - प्रभेदों के सन्दर्भ में मम्मट तथा हेमचन्द्र में पर्याप्त भिन्नता है। मम्मट ने यमक के 11 पादज भेदों का उल्लेख किया है[3] जबकि आ. हेमचन्द्र ने यमक को

---

1. वर्णसाम्यमनुप्रासः। छेकवृत्तिगतो द्विधा।
   काव्यप्रकाश 9/103-104
2. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। यमकम।
   वही, 9/116
3. वही, वृत्ति, पृ. [illegible]

पादज और भागज भेद है, द्विधा विभक्त कर[1] पादज के 15 भेदों का उल्लेख किया है।[2] इसी प्रकार मम्मट ने पाद को दो भागो मे विभक्त करने पर 20, तीन भागों मे विभक्त करने पर 30 और चार भागों मे विभक्त करने पर 40 भेदों का उल्लेख किया है [3] परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने क्रमशः 28, 42 और 56 भेद बतलाए हैं।[4]

(3) चित्र : आ. हेमचन्द्र ने चित्रालंकार का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उससे उनकी चित्रालंकार भेदविषयक मान्यता भी स्पष्ट होती है। उन्होंने लिखा है कि "स्वरव्यंजनस्थानगत्याकारनियमच्युतगूढादि चित्रम्" अर्थात् स्वर, व्यंजन, स्थान, गति, आकार, नियम, च्युत और गूढ चित्र है। इसमें भोज के लक्षण का प्रभाव स्पष्ट है।[5] इस सन्दर्भ मे आ. मम्मट ने लिखा है कि जहाँ जिस बन्ध में वर्णों की रचना खड्ग आदि की आकृति का हेतु हो जाती है, वह चित्र अलंकार कहलाता है।[6]

---

1. तत्पादे भागे वा।
   काव्यानु. 5/3
2. तद् यमकं पादे तस्य च भागे भवति। तत्र पादजं पंचदशधा।
   वही, वृ. पृ. 300
3. काव्यप्रकाश, वृत्ति. पृ. 411
4. तथा भागजस्य द्विधा विभक्ते पादे प्रथम पादादिभागः पूर्ववद्द्वितीयादिपादादिभागेषु। अन्तभागोऽन्तभागेष्वित्यष्टाविंशतिभेदाः। श्लोकान्तरे हि न भागावृत्तिः संभवति। त्रिधा विभक्ते द्वाचत्वारिंशत्। चतुर्धा विभक्ते षट्पंचाशत।
   काव्यानु. वृत्ति, पृ. 302, 304
5. तुलनीय - सरस्वतीकण्ठाभरण 2/1
6. तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता।
   काव्यप्रकाश, 9/120

आचार्य हेमचन्द्र ने स्वरचित्र के "ह्स्व-एक-स्वर" का उदाहरण "जयमदनगजदमन" इत्यादि वृत्ति में देकर दीर्घ एक स्वर, द्विस्वर, त्रिस्वर आदि स्वरनियमों के उदाहरण भी विवेक टीका में दिये हैं तथा व्यंजन नियम का एक उदाहरण "ननोननुन्नो नुन्नोनो" इत्यादि देकर टीका में अनेक उदाहरण दिये हैं और स्थान-नियम के भी अनेक उदाहरण टीका में दिये हैं। गतप्रत्यागत आदि गतिचित्र को भी अनेक प्रभेदों मे विभक्त किया है, जैसे – पदगत प्रत्यागत के अतिरिक्त, अर्धगतप्रत्यागत, श्लोकगतप्रत्यागत, सर्वतोभद्र, अर्धभ्रम, तुरंगपदागत, गोमूत्रिका–पादगोमूत्रिका, अर्धगोमूत्रिका, श्लोकगोमूत्रिका आदि।[1] इन सभी के उदाहरण भी विवेक टीका में दिये गये हैं तथा कहा गया है कि आदिपद से गज–पद, रथ–पद आदि को समझना चाहिए।[2] खड्ग मुरजबन्ध आदि आकृति को आकार के अन्तर्गत प्रतिपादित किया गया है तथा उदाहरण भी दिए गए हैं। इसी प्रकार मुसल, धनुष, बाण, चक्र, पद्म आदि आकार के उदाहरण टीका मे दिए गए हैं। च्युत को 4 प्रकार का बतलाया गया है -- मात्राच्युत, अर्द्धमात्र-च्युत, बिन्दुच्युत और वर्णच्युत।[3] आचार्य हेमचन्द्र ने इनके उदाहरण वृत्ति मे ही प्रस्तुत किये हैं। गूढचित्र को भी क्रियागूढ, कारकगूढ, सम्बन्धगूढ और पादगूढ भेद से चार प्रकार का बतलाकर [4] सोदाहरण प्रतिपादन किया है।

---

1. काव्यानुशासन, टीका, पृ. 310–313
2. आदिग्रहणादगजपदरथपदादीनि ज्ञातव्यानि।
   वही, पृ. 313
3. च्युतं मात्रार्धम्मात्रा बिन्दुवर्णगतत्वेन चतुर्धा।

§4§ **श्लेष** : "अर्थभेदभिन्नानां शब्दानां भङ्गाभङ्गाभ्यां युगपदुक्तिः श्लेषः" अर्थात् अर्थभेद वाले भिन्न - भिन्न शब्दों की भंग से अथवा अभंग से युगपद् उक्ति को श्लेष कहते हैं। आ. हेमचन्द्र का श्लेष अलंकार का यह स्वरूप आ. मम्मट के लक्षण[1] की अपेक्षा संक्षिप्त और सरल है। आ. हेमचन्द्र ने श्लेष के 8 भेद बतलाए हैं - वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन श्लेष[2]। मम्मट ने प्रकृति, प्रत्यय आदि का भेद न होने से 8 प्रकार के सभंगश्लेषों से भिन्न अभंगश्लेष रूप नवम्[3] भेद भी माना है, जबकि आ. हेमचन्द्र ने आठों भेदों को भंग से और अभंग से द्विधा विभक्त कर दिया है। आ. हेमचन्द्र द्वारा किया गया भाषाश्लेष के 57 भेदों का कथन अन्य आचार्यों की तुलना में सर्वाधिक है। यह भेद बहुत महत्वपूर्ण हैं। संस्कृत-प्राकृत भाषाश्लेष का उदाहरण वृत्ति में देकर संस्कृत-मागधी, संस्कृत-पैशाची, संस्कृत-शूरसेनी, संस्कृत-अपभ्रंश के श्लेषगत उदाहरण विवेक टीका में दिये हैं।

§5§ **वक्रोक्ति** : आ. हेमचन्द्र ने लिखा है - "उक्तस्यान्येनान्यथा-श्लेषादुक्तिर्वक्रोक्तिः" अर्थात् वक्ता के द्वारा कही हुई बात को श्लेष के

---

1. वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
   श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषो सावक्षरादिभिरष्टधा।।
   काव्यप्रकाश 9/118
2. स च वर्णपदलिंगभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनरूपाणां शब्दानां भंगादभंगाच्च द्वेधा भवति।
   काव्यानु. वृत्ति, पृ. 324
3. काव्यप्रकाश, वृत्ति, पृ. 416 तथा वही, 9/119
4. यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
   श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।

द्वारा जब श्रोता दूसरे ही ढंग से लेता है तो वह वक्रोक्ति कहलाती है।

इस प्रकार आ. हेमचन्द्र का वक्रोक्ति का स्वरूप मम्मट [1] की ही भांति है, किन्तु अपेक्षाकृत सरल है। वक्रोक्ति के प्रसंग में उन्होंने काकु-वक्रोक्ति को अलंकार नहीं माना है, अपितु उसे मात्र पाठधर्म कहा है। इसके समर्थन मे उन्होंने राजशेखर की पंक्ति "अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः स कथमलंकारीस्यादिति यायावरीयः" उद्धृत कर स्वमत की पुष्टि की है। अतः मम्मट से इस विषय में हेमचन्द्र की विचारधारा भिन्न है। काकु को उन्होंने केवल गुणीभूतव्यंग्य का भेद माना है और ध्वनिकार की कारिका भी उद्धृत की है।[2] आ. हेमचन्द्र ने काकु को साकांक्षा और निराकांक्षा भेद से दो प्रकार का प्रतिपादित किया है और उसके विषय को 3 प्रकार का कहा है - अर्थान्तर, तदर्थगत एवं विशेष और तदर्थाभाव।[3]

§6§ <u>पुनरूक्ताभास</u> : आ. हेमचन्द्र पुनरूक्ताभास को मात्र शब्दालंकार ही मानते हैं। उनके अनुसार "भिन्नाकृतेः शब्दस्यैकार्थतैव पुनरूक्ताभासः अर्थात् भिन्न आकृति वाले शब्द की एकार्थता ही पुनरूक्ताभास है। आगे वे लिखते हैं कि भिन्न रूप से सार्थक और कहीं-कहीं दोनों या एक के

---

1. यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।
वही, 9/102

2. गुणीभूतव्यंग्यप्रभेद एवं चायम्। शब्दस्पृष्टत्वेनार्थान्तरप्रतीतिहेतुत्वात्।
यदाह ध्वनिकारः - अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता।।
काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 333

3. सा च काकुर्द्विविधा - साकांक्षा निराकांक्षा च । वाक्यस्य साकांक्ष-निराकाङ्क्षत्वात । विषयोऽपि त्रिविधः - अर्थान्तरं, तदर्थगत एव विशेषः, तदर्थाभावो वा । - वही. पृ. 336

अनर्थक शब्दों में आपाततः समानार्थकता की प्रतीति जहां होती है वह पुनरूक्ताभास है। पुनरूक्तवद् आभास होने से पुनरूक्ताभास कहते हैं।

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरूक्तवदाभास – इन छः शब्दालंकारों को स्वीकार किया है। इन्होंने सर्वप्रथम अनुप्रास के चार भेद – श्रुति, छेक, वृत्ति एवं लाट किए हैं।[1] तत्पश्चात् – श्रुति के शुद्ध, संकीर्ण और नागर – ये तीन भेद किए हैं।[2] छेकानुप्रास क्रमशाली, विपर्यस्त, वेष्किा एवं गर्भित चार प्रकार का बताया है।[3] इनके अनुसार समान वर्गों के अक्षरों की आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास है, यह कवित्व का प्राणभूत है[4] तथा यह बारह प्रकार का होता है — कर्णाटी, कौन्तली, कौंगी, कौंकणी, वानवासिका, त्रावणी, माथुरी,

---

1. अलंकारमहोदधि 7/2
2. वही, 7/4
3. क्रमशाली विपर्यस्तो वेष्किा गर्भितस्तथा।
   क्रमशाली क्रमोपेतः, विपर्यस्तः क्रमात्ययी।।
   आवाक्यान्तगतानेकवर्णावृत्तिस्तु वेष्किा।
   गर्भितस्त्वपरो वर्णस्तोमो यत्रान्यगर्भितः।।
   वही, 7/14
4. यदि वा यत्र वर्ग्याणां वर्ग्यैरावर्त्तनं निजैः।
   वृत्त्यनुप्रासमिच्छन्ति तं कवित्वैकजीवितम्।।
   वही, 7/14

मालती, मागधी, ताम्रलिप्तिका, उंड्री और पौण्ड्री।[1] वृत्यनुप्रास के ये बारह भेद भोजसम्मत हैं।[2] आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने इसी प्रकार स्वभावतः, उपचारवशात् वीप्सा से आभीक्ष्ण्य से, कषादि धातुओं से णमुल् प्रत्यय करने पर उसी धातु के उपपद रहने से और सम्भ्रम से जो पदों की आवृत्ति होती है, उन्हें लाटानुप्रास के भेद कहा है।[3] भोज ने इन्हें नामद्विरुक्ति अनुप्रास कहा है।[4] इन्होंने सभंगश्लेष के वर्ण - पदादि आठ भेदों की तरह अभंगश्लेष के भी आठ भेदों की संभावना की है।[5] साथ ही श्लेष को अर्थगत भी स्वीकार किया है। इन्होंने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार भी कहा है और शब्दार्थालंकार भी।[6]

आ. वाग्भट द्वितीय ने चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक और पुनरुक्तवदाभास - इन छः अलंकारो को शब्दालंकार स्वीकार

---

1. वही, पृ. 212 - 213
2. द्रष्टव्य, सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/79-80
3. अलंकारमहोदधि, 7/17-18
4. द्रष्टव्य, सरस्वतीकण्ठाभरण, 2/99
5. अभंगश्लेषोऽप्यष्टधैव यथासंभवं ज्ञेयः।
   अलंकारमहोदधि, पृ. 222
6. शब्दानामामुखे यस्मिन्नेकार्थत्वावभासनम्।
   पुनरुक्तवदाभासं शब्द - शब्दार्थगामितत्।।
   वही, 7/24

किया है।[1] आ. भावदेवसूरि ने भी इन्हीं छः शब्दालंकारों को स्वीकार किया है।[2]

संक्षेप में, जैनाचार्यों द्वारा किये गये उक्त शब्दालंकार विवेचन से ये स्पष्ट होता है कि आचार्य वाग्भट प्रथम ने केवल चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक – इन चार अलंकारों को शब्दालंकार माना है। हेमचन्द्राचार्य, आ. नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट द्वितीय और भावदेवसूरि ने – श्लेष तथा पुनरूक्तवदाभास – इन दो अन्य अलंकारों को उपरोक्त चार अलंकारों मे समाविष्ट कर छः शब्दालंकारों को स्वीकार किया है। आ. वाग्भट प्रथम ने पुनरूक्तवदाभास का उल्लेख ही नहीं किया है तथा श्लेष को अर्थालंकार माना है। आ. हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट द्वितीय व भावदेवसूरि ने श्लेष को शब्दालंकार व अर्थालंकार दोनों स्वीकार किया है।

<u>अर्थालंकार</u> : अर्थालंकार वह है जहां अर्थगत चमत्कार पाया जाता है। अर्थालंकार में शब्द परिवर्तन होने पर भी अर्थ के कारण चमत्कार विद्यमान रहता है। अतः इसमें अर्थ की प्रधानता रहती है।

विभिन्न आचार्यों की अलंकार सम्बन्धी धारणा में एकरूपता नहीं है। आचार्य मम्मट ने 61 प्रकार के अर्थालंकारों का विवेचन किया है —(1) उपमा, (2) अनन्वय, (3) उपमेयोपमा, (4) उत्प्रेक्षा

---

1. चित्रश्लेषानुप्रासवक्रोक्तियुक्तियमकपुनरूक्तवदाभासाः षट् शब्दालंकाराः।
काव्यानु., वाग्भट, पृ. 46

2. स्याद् वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषं इत्यपि । चित्रं पुनरूक्तवदाभास शब्देष्वलंकृतिः।।
काव्यालंकारसार, 5/1

(5) ससन्देह, (6) रूपक, (7) अपह्नुति, (8) श्लेष (9) समासोक्ति, (10) निदर्शना, (11) अप्रस्तुत प्रशंसा, (12) अतिशयोक्ति, (13) प्रतिवस्तूपमा, (14) दृष्टान्त, (15) दीपक, (16) तुल्ययोगिता, (17) व्यतिरेक (18) आक्षेप, (19) विभावना, (20) विशेषोक्ति, (21) यथासंख्य, (22) अर्थान्तरन्यास, (23) विरोधाभास, (24) स्वभावोक्ति, (25) व्याजस्तुति, (26) सहोक्ति, (27) विनोक्ति, (28) परिवृत्ति, (29) भाविक, (30) काव्यलिङ्ग, (31) पर्यायोक्ति, (32) उदात्त, (33) समुच्चय, (34) पर्याय, (35) अनुमान, (36) परिकर, (37) व्याजोक्ति, (38) परिसंख्या, (39) 'कारणमाला, (40) अन्योन्य, (41) उत्तर, (42) सूक्ष्म, (43) सार, (44) असंङ्गति, (45) समाधि, (46) सम, (47) विषम, (48) अधिक, (49) प्रत्यनीक, (50) मीलित, (51) एकावली, (52) स्मृति, (53) भ्रान्तिमान् (54) प्रतीप, (55) सामान्य, (56) विशेष, (57) सद्गुण, (58) अतद्गुण, (59) व्याघात, (60) संसृष्टि और (61) संङ्कर।[1]

जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने पैंतीस अर्थालंकार स्वीकार किए हैं— जाति, उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान, आक्षेप, संशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति,

---

1. आ. विश्वेश्वर: काव्यप्रकाश, पृ. 441

विभावना, दीपक, अतिशय, हेतु, पर्यायोक्ति, समाहित, परिवृत्ति, यथासंख्य, विषम, सहोक्ति, विरोध, अवसर, सार, श्लेष, समुच्चय, अप्रस्तुतप्रशंसा, एकावली, अनुमान, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर और संकर।[1] इनमें जाति अलंकार स्वभावोक्ति का पर्यायवाची है। आ. वाग्भट प्रथम ने उपमा के – उपमेयोपमा, अनन्वयोपमा, अनेकोपमेयमूलोपमा और अनेकोपमानमूलोपमा – इन भेदों का उल्लेख किया है।[2] इनमे अनेकोपमेयमूलोपमा के अतिरिक्त शेष उपमेयोपमा, अनन्वयोपमा और अनेकोपमानमूलोपमा क्रमशः आ. मम्मटादि – सम्मत उपमेयोपमा, अनन्वय व मालोपमा अलंकार हैं।

आ. वाग्भट प्रथम ने किसी एक आचार्य को आधार नहीं माना है, अपितु जिस आचार्य का जो लक्षण उन्हें सम्यक् प्रतीत हुआ है, उसे उन्होंने अपने शब्दों में उल्लिखित किया है। उनका सहोक्ति लक्षण[3] रूय्यक के सहोक्ति के एक उपभेद "कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा सहोक्ति" पर आधृत है।[4] इसी प्रकार वाग्भट प्रथम के दीपकालंकार पर भरत व

---

1. वाग्भटालंकार, 4/2-6
2. वही, 4/54-57
3. सहोक्तिः सा भवेद् यत्र कार्यकारणयोः सह।
   समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तताम्।।
   वाग्भटालंकार, 4/119
4. द्रष्टव्य, अलंकारसर्वस्व, पृ. 298

भामह, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त पर भामह, अर्थान्तरन्यास, तुल्ययोगिता, हेतु और समाहित पर दण्डी, समुच्चय और अवसर पर रूद्रट, जाति और व्यतिरेक पर रूय्यक, रूपक, उत्प्रेक्षा, पर्यायोक्ति, अतिशोक्ति, आक्षेप, विरोध, विषम, परिसंख्या, संकर व एकावली पर मम्मट का प्रभाव परिलक्षित होता है। वाग्भट प्रथम, जहाँ अनेक अलंकारों का सम्मेलन हो, उसे संकरालंकार मानते हैं।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने मात्र 29 अर्थालंकारों का प्रतिपादन किया हैं —(1) उपमा, (2) उत्प्रेक्षा, (3) रूपक, (4) निदर्शन, (5) दीपक, (6) अन्योक्ति, (7) पर्यायोक्त, (8) अतिशयोक्ति, (9) आक्षेप, (10) विरोध, (11) सहोक्ति, (12) समासोक्ति, (13) जाति, (14) व्याजस्तुति, (15) श्लेष, (16) व्यतिरेक, (17) अर्थान्तरन्यास, (18) सन्देह, (19) अपह्नुति, (20) परिवृत्ति, (21) अनुमान, (22) स्मृति, (23) भ्रान्ति, (24) विषम, (25) सम, (26) समुच्चय, (27) परिसंख्या, (28) कारणमाला और (29) संकर।[2]

इनका विवरण इस प्रकार है –

§1§ <u>उपमा</u> – "हृद्यं साधर्म्यमुपमा" उपमा के इस लक्षण में आचार्य हेमचन्द्र ने "हृद्यं" कहकर अलंकार के सौन्दर्य पक्ष पर विशेष बल दिया है।

---

1. वाग्भटालंकार, 4/144
2. काव्यानुशासन, टीका, पृ. 339

साधर्म्य पद का प्रयोग मम्मट ने भी किया है।[1] आ. हेमचन्द्र के अनुसार साधर्म्य आह्लादजनक होगा तभी वह उपमा अलंकार होगा, अन्यथा नहीं। उनकी मान्यता है कि अलंकार रसोपकारक हो तभी वह काव्य में उपादेय है, अन्यथा नहीं। इसलिये उपमा को साधर्म्य हृद्य होना ही चाहिये। "हृद्यं सहृदयहृदयाह्लादकारि" कहकर उन्होंने हृद्यं का अर्थ स्पष्ट किया है। इस प्रकार आ. हेमचन्द्र के अनुसार सहृदय के हृदय को आह्लादित करने वाले उपमान और उपमेय के सादृश्य का कथन उपमा अलंकार है। मम्मट ने उपमा के लक्षण में "भेदे" पद का प्रयोग किया है जो अनन्वय अलंकार को स्वतन्त्र रूप से मानने में सहायक होता है, परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने अपने उपमालक्षण में 'भेदे' पद का समावेश नहीं किया है, क्योंकि वे मालोपमा, रशनोपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और उत्पाद्योपमा को उपमा से पृथक नहीं मानते।[2] अधिकांश आचार्य उपमा को ही अर्थालंकारों का मूल मानते हैं और प्रायः सभी ने सर्वप्रथम उपमालंकार का ही निरूपण किया है, इसलिये सर्वप्रथम उपमा का प्रतिपादन करना उचित एवं परम्परा-गत है। आचार्य हेमचन्द्र ने उपमा का सोदाहरण विस्तृत विवेचन तीन सूत्र और उनकी वृत्ति मे किया है। उन्होंने अन्य सभी अलंकारों का प्रतिपादन क्रमशः एक-एक सूत्र में किया है।

---

1. साधर्म्यमुपमा भेदे
   काव्यप्रकाश 10/124
2. मालोपमाद्यस्तूपमाया नातिरिच्यन्त इति न पृथग् लक्षिताः।
   काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 346

﴾2﴿ <u>उत्प्रेक्षा</u> – "असद्धर्मसंभावनमिवादिद्योत्योत्प्रेक्षा" अर्थात् असद्धर्म की सम्भावना इवादि के द्वारा द्योतित होने पर उत्प्रेक्षा कहलाती है। मम्मट[1] और हेमचन्द्र का उत्प्रेक्षा अलंकार का स्वरूप मूलतः समान ही है। उत्प्रेक्षा के द्योतक इव, मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः, नूनम् इत्यादि शब्द हैं।

﴾3﴿ <u>रूपक</u> – "सादृश्ये भेदेनारोपो रूपकमेकानेकविषयम्" अर्थात् सादृश्य के होने पर भेद द्वारा आरोपित एकविषयक और अनेकविषयक रूपक अलंकार होता है। मम्मट के अनुसार उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन रूपक है।[2] अतः दोनों आचार्यों के लक्षणों मे अन्तर है।

﴾4﴿ <u>निदर्शन</u> – "इष्टार्थसिद्धये दृष्टान्तो निदर्शनम्" अर्थात् इष्टार्थ की सिद्धि के लिये जो दृष्टान्त का निर्देश किया जाता है वह निदर्शनालंकार है। इसमें मम्मट सम्मत दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और निदर्शन के लक्षणों का एकदेश समावेश किया गया है। आ. हेमचन्द्र ने निदर्शन और अर्थान्तरन्यास का अन्तर स्पष्ट करते हुये लिखा है कि जहाँ सामान्य अथवा विशेष का विशेष के द्वारा समर्थन किया जाता है वहाँ निदर्शना अलंकार होता है और जहाँ विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन किया जाता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।[3] आ. मम्मट उक्त दोनों

---

1. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।
   काव्यप्रकाश 10/136
2. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।
   वही, 10/138
3. यत्र सामान्यस्य विशेषस्य वा विशेषेण समर्थनं तन्निदर्शनम् । यत्र तु विशेषस्य सामान्येन समर्थनं सोऽर्थान्तरन्यासः।
   काव्यानुशासन, टीका, पृ. 353

स्थितियों मे अर्थान्तरन्यास ही मानते हैं।[1]

§5§ दीपक - "प्रकृताप्रकृतानां धर्मैक्यं दीपकम्" अर्थात् प्रकृत और अप्रकृत (उपमेय-उपमान) के धर्मों का ऐक्य दीपकालंकार है। यह मम्मट के दीपकालंकार के लक्षण पर ही आधारित प्रतीत होता है।[2] आ. हेमचन्द्र ने कारकदीपक को लक्षित नहीं किया है, क्योंकि "स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति" इत्यादि में जाति का ही चमत्कार होता है कारक दीपक का नहीं।[3]

§6§ अन्योक्ति : "सामान्येविशेषे कार्ये कारणे प्रस्तुते तदन्यस्य तुल्ये तुल्यस्यचोक्तिरन्योक्तिः" अर्थात् सामान्य, विशेष, कार्य और कारण के प्रस्तुत होने पर तथा तुल्य के प्रस्तुत होने पर दूसरे तुल्य का कथन करना अन्योक्ति है। यह मम्मट के अप्रस्तुतप्रशंसा के बहुत समीप है।[4] जिसे मम्मट ने अप्रस्तुतप्रशंसा कहा है वस्तुतः वही आ. हेमचन्द्र के मत में अन्योक्ति है।

---

1. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
   यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।।
   काव्यप्रकाश, 10/164
2. वही, 10/155
3. काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 353
4. तुलनीय-काव्यप्रकाश 10/150, 151

§7§ <u>पर्यायोक्त</u> - "व्यंग्यस्योक्तिः पर्यायोक्तम्" अर्थात् व्यंग्य का पर्याय से कथन करना पर्यायोक्त है। यह लक्षण भी मम्मट से मिलता-जुलता है।[1]

§8§ <u>अतिशयोक्ति</u> - "विशेषविवक्षया भेदाभेदयोगायोगव्यत्ययो-ऽतिशयोक्तिः" अर्थात् विशेष विवक्षा से भेद, अभेद, योग और अयोग का विपरीत वर्णन अतिशयोक्ति है। वे इसके चार भेदों को मानते हैं - भेद में अभेद, अभेद में भेद, सम्बन्ध में असम्बन्ध और सम्बन्ध मे सम्बन्ध।

§9§ <u>आक्षेप</u> - "विवक्षितस्य निषेध इवोपमानस्याक्षेपश्चाक्षेपः" अर्थात् जो बात कहना चाहते हैं उसका निषेध और इव-उपमान का आक्षेप या तिरस्कार कर देना आक्षेप कहलाता है। इसीप्रकार मम्मट भी आक्षेप को दो प्रकार का मानते हैं- वक्ष्यमाण का निषेध और उक्त विषय का निषेध (इवोपमान का आक्षेप)।[2]

§10§ <u>विरोध</u> - "अर्थानां विरोधाभासो विरोधः" अर्थात् अर्थों के विरोध का आभास विरोध अलंकार है। मम्मट और हेमचन्द्र के प्रतिपादन में कोई अन्तर नहीं है। हेमचन्द्र ने भी मम्मट के समान जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप पदार्थों का सजातीय अथवा विजातीय के साथ

---

1. तुलनीय - काव्यप्रकाश 10/174
2. वही, 10/166

वास्तविक विरोध न होने पर भी पारस्परिक विरोध का आभास मात्र होना विरोध अलंकार माना है। मम्मट ने इसप्रकार इसके 10 भेद सम्भव बतलाये हैं।[1]

§11§ <u>सहोक्ति</u> – "सहार्थबलाद्धर्मस्यान्वय: सहोक्ति:" अर्थात् सह अर्थ के सामर्थ्य से धर्म का अन्वय सहोक्ति है। आशय यह है कि जहाँ सह शब्द के अर्थ की सामर्थ्य से एक पद दो का वाचक हो वह सहोक्ति है।

§12§ <u>समासोक्ति</u> – "श्लिष्टविशेषणैरुपमानधी: समासोक्ति:" अर्थात् श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा उपमान का कथन समास अर्थात् संक्षेप से प्रकृत और अप्रकृत दोनों का कथन होने से समासोक्ति कहलाता है। मम्मट और हेमचन्द्र दोनों आचार्यों का समासोक्ति का स्वरूप समान है।[2]

§13§ <u>जाति</u> – "स्वभावाख्यानं जाति:" अर्थात् स्वभाव का कथन करना जाति है। यह स्वभावोक्ति का ही पुराना नाम है। मम्मट ने इसे स्वभावोक्ति ही कहा है। मम्मट के स्वभावोक्ति और आचार्य हेमचन्द्र के जाति अलंकार में समानता है।

§14§ <u>व्याजस्तुति</u> – "स्तुतिनिन्दयोरन्यपरता व्याजस्तुति:" अर्थात् स्तुति और निन्दा की अन्यपरता व्याजस्तुति है। स्तुति का

---

1. वही, 10/166
2. तुलनीय – परोक्तिर्भेदकै: श्लिष्टै: समासोक्ति:।
   वही, 10/147

निन्दा में और निन्दा का स्तुति में पर्यवसान क्रमशः व्याजरूपास्तुति और व्याज से स्तुति दोनों अर्थ से व्याजस्तुति कहलाता है। इसके विवेचन में मम्मट से पूर्ण साम्य है।[1]

§15§ <u>श्लेष</u> – "वाक्यस्यानेकार्थता श्लेषः" अर्थात् वाक्य की अनेकार्थता श्लेष है। आशय यह है कि पदों की एकार्थता होने पर भी जहाँ वाक्य की अनेकार्थता हो वह श्लेष नामक अर्थालंकार कहलाता है।

§16§ <u>व्यतिरेक</u> – "उत्कर्षापकर्षहेत्वोः साम्यस्य चोक्तावनुक्तौ चोपमेयस्याधिक्यं व्यतिरेकः" अर्थात् उपमेय का उपमान से अधिक वर्णन करना व्यतिरेक है। आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट का ही अनुकरण करते हुए इसके भेद-प्रभेदों पर विचार किया है।

§17§ <u>अर्थान्तरन्यास</u> – "विशेषस्य सामान्येन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां समर्थनमर्थान्तरन्यासः" अर्थात् जहाँ विशेष का सामान्य के द्वारा साधर्म्य अथवा वैधर्म्य पूर्वक समर्थन किया जाता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। यह मम्मट का एकदेश अनुकरण है। मम्मट सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से दोनों का समर्थन साधर्म्य और वैधर्म्य पूर्वक मानते हैं।[2]

---

1. तुलनीय – काव्यप्रकाश 10/168
2. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
   यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।।
   वही, 10/164

(19) <u>अपह्नुति</u> – "प्रकृताप्रकृताभ्यां प्रकृतापलापोऽपह्नुतिः" अर्थात् जहाँ प्रस्तुत से प्रस्तुत का अथवा अप्रस्तुत से प्रस्तुत का अपलाप किया जाय वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। मम्मट ने प्रस्तुत का निषेध करके अप्रस्तुत की सिद्धि को अपह्नुति कहा है।[1] तथा प्रकट हुये वस्तु के स्वरूप को छलपूर्वक छिपाने के वर्णन को व्याजोक्ति।[2] परन्तु आ. हेमचन्द्र ने अपह्नुति के उपर्युक्त लक्षण में मम्मट सम्मत अपह्नुति और व्याजोक्ति–इन दोनों के स्वरूपों को स्थान दिया है। वे व्याजोक्ति को पृथक् अलंकार मानने के पक्ष मे नहीं हैं।

(20) <u>परिवृत्ति</u> – "पर्यायविनिमयौ परिवृत्तिः" अर्थात् पर्याय का विनिमय परिवृत्ति है। आशय यह है कि एक पद का अनेक जगह अनेक का एकत्र क्रमशः वृत्ति है। सम के द्वारा सम का उत्कृष्ट रूप से निकृष्ट का निकृष्ट के द्वारा उत्कृष्ट रूप से व्यतिहार विनिमय है। अतः पदार्थों का समान या असमान (उत्तम अथवा हीन पदार्थों) के साथ जो परिवर्तन का वर्णन है वह परिवृत्ति है।

(21) <u>अनुमान</u> – "हेतोः साध्यावगमोऽनुमानम्" अर्थात् कारण से कार्य का ज्ञान करना अनुमान है। अन्यथानुपपत्ति के एकमात्र लक्षण हेतु से साध्य कार्य या जिज्ञासित अर्थ की प्रतीति का जहाँ वर्णन किया जाय वहाँ अनुमान है।

---

1. काव्यप्रकाश, 10/145
2. वही, 10/183

इसप्रकार आ॰ हेमचन्द्र ने 29 प्रकार के अर्थालंकारों का सोदाहरण प्रतिपादन किया है। अलंकार विवेचन में भी पूर्ववर्ती आचार्यों का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है। आ॰ हेमचन्द्र ने किसी आचार्य विशेष को पूर्ण मान्यता नहीं दी है, अपितु जिस आचार्य की जो उक्ति उचित समझी है उसे तर्क की कसौटी पर कसकर स्वीकार किया है। अलंकार विवेचन के सन्दर्भ में उनकी कसौटी यह है कि कुछ अलंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है, कुछ अलंकार दोषाभाव रूप हैं और कुछ अलंकार कहलाने योग्य ही नहीं हैं। इसी कसौटी पर उनका अलंकार विवेचन आधारित है।

आ॰ मम्मट सम्मत अधिकांश अलंकारों को आ॰ हेमचन्द्र ने छोड़ दिया है, उनपर कोई विचार ही नहीं किया है। छोटे अथवा कम महत्व के अलंकारों को महत्वपूर्ण अलंकारों में समाविष्ट कर लिया है। रस तथा भाव से संबंधित रसवत्, प्रेयस, उर्जस्वित् और समाहित अलंकारों को मम्मट की भांति छोड़ दिया है। उन्होंने स्वभावोक्ति के लिए जाति तथा अप्रस्तुत-प्रशंसा के लिये अन्योक्ति शब्द का प्रयोग किया है। विवेक टीका में उन्होंने सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोज एवं अन्य अलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट सभी अलंकारो की चर्चा की है और कुछ अलंकारों को स्वीकृत अलंकारों में समाविष्ट कर लिया है या कुछ को अलंकार ही नहीं माना है।[1] हेमचन्द्र की अपेक्षा मम्मट ने जिन अलंकारों को अधिक कहा है वे निम्नलिखित हैं —

---

1. काव्यानुशासन, टीका, पृ॰ 405

अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, विनोक्ति, भाविक, काव्यलिंग, उदात्त, पर्याय, परिकर, व्याजोक्ति, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असङ्गति, समाधि, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात और संसृष्टि आदि।

आ. हेमचन्द्र की मान्यता है कि पुनरूक्ताभास और अर्थान्तरन्यास शब्दार्थोभयगत हैं, तथापि क्रमशः शब्द वैचित्र्य एवं अर्थ वैचित्र्य को उत्कट देखकर प्रथम को शब्दालंकारों मे तथा द्वितीय को अर्थालंकारों में कहा है। परिकर, अपुष्टार्थत्व दोषाभाव रूप और यथासंख्य भग्नप्रक्रमता दोषाभाव रूप है। विनोक्ति तो चमत्कारशून्य है, अतः वह अलंकार रूप में मान्य नहीं है। भाविक अलंकार तो भूत एवं भावी पदार्थों का प्रत्यक्ष करना है जो विष्कम्भक एवं प्रवेशकों के द्वारा प्रदर्शन कराया जा सकने के कारण अभिनेय होने से नाटकादि में उपयोगी है। उदात्त यदि समृद्धिशाली वस्तु लक्षणरूप अवस्था में है तब वह अतिशयोक्ति या स्वभावोक्ति से भिन्न नहीं है। आशीः तो प्रियोक्ति मात्र है, यदि स्नेहातिशय से ऐसी इच्छा ही आशीः है तब चित्त वृत्ति रूप वह प्रधान होने पर भावध्वनि है, गुणीभूत होने पर गुणीभूतव्यंग्य है। प्रत्यनीक, प्रतीप आदि मानोत्प्रेक्षा के प्रकार ही हैं।

अत: यह सब अलंकार मान्य नहीं हैं।[1]

इसप्रकार आ. हेमचन्द्र ने जिन अलंकारों का विवेचन किया है उनमे प्राय: पूर्वाचार्यों की मान्यताओं को भी प्रमुखरूप से स्थान दिया है तथा जिन अलंकारों को स्वीकार नहीं किया है उनका युक्तिपूर्वक खण्डन किया है।[2]

---

1. "यद्यपि पुनरूक्तवदाभासार्थान्तरन्यासादय: केचिदुभयान्वयव्यतिरेकानुविधायिनोऽपि दृश्यन्ते तथापि तत्र शब्दस्यार्थस्य वा वैचित्र्यमुत्कटमित्युभयालंकारत्वमनपेक्ष्यैव शब्दालंकारत्वेनार्थालंकारत्वेन चोक्ता: । इह चापुष्टार्थत्वलक्षणदोषाभावमात्रं साभिप्रायविशेषणोक्तिरूप: परिकरो भग्नप्रक्रमतादोषाभावमात्रं यथासंख्यं दोषाभिधानेनैव गतार्थम् । विनोक्तिस्तु तथाविधहृद्यत्वविरहात् । भाविकं तु भूतभाविपदार्थप्रत्यक्षीकारात्मकमभिनेयप्रबन्ध एव भवति । यद्यपि मुक्तकादावपि दृश्यते तथापि न तत् स्वदते । उदात्तं तु ऋद्धिमद्वस्तुलक्षणं अतिशयोक्तेर्जातेर्वा न भिद्यते । महापुरूषवर्णनारूपं च यदि रसपरं तदा ध्वनेर्विषय: । अथ तथाविधवर्णनीयवस्तुपरं तदा गुणीभूतव्यंग्यस्येति नालंकार: । रसवत्प्रेयसीऊर्जस्विभावसमाहितानि गुणीभूतव्यंग्यप्रकारा एव । आशीस्तु प्रियोक्तिमात्रं, भावज्ञापनेन गुणीभूतव्यंग्यस्य वा विषय: । प्रत्यनीकं च प्रतीयमानोत्प्रेक्षाप्रकार एवेति नालंकारान्तरतया वाच्यम्।
   काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 401-405

2. काव्यानुशासन, टीका, पृ. 402 - 405

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने 71 अर्थालंकारों का विवेचन किया है - अतिशयोक्ति, सहोक्ति, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, संशय, भ्रान्तिमान, उल्लेख, रूपक, अपह्नुति, परिणाम, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विनोक्ति, परिकर, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, आक्षेप, व्याजस्तुति, श्लेष, विरोध, असंगति, विशेषोक्ति, विभावना, विषम, सम, अधिक, विचित्र, पर्याय, विकल्प, व्याघात, अन्योन्य, विशेष, कारणमाला, सार, एकावली, मालादीपक, काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, उदात्त, रसवद्,प्रेय, उर्जस्वि, समाहित, संसृष्टि व संकर[1]। इस प्रकार नरेन्द्रप्रभसूरि ने किसी नवीन अलंकार की उद्भावना नहीं की है तथा मम्मट सम्मत अलंकारों के अतिरिक्त रुय्यकादि - सम्मत अलंकारों को भी स्वीकार किया है रसवदादि अलंकारों को इन्होंने सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया है क्योंकि कुछ विद्वानोंनेप्रतिपादन किया है अतः उन्होंने भी उल्लेख कर दिया है।[2]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने आ. वाग्भट प्रथम द्वारा उल्लिखित हेतु, अवसर और प्रश्नोत्तर नामक तीन अलंकारों को स्वीकार नहीं किया है।

---

1. अलंकारमहोदधि, अष्टम तरंग
2. अलंकारमहोदधि, 8/85-86

प्राय: सभी आचार्यों ने अर्थालंकारों के वर्णन - प्रसंग में, उपमा को अर्थालंकारों का मूल स्वीकार करते हुए सर्वप्रथम उसी पर विचार किया है पर आ. नरेन्द्रप्रभसूरि ने सर्वप्रथम अतिशयोक्ति का विवेचन किया है तथा उसे ही समस्त अलंकारों का प्राणभूत कहा है।[1]

जैनाचार्य वाग्भट - द्वितीय ने 63 अर्थालंकारों का विवेचन किया है - जाति, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दीपक, सहोक्ति, आक्षेप, विरोध, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, व्यतिरेक, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, अन्य, अपर, परिसंख्या, कारणमाला, निदर्शन, एकावली, यथासंख्य, परिकर, उदात्त, समाहित, विभावना, अन्योन्य, मीलित, विशेष, पूर्व, हेतु, सार, सूक्ष्म, लेश, प्रतीप, पिहित, व्याघात, असंगति, अहेतु, श्लेष, मत, उत्तर, उभयन्यास, भाव, पर्याय, व्याजोक्ति, अधिक, प्रत्यनीक, अनन्वय, तद्गुण, अतद्गुण, संकर और आशी:।[2] इन अलंकारों की गणना करने के पश्चात् अन्त में आ. वाग्भट द्वितीय "प्रभृतय:" पद का प्रयोग करते हैं।[3] जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य अलंकार भी मान्य थे, पर उन्होंने उनका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। आ. मम्मट द्वारा कथित - उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा

---

1. सर्वालंकारचैतन्यभूतत्वात् प्रथममतिशयोक्तिं विशेषतो लक्षयति।
   अलंकारमहोदधि, पृ. 227
2. काव्यानु. - वाग्भट, पृ. 32
3. आशी: प्रभृतयोऽर्थालंकारा:/
   वही, पृ. 32

दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, विशेषोक्ति, विनोक्ति, भाविक, काव्यलिंग, समाधि, सामान्य और संसृष्टि – इन ग्यारह अलंकारों का आ. वाग्भट द्वितीय ने कोई उल्लेख नहीं किया है तथा अन्योक्ति, अन्य, अपर, समाहित, पूर्व, हेतु, लेश, पिहित, अहेतु, मत, उभयन्यास, भाव और आशीः – इन 13 अन्य अलंकारों का उल्लेख किया है।[1]

---

1. इन अलंकारों के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं —

उपमेयस्यैवोक्तावन्यप्रतीतिरन्योक्तिः
काव्यानु., वाग्भट, पृ. 35

अनेकेषामेकत्र निबन्धस्त्वन्यः।
वही, पृ. 41

गुणक्रियायां युगपदभिधानपरः।
वही, पृ. 41

कार्यमारभमाणस्य दैवादुपायसंपत्तिः समाहितम्।
वही, पृ. 42

अर्वाचीनस्यार्थस्य पृथगभिधानं पूर्वम्।
वही, पृ. 43

कार्यकारणयोरभेदो हेतुः।
वही, पृ. 43

कार्यतो गुणदोषविपर्ययो लेश।
वही, पृ. 43

एकत्राधारे यत्राधेयद्वयस्यैकेनैकं पिधीयते तत्पिहितम्।
वही, पृ. 43

विकारहेतावप्यविकृतिरहेतुः।
वही, पृ. 44

प्रकृतमुत्क्षिप्य वक्ता यदन्यथा मन्यते तन्मतम्।
वही, पृ. 44

सामान्यं सामान्येन यत्समर्थ्यते स उभयन्यासः।
वही, पृ. 44

यत्र प्रतीयमानोऽर्थो वाच्योपयोगी स भावः।
वही, पृ. 44

इष्टार्थस्याशंसनमाशीः।

आ. वाग्भट द्वितीय ने जो उपमा अलंकार का लक्षण दिया है उसमें उद्भट का प्रभाव दृष्टिगत होता है।[1] अर्थान्तरन्यास का लक्षण देते हुए उन्होंने सामान्य से विशेष के समर्थन को अर्थान्तरन्यास कहा है[2] - उनका यह लक्षण हेमचन्द्राचार्य का अनुकरण करता है। इसी प्रकार व्याज-स्तुति, परिवृत्ति, अनुमान, भ्रान्ति, विषम, सम, परिसंख्या, कारणमाला, श्लेष और संकरादि अलंकारों के लक्षणों पर भी आ. हेमचन्द्र का प्रभाव है।[3]

भावदेवसूरि ने 52 अर्थालंकारों का उल्लेख किया है - उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, जाति, व्यतिरेक, दीपक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, विभावना, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, समाधि, परिवृत्ति, तुल्ययोगिता, श्लेष, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, विनोक्ति, सहोक्ति, पर्यायोक्ति, हेतु, विरोध, असंगति, दृष्टान्त, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति, भ्रान्ति, स्मृति, सन्देह, अपह्नुति, विषम, दैवक, उत्तर, उदात्त, सार, अन्योन्य, समुच्चय कारणमाला, आशिष्, यथासंख्य, तद्गुण, एकावली, रसवत्, प्रेय, परिसंख्या

---

1. चमत्कारि साम्यमुपमा ।
   - काव्यानु. वाग्भट, पृ. 33

   तुलनीय - काव्यालंकारसारसंग्रह, उद्भट, 1/15, पृ. 280

2. विशेषस्य सामान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यासः। साधर्म्येण वैधर्म्येण च।
   - काव्यानुशासन - वाग्भट, पृ. 38

3. द्रष्टव्य - काव्यानुशासन - वाग्भट, पृ. 39-45

सूक्ष्म, उल्लेख, विशेष, प्रतीप, संसृष्टि और भाविक।[1] वक्रोक्ति का उल्लेख आ. भावदेवसूरि ने शब्दालंकारों में भी किया है और अर्थालंकारों में भी।[2] इनका अलंकार - विवेचन अत्यंत संक्षिप्त है अतः उसके विषय में कुछ विशेष कथनीय नहीं है। अस्तु जैनाचार्यों ने अपने अलंकार - विवेचन में किसी एक आचार्य को आदर्श न मानकर, जिस आचार्य के कथन को सम्यक् समझा है उन्हें स्वीकार किया है। साथ ही अलंकारों की संख्या के विषय में इनमें आपस में साम्य नहीं है। तथापि समग्रतः जैनाचार्यों द्वारा वर्णित अलंकार स्वरूप व भेदों के मूल में आचार्य भामह, दण्डी, रूय्यक, भोज व मम्मट आदि का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रारंभ में अलंकारों का वर्गीकरण शब्दालंकार व अर्थालंकार तक ही सीमित था। तत्पश्चात् उभयालंकार नामक तृतीय वर्ग माना गया तथा संसृष्टि व संकर - इन दो अलंकारों के मिश्रण को लेकर चतुर्थ मिश्रालंकार की भी कल्पना की गई। कालांतर में अर्थालंकारों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में सर्वप्रथम आ. रुद्रट ने एक नवीन दृष्टि से विचार किया, जिसमें अलंकारों के स्वरूप को ध्यान में रखकर उसके मूल में विद्यमान सादृश्य, विरोध, शृंखला आदि को आधार

---

1. काव्यालंकारसार - 6/1-5
2. द्रष्टव्य, वही, 5/1, 6/2

मानकर अलंकारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का प्रयास किया था। उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय व श्लेष, इन चार मूलतत्त्वों को अलंकार-विभाजन का आधार बनाया था।[1]

<u>वास्तवमूलक वर्ग</u> – सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली।[2]

<u>औपम्यमूलक वर्ग</u> – उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण।[3]

<u>अतिशयमूलक वर्ग</u> – पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, अतद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात और अहेतु।[4]

---

1. अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति, निःशेषाः।।
   काव्यालंकार – रूद्रट, 7/9
2. वही, 7/11-12
3. वही, 8/2-3
4. वही, 9/2

श्लेषमूलक वर्ग – अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उचित, असम्भव, अवयव, तत्व और विरोधाभास।[1]

आ० रुय्यक[2] ने अर्थालंकारों को प्रमुखतः 5 वर्गों में विभाजित किया है –(1) सादृश्यमूलक, (2) विरोधमूलक, (3) शृंखलामूलक, (4) विशिष्टवाक्यसन्निवेशमूलक, (5) लोकन्यायमूलक और (6) गूढार्थप्रतीतिमूलक।

जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने[3] अर्थालंकारों को छः वर्गों में विभाजित किया है –(1) अतिशयोक्तिमूलक, (2) विरोधमूलक, (3) शृंखलामूलक, (4) लोकन्यायमूलक और (5) रसवदादि।

§1§ अतिशयोक्तिमूलक – अतिशयोक्ति, सहोक्ति, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, संशय, भ्रान्तिमान, उल्लेख, रूपक, अपह्नुति, परिणाम, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विनोक्ति, परिकर, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, आक्षेप, व्याजस्तुति व श्लेष।

---

1. वही, 10/2
2. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान, पृ० 227
3. द्रष्टव्य, अलंकारमहोदधि,

§2§ <u>विरोधमूलक</u> - विरोध, असंगति, विशेषोक्ति, विभावना, विषम, सम, अधिक, विचित्र, पर्याय, विकल्प, व्याघात, अन्योन्य व विशेष।

§3§ <u>शृंखलामूलक</u> - कारणमाला, सार, एकावली, मालादीपक, काव्यलिंग व अनुमान।

§4§ <u>विशिष्टवाक्यसन्निवेशमूलक</u> - यथासंख्या, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, समुच्चय व समाधि।

§5§ लोकन्यायमूलक - प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त।

§6§ <u>रसवदादि</u> - रसवत्, प्रेयस, उर्जस्वी, समाहित, संसृष्टि व संकर।

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि अतिशयोक्ति वर्ग में आए हुए प्रारंभिक 28 अलंकारों को कोई नाम नहीं दिया है पर उन्हें अतिशयोक्तिमूलक माना है।[1] अपने समर्थन में उन्होंने भामह के काव्यालंकार से एक कारिका उद्धृत की है।[2] शेष वर्गों का विभाजन उन्होंने नामोल्लेखपूर्वक किया है।

---

1. तामेतां सर्वामप्यतिशयोक्तिं वदन्ति विद्वांसो ब्रुवते।
   अलंकारमहोदधि, पृ. 23।

2. सैषा सर्वाऽपि वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।।
   वही, पृ. 23।

आ. नरेन्द्रप्रभसूरि का अलंकार - वर्गीकरण रुय्यक से प्रभावित है।[1] अन्तर मात्र ये है कि रुय्यक ने जिन अलंकारों के मूल में सादृश्य को स्वीकार किया है, वहीं नरेन्द्रप्रभसूरि ने उनके मूल में अतिशयोक्ति को माना है। रुय्यक ने रसवदादि अलंकारों को अवर्गीकृत रक्खा है, किंतु नरेन्द्रप्रभसूरि ने उन्हें रसवदादि की संज्ञा से अभिहित किया है।[2] शेष विवेचन में प्रायः साम्य है।[3]

---

1. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान, पृ. 232
2. वही, पृ. 232
3. वही, पृ. 232

सप्तम अध्याय : नाट्य का समावेश

नाटक संस्कृत साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है। काव्य श्रवणमार्ग से हृदय को आकृष्ट करता है। परन्तु नाटक नेत्रमार्ग से हृदय को चमत्कृत करता है। काव्य में रसानुभूति हेतु अर्थ का समझना नितान्त आवश्यक होता है पर नाटक में इसकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये नाटक की समता चित्र से की गई है। जिस प्रकार चित्र भिन्न-भिन्न रंगों के सम्मिश्रण से सहृदय दर्शकों के चित्त में रस का स्रोत बहाता है, ठीक उसी प्रकार नाटक भी वेशभूषा, नेपथ्य, साजसज्जादि उचित संविधानों से दर्शकों के हृदय पर एक अमिट प्रभाव डालता है तथा उनके हृदय में आनन्द का उदय कराता है। इसीलिये आलंकारिक वामन ने काव्यों में रूपक को विशेष महत्व प्रदान किया है।[1]

नाट्य की उत्पत्ति

वैदिक काल से ही नाट्यकला के उद्भव का ज्ञान होने लगता है। विश्वसाहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में, यत्र-तत्र नाट्यसंबंधी प्रचुर सामग्री विकीर्ण है।

उषा के वर्णन प्रसंग में उसकी उपमा एक नर्तकी से की गई है। पुरूरवा-उर्वशी, यम-यमी, इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि, सरमा-पणि आदि

---

1. काव्यालंकारसारसूत्र 1/330-31

ऋग्वेदोक्त संवादों मे नाट्यकला की यथेष्ट सामग्री विद्यमान है।

मैक्समूलर, लेवी और ओल्डेनबर्ग प्रभृति विद्वानों ने वेदों में प्रयुक्त इस प्रकार के संवादात्मक सूक्तों को आधार मानकर भारतीय नाट्यकला की उत्पत्ति वैदिक युग से ही सिद्ध की है।

ऋग्वेद के बाद यजुर्वेद में नाट्यसंबंधी विचारों का विस्तार से वर्णन मिलता है। यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के एक प्रसंग से अवगत होता है कि यज्ञ के अवसरों पर नृत्य-गीतादि के लिए सूत और शैलूष लोगों की नियुक्ति की जाती थी, जो कि नृत्य एवं संगीत द्वारा नाट्याभिनय करते थे।

परवर्ती साहित्य, अष्टाध्यायी, रामायण, अर्थशास्त्र, बौद्धजातक और महाकाव्यों में हमे नाट्यकला के विभिन्न अंगो, उसके पात्रों व पारिभाषिक शब्दों का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है।

आचार्य भरत जो नाट्य-शास्त्र के निर्माता के रूप में स्मरण किये जाते हैं, उनके अनुसार - ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार पर ही पंचम वेद - नाट्यवेद - की रचना की।[1] इस पंचम वेद में चार अंग पाये जाते हैं -- पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस। इन चारों तत्वों को ब्रह्मा ने क्रमशः ऋक्, साम, यजुष् तथा अथर्ववेद से गृहीत किया।[2]

---

1. नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्
   नाट्यशास्त्र, 1/16
2. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
   यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।
   नाट्यशास्त्र 1/17

इस प्रकार नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यह मत भारतीय परंपरा का है। दूसरा मत उन सभी देशी व विदेशी आधुनिक विद्वानों का है, जिन्होंने लोकनृत्यादि में उसका उत्स खोजा है। पाश्चात्य विद्वान मेक्डोनल नाच से ही नाटक की उत्पत्ति मानते हैं।[1] इसी प्रकार प्रो० पिशेल पुत्तलिका-नृत्य से भारतीय नाटकों की उत्पत्ति मानते हैं।[2]

जैनाचार्यों ने नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया है।

भरतमुनि के उत्तरकाल में नाट्यशास्त्र के आधार पर मुख्यतः तीन नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई - (1) धनंजय द्वारा रचित दशरूपक, (2) सागरनन्दीकृत नाटकलक्षणरत्नकोश, (3) रामचन्द्रगुणचन्द्रकृत नाट्यदर्पण।

नाट्यशास्त्र पर स्वतंत्र ग्रन्थ - लेखन की अविच्छिन्न परम्परा चलने पर भी भामह - दण्डी आदि आचार्यों द्वारा प्रणीत अलंकारशास्त्रों में नाट्य-विषयक सिद्धान्तों का समावेश दृष्टिगत नही होता है, किन्तु संभवतः जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सर्वप्रथम अलंकारशास्त्र के साथ नाट्य - तत्वों का भी समावेश किया है और आगे चलकर इसी परम्परा में विद्यानाथ (14वीं शताब्दी का प्रथम चरण) के "प्रतापरूद्रयशोभूषण", विश्वनाथ (14वीं शताब्दी) के "साहित्यदर्पण" व कामराज दीक्षित (ई. सन् 1700 के लगभग) के "काव्येन्दुप्रकाश" आदि ग्रन्थ आते हैं।

---

1. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर - ए. मेक्डोनल, पृ. 346
2. संस्कृत ड्रामा - कीथ, पृ. 52

जैसा कि पूर्वोल्लिखित है कि चार वेदों में से संवाद, गीत, अभिनय तथा रस के ग्रहण द्वारा नाट्य की रचना हुई। अतः इन विषयों तथा इनसे निकट का सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषय नाट्य के अन्तर्गत आते हैं। यहाँ उन्हीं का विवेचन अभीष्ट है। जहाँ तक रस का प्रश्न है तो उसका स्वतंत्र रूप से विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में किया जा चुका है।

पात्र-विधान - नाटक की आत्मा नाट्य - रस है। उसे प्राण व गति प्रदान करने वाले नाटकीय पात्र, अर्थात् नायक-नायिकादि ही होते हैं, जिनके द्वारा नाट्य-रस आस्वाद्य होता है। नाटकीय पात्र के शील-स्वभाव, आहार-व्यवहार तथा अवस्था एवं प्रकृति की विभिन्नता व विविधता की पृष्ठभूमि में ही नाटकीय कथा पल्लवित होती है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, सरस्वतीकण्ठाभरण व नाट्यदर्पणादि ग्रन्थों में प्रकृति के आधार पर पात्रों का वर्ग किया गया है। प्रकृति का अर्थ है- प्रकृतिजन्यसहजातस्वभाव।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने पुरुषों व स्त्रियों की उत्तम, मध्यम और अधम- इन तीन प्रकृतियों की चर्चा करते हुए केवल गुणमयी प्रकृति को उत्तम, स्वल्पदोष व बहुगुणवाली प्रकृति को मध्यम तथा दोषयुक्त प्रकृति को अधम कहा है। इनमें से अधम प्रकृति में परिगणित किये जाने वाले नायक, नायिका

के अनुचर-विट, चेटी, विदूषक आदि को बतलाया है।[1]

आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र के अनुसार नाटकीय पात्र स्त्री हो या पुरूष, दोनों की उत्तम मध्यम तथा अधम तीन प्रकार की प्रकृति होती है। तथा अपने अपने गुणों के तारतम्य से उनमें से प्रत्येक के फिर तीन-तीन भेद हो सकते हैं।[2] उत्तम प्रकृति का पात्र शरणागतों के रक्षण में साधु, अनुकूल, त्यागी, लोकव्यवहार तथा शास्त्रों मे निपुण, गंभीरता, धीरता, पराक्रम व न्याय विचार से युक्त होता है।[3] जो न तो अधिक उत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न होता है न ही अधिक निकृष्ट गुणों से सम्पन्न होता है तथा लोक-व्यवहार में चतुर कला, विद्वत्ता आदि गुणों से युक्त होता है, वह मध्यम प्रकृति का पात्र होता है।[4] अधम या नीच प्रकृति का पात्र अत्यन्त पाप करने वाला, चुगलखोर, आलसी, कृतघ्न, झगड़ालू, पराक्रम विहीन, स्त्री - निरत व रूक्ष बोलने वाला होता है।[5]

---

1. तत्र तावदुत्तममध्यमाधमभेदेन पुंसां स्त्रीणां च तिस्रः प्रकृतयो भवन्ति।
   तत्र केवलगुणमय्युत्तमा। स्वल्पदोषा बहुगुणा मध्यमा। दोषवत्यधमा।
   तत्राधमप्रकृतयो नायकयोरनुचरा विटचेटीविदूषकादयो भवन्ति।
   काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 406
2. उत्तमा मध्यमा नीचा प्रकृतिर्नृस्त्रियोस्त्रिधा।
   एकैकापि त्रिधा स्व-स्वगुणानां तारतम्यतः।।
   हि. नाट्यदर्पण, 4/3
3. वही, पृ. 370
4. वही, पृ. 370
5. वही, पृ. 370

स्त्री-पात्र भी शील स्वभाव के कारण उत्तमा, मध्यमा व अधमा भेद से तीन प्रकार की होती हैं।[1]

नायक स्वरूप : विभिन्न आचार्यों ने विविध प्रकार से नायक का स्वरूप निरूपित किया है। दशरूपककार धनंजय के अनुसार विनीत आदि गुणों से युक्त नेता (नायक) होता है।[2]

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने नायक को रूपवान, धनवान, कुलीन, अनुद्धत, सत्य और प्रियभाषी तथा सद्गुणों से युक्त व यौवनसम्पन्न बताते हैं। हेमचन्द्राचार्य ने उत्तम व मध्यम प्रकृति वाले नायक का स्वरूप "समग्रगुणः कथाव्यापी नायकः"[3] प्रस्तुत किया है जिसका तात्पर्य यह है कि दशरूपककार द्वारा कथित विनीतादि गुणों व शोभादि 8 सात्त्विक गुणों से युक्त और सम्पूर्ण कथा प्रबन्ध में व्याप्त रहने वाला नायक कहलाता है। इस प्रकार आ. हेमचन्द्र धनंजयकृत स्वरूप के अतिरिक्त नायक को समग्र कथाव्यापी भी मानते हैं।

---

1. हि. नाट्यदर्पण, पृ. 37।
2. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
   रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा।।
   बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
   शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः।।
   दशरूपक 2/1-2
3. काव्यानु, 7/1

आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्रकृत नायक-स्वरूप कुछ विशिष्ट है। उनके अनुसार नायक प्रधान फल को प्राप्त करने वाला, स्त्री आदि के प्रति आसक्ति अथवा प्राण - हानि आदि रूप विपत्ति से रहित होता है।[1]

आचार्य वाग्भट द्वितीय के अनुसार बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, शूरवीरता, गम्भीरता, धैर्य, स्थिरता, माधुर्य, कला, कुशलता, विनयशीलता, कुलीनता, नीरोगिता, शुचिता, अभिमानिता, नायिका - सम्मतता, मिष्टभाषित्व, लोकानुरंजकता, वाग्मिता, उच्चकुलोत्पन्नता, तेजस्विता, दृढ़ता, तत्वशास्त्रज्ञता, अग्राम्यता, शृंगारिता और सुगमता आदि नायक के गुण हैं।[2]

नायक के सात्त्विक गुण : नायक के अन्तर्गत आठ प्रकार के सात्त्विक गुणों की स्थिति होना आवश्यक है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र के अनुसार शोभा, विलास, ललित, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य और तेज - ये आठ सात्त्विक गुण हैं।[3] ये सत्व गुणों से युक्त होने के कारण सात्त्विक गुण कहलाते हैं।[4] आ. हेमचन्द्र के अनुसार इनका स्वरूप निम्न प्रकार है —

(1) शोभा : "दाक्ष्यशौर्योत्साहनीचजुगुप्सोत्तमस्पर्धागमिका शोभा" अर्थात्

---

1. प्रधानफलसम्पन्नो व्यसनी मुख्यनायकः
   हिन्दी नाट्यदर्पण 4/7
2. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ. 62
3. शोभाविलासललितमाधुर्यस्थैर्यगाम्भीर्यौदार्यतेजांस्यष्टौ सत्वजास्तद्गुणाः।।
   काव्यानुशासन, 7/2
4. काव्यानुशासन, 7/2

दक्षता, शौर्य, उत्साह, नीच – जुगुप्सा और उत्तम स्पर्धा का ज्ञान कराने वाला सात्त्विक गुण शोभा है। आशय यह है कि शरीर विकार से जो दक्षता आदि प्राप्त होती है वह शोभा है।

§2§ विलास : "धीरे गतिदृष्टिसस्मितं वचो विलासः"। अर्थात् धीरगति, धीरदृष्टि और मुस्कराते हुए बोलना विलास गुण है।

§3§ ललित : "मृदुः शृङ्गारचेष्टा ललितम्" अर्थात कोमल शृङ्गारिक चेष्टायें ललित गुण हैं।

§4§ माधुर्य : "क्षोभेऽप्यनुल्बणत्वं माधुर्यम्" अर्थात् युद्धनियुद्ध व्यायामादि मे क्रोध आने पर या क्रोध का महान कारण उपस्थित होने पर भी मधुर आकृति होना माधुर्य गुण है।

§5§ स्थैर्य : विघ्नेऽप्यचलनं स्थैर्यम् ।। अर्थात् विघ्न उपस्थित होने पर भी विचलित न होना स्थैर्य गुण है।

§6§ गाम्भीर्य : "हर्षादिविकारानुपलम्भकृद् गांभीर्यम्"।। अर्थात् हर्षादि विकारों का ज्ञान न होना गाम्भीर्य गुण है। आशय यह है कि जिसके प्रभाव से बाहरी हर्ष क्रोधादि के विकार का दृष्टि-विकास, मुखरागादि पर कोई असर नहीं पड़ता है वह देह का स्वभाव ही गाम्भीर्य गुण कहलाता है।

§7§ औदार्य : "स्वपरेषु दानाभ्युपपत्तिसंभाषणान्यौदार्यम्"।। अर्थात् अपने और दूसरे में भेदभाव न कर दान, अनुग्रह और, प्रियभाषण आदि करना औदार्य गुण है।

(8) तेज : "पराधिपक्षेपाद्यसहनं तेजः"।। अर्थात् दूसरे के द्वारा शत्रु द्वारा किए गए अपमान आदि का सहन न करना तेज गुण है।

आ. रामचन्द्रगुणचन्द्र ने भी उपर्युक्त आठ सात्विक गुणों का ही उल्लेख किया है।[1]

उपर्युक्त आठ सात्विक गुणों का ही विवेचन भरतमुनि [2] तथा धनंजय[3] ने भी किया है। इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित सात्विक गुणों का विवेचन भी परंपरागत ही है।

दशरूपककार ने नायक के भेदों की चर्चा के बाद सात्विक गुणों पर विचार किया है और आचार्य हेमचन्द्र ने गुणों एवं सात्विक गुणों की चर्चा करने के बाद नायक के भेदों का प्रतिपादन किया है।

नायक के भेद : जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने नायक के चार भेद माने हैं - अनुकूल, दक्षिण, शठ व धृष्ट। उनके अनुसार जिसका प्रेम नीलवर्ण के समान गाढ़ हो तथा जो अन्य स्त्री मे रत न हो व अनुकूल नायक कहलाता है। और अन्य

---

1. तेजो विलासो माधुर्यं शोभा स्थैर्यं गंभीरता।
   औदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्वजाः।।
   हि. नाट्यदर्पण 4/8
2. नाट्यशास्त्र, 24/31-39
3. दशरूपक 2/10

स्त्री मे अनुरक्त तो हो, किन्तु अपनी स्त्री पर भी स्नेह रखता हो वह दक्षिण नायक कहलाता है। जो बहिर्भूत क्रोधादि विकारों से रहित हो तथा अपनी पत्नी का अप्रिय करता हुआ भी प्रिय बोलता हो, वह नायक शठ कहलाता है। और जिसका अपराध प्रकट हो चुका हो तथा अपमानित होने पर भी जो लज्जित न हो, वह धृष्ट नायक कहलाता है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार प्रमुखतया नायक चार प्रकार के होते हैं— धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत।[2]

§1§ धीरोदात्त : विनययुक्त(गूढगर्व), स्थिर, धीर, क्षमावान्, आत्म-प्रशंसारहित, शक्तिशाली और दृढ़प्रतिज्ञ धीरोदात्त नायक कहलाता है।[3] जैसे- राम आदि।

§2§ धीरललित : ललित कलाओं में आसक्त, सुखी, श्रृंगारिक चेष्टाओं वाला, कोमल हृदय वाला और निश्चिन्त रहने वाला धीरललित नायक कहलाता है।[4] जैसे - वत्सराज आदि।

§3§ धीरशान्त : विनय और शान्त स्वभाव वाला धीरशान्त नायक कहलाता है।[5] जैसे माधव और चारूदत्त।

---

1. वाग्भटालंकार, 5/8-10
2. धीरोदात्तललितशान्तोद्धतभेदात् स चतुर्धा।
   काव्यानुशासन, 7/11
3. गूढगर्वः स्थिरो धीरः क्षमावानविकत्थनो महासत्वो दृढव्रतो धीरोदात्तः
   वही. 7/12
4. कलासक्तः सुखी शृङ्गारी मृदुर्निश्चिन्तो धीरललितः
   वही. 7/13
5. विनयोपशमवान् धीरशान्तः

§4§ <u>धीरोद्धत</u> : शूरवीर, ईर्ष्यालु, मायावी अर्थात् मन्त्रादि के बल से अविद्यमान वस्तु का प्रकाशन करने वाला, छलकपट करने वाला, रौद्र और शौर्यादि मद से युक्त धीरोद्धत नायक कहलाता है।[1] जैसे – परशुराम, रावणादि।

इन चार प्रकार के नायकों की पुष्टि हेतु आचार्य हेमचन्द्र ने भरतमुनि की निम्न दो कारिकायें प्रस्तुत की हैं –

"देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता नृपाः।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ।।
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा।
इति चत्वार एवेह नायकाः समुदाहृताः।।[2]

इसके बाद उपर्युक्त चारों प्रकार के नायक की श्रृंगारिक अवस्थाओं के आधार पर दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ – ये चार – चार भेद बतलाये गये हैं —

§1§ <u>दक्षिण</u> : "ज्येष्ठायामपि सहृदयो दक्षिणः" अर्थात् कनिष्ठा नायिका में अनुरक्त रहते हुये ज्येष्ठा के प्रति भी सहृदयी दक्षिण नायक कहलाता है।

§2§ <u>धृष्ट</u> : "व्यक्तापराधो धृष्टः" अर्थात् जिसका अपराध स्पष्ट हो गया हो वह धृष्ट नायक कहलाता है।

§3§ <u>अनुकूल</u> : "एकभार्योऽनुकूलः" अर्थात् एक नायिका में अनुरक्त अनुकूल नायक होता है।

---

1. "शूरो मत्सरी मायी विकत्थनश्छद्मवान रौद्रोऽवलिप्तो धीरोद्धतः। काव्यानु. 7/15
2. वही, वृत्ति, पृ. 411

(4) शठ : "गूढापराधः शठः अर्थात् गूढ (भारी) अपराध करने वाला नायक शठ है।

उपर्युक्त नायक भेदों के लक्षण दशरूपककार से लगभग मिलते-जुलते हैं।[1] आ. हेमचन्द्र ने नायक के भेदों का निरूपण जो दिया है वह परम्परागत ही है। वे सर्वप्रथम नायक को चार प्रकार का बतलाकर प्रत्येक के चार-चार भेदों को यथावत् स्वीकार करते है। इस प्रकार उन्हें नायक के 16 भेद मान्य हैं।[2] दशरूपककार ने इन 16 भेदों के ज्येष्ठ, मध्यम और अधम भेद से 48 भेद बतलाये हैं।[3] इस दृष्टि से भी आ. हेमचन्द्र से समानता है क्योंकि वे भी पुरूष और स्त्रियों की उत्तम, मध्यम और अधम - ये तीन प्रकृतियां मानते ही हैं। यदि इन तीनों प्रकृतियों के पृथक - पृथक 16-16 भेद मान लिये जायें तो 48 भेद हो ही जाएंगे और दोनो आचार्यों में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। लेकिन दशरूपककार की भांति काव्यानुशासनकार ने ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।

आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र के अनुसार भी नायकों के धीर विशेषण से युक्त उद्धत, उदात्त, ललित और प्रशांत अर्थात्, धीरोद्धत, धीरोदात्त,

---

1. तुलनीय - दशरूपक 2/3-7
2. "स इति नायकः। धीरशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। तेन धीरोदात्तो धीरललितो धीरशान्तो धीरोद्धत इति। दक्षिणधृष्टानुकूलशठभेदादेकैकश्चतुर्धा। एते श्रृंगार-रसाश्रयिणो भेदाः। इति षोडशभेदा नायकस्य।
   काव्यानु. वृ. पृ. 410
3. दशरूपक, 2/7, वृत्ति, पृ. 92

धीरललित व धीरप्रशांत चार प्रकार के स्वभाव होते हैं। ये स्वभाव केवल मध्यम तथा उत्तम दो रूपों में ही वर्णन करने चाहिए।[1]

नाट्यदर्पणकार के अनुसार पूर्वोक्त चार नायकों में से देवता धीरोद्धत स्वभाव सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त स्वभाव वणिक् तथा ब्राह्मण धीरप्रशान्त स्वभाव तथा क्षत्रिय चारों प्रकार के स्वभाव वाले हो सकते हैं।[2] आगे वे लिखते हैं कि जो विप्र परशुराम के अतिक्रूरत्व को सूचित करने के लिये धीरोद्धतत्व का वर्णन किया गया है वह "कहीं कार्यवश अर्थात् विशेष प्रयोजन से भाषा - प्रकृति और वेषादि विषयक नियमों का उल्लंघन भी किया जा सकता है" इस अपवाद के विद्यमान होने से अनुचित नहीं है। देवताओं का यह धीरोद्धत स्वभाव का नियम मनुष्यों की दृष्टि से है, अपनी दृष्टि से नहीं। क्योंकि देवताओं में भी शिव आदि धीरोदात्त तथा ब्रह्मा आदि धीरशान्त नायक भी दृष्टिगत होते हैं। कारिका में उक्त "राजानः" पद से राजा का ही ग्रहण न करके क्षत्रियजाति मात्र का ग्रहण करना चाहिए। और "राजानः" पद में बहुवचन के प्रयोग से व्यक्ति-भेद से नाटक के नेता चारों प्रकार के स्वभाव वाले हो सकते हैं, एक व्यक्ति में चारों प्रकार के स्वभाव नहीं हो सकते यह बात सूचित की है। क्योंकि एक व्यक्ति में ही चारों प्रकार के स्वभाव का वर्णन

---

1. उद्धतोदात्त - ललित - शान्ता धीरविशेषणाः।
   वर्ण्याः स्वभावाश्चत्वारो नेतॄणां मध्यमोत्तमाः।।
   हि. नाट्यदर्पण 1/6

2. देवा धीरोद्धता, धीरोदात्ताः, सैन्येश - मन्त्रिपः।
   धीरशान्ता वणिग् - विप्राः, राजानस्तु चतुर्विधाः।।
   वही. 1/7

कर सकना असम्भव है। और यह नियम अर्थात् चारों प्रकार के स्वभाव का एक व्यक्ति में वर्णन नहीं किया जा सकता है केवल प्रधान नायक के विषय में ही है। गौण नायकों में तो पूर्व - स्वभाव को छोड़कर अन्य स्वभाव का वर्णन भी किया जा सकता है। जो नाटक के नायक को केवल धीरोदात्त ही मानते हैं वे भरतमुनि के सिद्धान्त को नहीं समझते हैं। और नाटकों में धीरललित आदि नायकों के भी पाए जाने से कवियों के व्यवहार से अपरिचित प्रतीत होते हैं।[1] अर्थात् भरतमुनि के सिद्धान्त तथा कवियों के व्यवहार दोनो के अनुसार नाटकों मे चारों प्रकार के नायकों का चित्रण किया जा सकता है। केवल धीरोदात्त ही नायक हो ऐसा बंधन नहीं है।

इसके पश्चात् धीरोद्धत आदि का अर्थ बतलाते आ. रामचन्द्रगुणचन्द्र लिखते हैं कि धीरोद्धत नायक अस्थिर - चित्त, भयंकर, अभिमानी, छली, आत्म - श्लाघी, धीरोदात्त नायक अत्यन्त गम्भीर, न्यायप्रिय, शोक - क्रोध आदि के वशीभूत न होने वाला, क्षमाशील और स्थिर, धीरललित नायक श्रृंगार प्रिय, गीत, वाद्यादि कलाओं का प्रेमी, राज्यभार को मंत्री को सौंपकर निश्चिंत हो जाने वाला सुखी व कोमल स्वभाव का तथा धीरप्रशान्त नायक सर्वथा अहंकाररहित, दयालु, विनयशील व नीति का अवलम्बन करने वाला होता है।[2] आ. रामचन्द्रगुणचन्द्र के अनुसार ये धर्म

1. हि. नाट्यदर्पण, वृत्ति, पृ. 27

2. धीरोद्धतश्चलश्चण्डो दर्पी दम्भी विकत्थनः।
धीरोदात्तोऽतिगम्भीरो न्यायी सत्वी क्षमी स्थिरः॥
श्रृंगारी धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः।
धीरशान्तोऽनहंकारः कृपालुर्विनयी नयी ॥

हि. नाट्यदर्पण 1/8-9

केवल उपलक्षणमात्र हैं। इसलिये औचित्य के अनुसार धीरोद्धत आदि नायकों में अन्य धर्म भी समझ लेने चाहिए।[1]

मध्यम तथा उत्तम के नायकत्व का कथन करने के साथ - साथ आ. रामचन्द्रगुणचन्द्र यह भी स्पष्टरूपेण लिखते हैं कि इतिवृत्त के अनुरूप "भाण" और प्रहसन" में तथा किसी वीथी में हास्यरस पूर्ण कथानक होने से वहाँ अधम प्रकृति का भी नायक होता है।[2] जैसे - विदूषक, क्लीब, शकार, विट, किंकर आदि। ये सब नीच प्रकृति के पात्र होते हैं।[3]

आ. वाग्भट द्वितीय ने नायक के धीरोदात्त आदि चार भेद किये हैं। पुनः धीरललित के अनुकूल आदि चार भेद किए हैं।[4] इनके लक्षण आ. हेमचंद्र सम्मत ही हैं। किंतु जहाँ पूर्वाचार्यों ने धीरोदात्तादि चार नायकों के अनुकूल आदि चार-चार उपभेद किए हैं, वहीं वाग्भट द्वितीय ने केवल धीरललित के ही अनुकूल आदि चार भेद माने हैं।

इस प्रकार नायक-भेदों के मूल में आ. भरत तथा दशरूपककार के विभाजन को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है।

---

1. उपलक्षणमात्रं चैतत्, तेनोद्धतादीनां यथौचित्यमपरेऽपि धर्मा द्रष्टव्या इति।
   वही, वृ. पृ. 28
2. नीचोऽपीशः कथावशात्।
   हि. नाट्यदर्पण 4/7 पूर्वार्द्ध
3. वही, 4/14
4. काव्यानुशासन - वाग्भट, पृ. 61

<u>अन्य नायक</u> : दशरूपककार ने मुख्य नायक के अतिरिक्त पताका नायक (जिसे "पीठमर्द" कहते हैं), गौण नायक (पताका व प्रकरी नायक) व प्रतिनायक भेद स्वीकार किये हैं।

जैनाचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है। उनके अनुसार मुख्य नायक की अपेक्षा कुछ कम कथाभाग वाला अमुख्य नायक कहलाता है।[1] प्रधान फल की अपेक्षा अवान्तर अमुख्य फल का पात्र होने से इसे 'अमुख्य' कहा गया है। तथा बहुत बड़े कथाभाग में व्यापक होने से तथा नायक के सहायक के रूप में होने से उसका नायकत्व होता है।[2] जैनाचार्य वाग्भट द्वितीय ने नायक के गुणों से युक्त तथा नायक के अनुचर को पीठमर्द कहा है।[3]

<u>प्रतिनायक</u> : काव्य में नायक के पश्चात् सर्वाधिक प्रभावशाली पात्र प्रतिनायक होता है नायक की भांति यह भी सम्पूर्ण कथावस्तु में आद्योपान्त दृष्टिगोचर होता है। नायक का प्रतिद्वन्दी होने से यह उसकी अभीष्ट सिद्धि में पदे-पदे बाधक बनता है और नायक को सक्रिय बनाये रहता है। कथावस्तु को आगे बढ़ाने मे उसकी भूमिका अपरिहार्य है। धनंजय के लक्षण[4] के समान आ. हेमचन्द्र ने भी प्रतिनायक का स्वरूप प्रस्तुत किया है - "व्यसनी पापकृल्लुब्धः स्तब्धो धीरोद्धतः प्रतिनायकः" अर्थात् व्यसनी, पापी,

---

1. अमुख्यो नायकः किंचिदूनवृत्तोऽग्र्यनायकात्।
   हि. नाट्यदर्पण, 4/13 पूर्वार्द्ध
2. वही, विवृति, पृ. 375
3. काव्यानु. वाग्भट, पृ. 62
4. तुल0- "लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः।
   दशरूपक 2/9

लोभी, स्तब्ध गतिहीन अथवा कठोरहृदयी और धीरोद्धत प्रतिनायक कहलाता है। जैसे – राम का प्रतिनायक रावण और युधिष्ठिर का प्रतिनायक दुर्योधन है।

अन्य सहायकपात्र : उक्त के अतिरिक्त प्रधान नायक के सहायक अन्य पुरूष पात्र भी होते हैं। इनमें से जैनाचार्यों ने विदूषक, शकार, विट व नर्मसचिव का उल्लेख किया है।

विदूषक : नाटकादि में प्रधान नायक के मनोरंजन हेतु विविध प्रसंगो में अपने वेशभूषा, हाव-भाव अथवा भाषा- वैचित्र्य के द्वारा जो हास्य उपस्थित करता है वह विदूषक कहलाता है। आ. धनंजय के अनुसार नाटकादि में हास्य को उत्पन्न करने वाला विदूषक है।[1] आ. रामचन्द्रगुणचन्द्र का कथन है कि विदूषक राजा के हास्य के लिए होता है। इसका हास्य अंग, वेशभूषा व वचनों के भेद से तीन प्रकार का होता है।[2] आ. वाग्भट द्वितीय के अनुसार मनोरंजन करने वाला विदूषक कहलाता है।[3] इसप्रकार जैनाचार्यों के विदूषक-स्वरूप पर धनंजय का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

शकार : आ. रामचन्द्रगुणचन्द्र के अनुसार विकृत हास्य के निमित्त राजा का नीचजातीय साला "शकार" कहलाता है।[4]

---

1. दशरूपक, 2/9
2. हि. नाट्यदर्पण, 4/14 विवृति
3. काव्यानु. वाग्भट, पृ. 62
4. हि. नाट्यदर्पण, 4/14 विवृति

<u>विट</u> : दशरूपककार ने विट को एक विद्या में निपुण माना है।[1] उन्हीं का अनुसरण करते हुए आ. रामचन्द्रगुणचन्द्र ने राजा के उपयोगी नृत्य गीतादि किसी एक के ज्ञाता को विट कहा है।[2] आ. वाग्भट द्वितीय ने भी एक विद्या में निपुण को विट कहा है।[3]

<u>नर्मसचिव</u> : कुपित स्त्री को प्रसन्न करने वाला नर्मसचिव कहलाता है।[4]

<u>नायिका स्वरूप</u> : काव्य में जो स्थान नायक का होता है वही स्थान नायिका का भी होता है। नायक की भांति नायिका भी सम्पूर्ण कथावस्तु में व्याप्त रहती है। आशय यह है कि काव्य में नायक - नायिका का समान महत्व है।

दशरूपककार धनंजय ने नायकगत गुणों से युक्त स्त्री को नायिका कहा है।[5] उन्हीं का अनुकरण करते हुए आ. हेमचन्द्र ने लिखा है कि नायकगत विनयादि गुणों से युक्त नायिका कहलाती है।[6] आशय यह है कि जिन गुणों से युक्त नायक होता है, उन्हीं से युक्त नायिका भी होती है।

---

1. दशरूपक, 2/9
2. हि. नाट्यदर्पण, 4/14 विवृति
3. काव्यानु. वाग्भट, पृ. 62
4. तत्र कुपित स्त्रीप्रसादको नर्मसचिवः।
   काव्यानु, वाग्भट, पृ. 62
5. दशरूपक, 2/15
6. काव्यानु. 7/21

<u>नायिका-भेद</u> : जैनाचार्य वाग्भट प्रथम ने नायिका के चार भेद माने हैं- अनूढा (अविवाहिता), स्वकीया, परकीया व सामान्या। उन्होंने इनके लक्षण इस प्रकार दिये हैं-

अनूढा - नायक में अनुरक्त जो नायिका नायक के द्वारा स्वयं स्वीकार की जाती है, वह अनूढा कहलाती है। यथा - राजा दुष्यन्त की शकुन्तला अनूढा नायिका है।[1]

स्वकीया - क्षमावान्, अतिगम्भीर प्रकृतिवाली, घोर चरित्रवान तथा देवता एवं गुरूजनों की साक्षीपूर्वक ग्रहण की गई स्वकीया नायिका है।[2]

परकीया - परकीया भी अनूढा की तरह होती है, किन्तु उन दोनों में तात्त्विक भेद है। परकीया काम के वशीभूत होकर स्वयं प्रिय से अपना अभिप्राय प्रकट करती है व अनूढा सखियों के माध्यम से।[3]

वेश्या (सामान्या) - ठगने में चतुर व सर्वसाधारण की स्त्री वेश्या कहलाती है, उसका धन देने वाले के अतिरिक्त अन्य कोई प्रिय नहीं होता है।[4]

---

1. वाग्भटालंकार, 5/12
2. वही, 5/13
3. वही, 5/14
4. वही, 5/15

आ. हेमचन्द्र ने दशरूपककार की भाँति नायिका के भेद-प्रभेदों का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम नायिका के तीन भेद बताये हैं – स्वकीया, परकीया और सामान्या।[1]

स्वकीया नायिका : दशरूपककार के अनुसार शील, आर्जव आदि से युक्त स्वीया नायिका कहलाती है।[2] आ. हेमचन्द्र ने इसके साथ 'स्वयमूढा' विशेषण भी जोड़ा है[3] तथा आदिपद से आर्जव, लज्जा, गृहाचार निपुणता आदि का ग्रहण किया है।[4] दोनों ही आचार्यों ने स्वकीया नायिका के तीन भेद – मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा बतलाये हैं। आ. हेमचन्द्र ने अवस्था और कौशल के आधार पर ये भेद माने हैं। उन्होंने लिखा है — "वयः कौशलाभ्यां मुग्धा मध्या प्रौढेति सा त्रेधा" अर्थात् अवस्था और कामकला में निपुणता के आधार पर स्वकीया नायिका तीन प्रकार की होती है- मुग्धा, मध्या और प्रौढा। पुनः मध्या और प्रौढा के तीन-तीन प्रकार बतलाये हैं- धीरा, धीराधीरा और अधीरा।[5] इन छहों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेद से बारह भेद हो जाते हैं।[6] प्रथम परिणीता को ज्येष्ठा

---

1. सा च स्वकीया, परकीया, सामान्या चेति त्रिधा।
   काव्यानु. वृ. पृ. 413
2. मुग्धामध्याप्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्।
   दशरूपक 2/15
3. स्वयमूढा शीलादिमती स्वा।
   काव्यानु. 7/22
4. वही, वृत्ति, पृ. 413
5. धीराधीराधीराऽधीराभेदादन्त्ये त्रेधा। वही 7/24
6. षोढापि ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदाद् द्वादशधा। वही, 7/25

और पश्चात् परिणीता को कनिष्ठा कहा गया है।[1] मध्याधीरा उपहासपूर्ण कुटिलवाणी से, मध्याधीराधीरा तानें मार कर रोती हुई और मध्या अधीरा कठोरवाणी के द्वारा अपना क्रोध अभिव्यक्त करती है।[2] इसीप्रकार प्रौढ़ाधीरा नायिका उपचार और अवहित्था के द्वारा प्रौढ़ाधीराधीरा अनुकूलता और उदासीनता के द्वारा तथा प्रौढ़ा अधीरा संतर्जन अर्थात् मारपीट कर एवं आघात के द्वारा अपना क्रोध व्यक्त करती है।[3] यह विवेचन प्राय: धनंजय की भांति है।

<u>परकीया नायिका:</u> परकीया नायिका दो प्रकार की होती है- किसी दूसरे की परिणीता स्त्री और कन्या (अविवाहिता)[4] अवरूद्ध को भी परस्त्री ही कहा जाता है। परकीया नायिका अंगीरस में उपकारिणी नहीं होती है इसलिये आ॰ हेमचन्द्र ने इस पर कोई विचार नहीं किया है।[5]

<u>सामान्या नायिका:</u> तीसरी श्रेणी की नायिका साधारणस्त्री है। यह गणिका होती है, जो कलाचतुर, प्रगल्भा तथा धूर्त होती है।[6] आ॰ हेमचन्द्र ने भी गणिका को ही सामान्या कहकर प्रतिपादित किया है।[7]

---

1. "तत्र प्रथमसूढा ज्येष्ठा पश्चादूढा कनिष्ठा।
   काव्यानु॰ वृत्ति॰ पृ॰ 415
2. सोत्प्रकास क्रोधत्या सबाष्पया वाक्पारूष्येण क्रोधिन्यो मध्या धीराधा:।
   वही, 7/26
3. उपचारावहित्थाभ्यामानुकूल्योदासिन्याभ्यां संतर्जनाघाताभ्यां प्रौढा धीराधा: वही, 7/27
4. परोढा परस्त्री कन्या च। वही, 7/28
5. अवरूद्धापि परस्त्रीत्युच्यते। वही, वृ॰ पृ॰ 417
6. साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक्। वही, 2/21
7. गणिका सामान्या। काव्यानु॰ 7/29

आ. रामचन्द्रगुणचन्द्र के अनुसार कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया व वेश्या चार प्रकार की नायिका होती हैं। उनमें से अन्तिम अर्थात् वेश्या नायिका ललितोदात्त ही होती है और प्रथम अर्थात कुलजा नायिका उदात्त होती है। शेष दोनों दिव्या और क्षत्रिया धीरा, ललिता व उदात्ता तीन प्रकार की होती है।[1] धीरप्रशान्त नायक के समान धीरशान्त नायिका वर्णनीय नहीं होती है।

इन नायिकाओं के विशेष भेद को बताते हुए नाट्यदर्पणकार लिखते हैं कि – प्रहसन से भिन्न रूपकों में गणिका नायिका अनुरागिणी ही निबद्ध करनी चाहिए। जैसे मृच्छकटिक में चारुदत्त की वसन्तसेना अनुरागिणी नायिका है। प्रहसन में अनुराग रहित गणिका नायिका भी हो सकती है। राजा और दिव्य नायकों के साथ गणिका नायिका का वर्णन नहीं करना चाहिए। कहीं – कहीं यह गणिका नायिका यदि दिव्य हो तो उसका राजा के साथ सम्बन्ध वर्णन हो सकता है।[2] जैसे – उर्वशी पुरूरवा की नायिका है।

इन कुलजादि नायिकाओं में से प्रत्येक के मुग्धा, मध्या व प्रगल्भा तीन-तीन भेद होते हैं।[3] कुल मिलाकर बारह भेद हो जाते हैं।

---

1. नायिका कुलजा दिव्या क्षत्रिया पण्यकामिनी।
   अन्तिमा ललितोदात्ता पूर्वोदात्ता त्रिधा परे।।
   हि. नाट्यदर्पण 4/19
2. रागिण्येवाप्रहसने नृपे दिव्ये च न प्रभौ।
   गणिका क्वापि दिव्यात्तु भवेदेषा महीभुजः।।
   हि, नाट्यदर्पण 4/20
3. मुग्धा मध्या प्रगल्भेति त्रिविधाः स्युरिमाः पुनः । वही, 4/21 पूर्वार्द्ध

इनमें यौवन तथा काम के उठाव पर स्थित स्वल्प मान वाली सुरत व्यापार में प्रतिकूल नायिका मुग्धा कहलाती है।[1]

मध्यम आयु, मध्यम काम और मध्यम मान वाली सुरतकाल में मूर्च्छा पर्यन्त पहुँच जाने वाली मध्या नायिका होती है।[2] यह धीरा, अधीरा व धीराधीरा भेद से तीन प्रकार कीहोती है।[3] उनमें से प्रिय के अन्यस्त्री सम्बन्धरूप अपराधयुक्त होने पर व्यंग्यपूर्ण ताने देने वाली धीरा, रोते हुए कठोर वचन कहने वाली अधीरा व रोते हुए व्यंग्य तथा कठोर ताने सुनाने वाली धीराधीरा होती है।[4]

पूर्णरूप से दीप्त आयु, मान तथा काम वाली तथा प्रिय के स्पर्शमात्र से आनंदातिरेक से मूर्छित हो जाने वाली प्रगल्भा नायिका कहलाती है।[5] यह भी मध्या के समान धीरा, अधीरा व धीराधीरा भेद से तीन प्रकार की होती है। इनमें से धीरा प्रिय के अपराधी होने पर अपने आकार को छिपाते हुए प्रिय के प्रति आदर प्रदर्शित करती है पर

---

1. मुग्धा वामा रते स्वल्पमाना रोद्वयः — स्मरा।।
   वही, 4/21
2. मध्या मध्यवयः काम-माना मूर्छान्तमोहना।
   वही, 4/22 पूर्वार्द्ध
3. एषा च धीरा अधीरा धीराधीरा चेति त्रिधा।
   वही, वृत्ति, पृ. 380
4. वही, पृ. 380
5. प्रगल्भेद्वयो — मन्यु — कामा स्पर्शेऽप्यचेतना।।
   वही, 4/22

सुरत व्यापार में उदासीन हो जाती है। अधीरा प्रिय को डाँट फटकार करती है व ताडन तक करती है। धीराधीरा व्यंग्यपूर्ण ताने सुनाती है।[1] इस प्रकार नाट्यदर्पणकार ने नाट्योपयोगी दृष्टि से नायिका का विभाजन करते हुए भरत नाट्यशास्त्र की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

आ. वाग्भट द्वितीय ने हेमचन्द्राचार्य के समान नायिका की स्वकीया, परकीया व सामान्या तीन भेद किए हैं।[2] पुनः उन्होंने केवल स्वकीया के ही मुग्धा, मध्या व प्रौढा तीन भेद किए हैं।[3] तत्पश्चात् परकीया के दो भेद किए हैं - परस्त्री व कन्या।[4]

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त शृंगारिक अवस्था को भी आधार मानकर प्रायः सभी आचार्यों ने नायिका - भेद प्रस्तुत किए हैं।

आ. हेमचन्द्र ने भरतमुनि [5] और धनंजय[6] की भांति अवस्था भेद से स्वकीया नायिका की 8 अवस्थाओं का प्रतिपादन किया है-

---

1. वही, पृ. 381
2. नायिका त्रिधा - स्वकीया परकीया सामान्या च।
   काव्यानु. वाग्भट पृ. 62
3. मुग्धा-मध्या प्रौढाभेदेन त्रिधा स्वकीया ।
   वही, पृ. 62
4. परकीया परस्त्री कन्या च ।
   वही, पृ. 62
5. नाट्यशास्त्र 24/203-204
6. दशरूपक, 2/24-27

स्वाधीनपतिका, प्रोषितभर्तृका, खण्डिता, कलहान्तरिता, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, विप्रलब्धा और अभिसारिका।[1]

§1§ <u>स्वाधीनपतिका</u> : "रतिगुणाकृष्टत्वेन पार्श्ववर्तित्वात् स्वाधीन आयत्तः पतिर्यस्याः सा तथा" अर्थात् रति गुण में आकृष्ट होने से जिसका पति समीप और अधीन रहता है ऐसी नायिका स्वाधीनपतिका कहलाती है।

§2§ <u>प्रोषितभर्तृका</u> : "कार्यतः प्रोषितो देशान्तरं गतो भर्ता यस्याः सा तथा" अर्थात् जिसका प्रति किसी कार्य विशेष से देशान्तर में चला गया हो, वह प्रोषित भर्तृका कहलाती है।

§3§ <u>खण्डिता</u> : वनितान्तरव्यासङ्गादनागते प्रिये दुःखसंतप्ता खण्डिता" अर्थात् दूसरी स्त्री के साथ रमण करने से अनागत प्रिय में सन्तप्त खण्डिता नायिका कहलाती है।

§4§ <u>कलहान्तरिता</u> : ईर्ष्याकलहेन निष्क्रान्तभर्तृकत्वात्तत्संगमसुखेनान्तरिता कलहान्तरिता" अर्थात् ईर्ष्या और कलह के द्वारा पति को निकाल देने वाली पुनः उसके समागम से सुखी होने वाली कलहान्तरिता नायिका कहलाती है।

---

1. काव्यानु. 7/30

§5§ <u>वासकसज्जा</u> : "इति नयेन वासके रतिसंभोगलालसतयाङ्गरागादिना सज्जा प्रगुणा वासकसज्जा" अर्थात् प्रिय आगमन को सुनकर रति-संभोग की लालसा से अपने को अंगरागादि के द्वारा सजाने वाली वासकसज्जा कहलाती है।

§6§ <u>विरहोत्कण्ठिता</u> : "प्रियंमन्या चिरयति भर्तरि विरहोत्कण्ठिता" अर्थात् प्रिय के अपराध न करने पर भी मात्र विलम्ब के कारण बेचैन रहती है अथवा चिरकाल तक पति को अन्य में प्रिय मानकर विरह से उत्कण्ठित रहने वाली विरहोत्कण्ठिता कहलाती है।

§7§ <u>विप्रलब्धा</u> : "दूतीमुखेन स्वयं वा संकेतं कृत्वा केनापि कारणेन वंचिता विप्रलब्धा अर्थात् दूती मुख से अथवा स्वयं संकेत करके किसी कारणवश नायक के मिलन से वंचित रहने वाली विप्रलब्धा कहलाती है।

§8§ <u>अभिसारिका</u> : "अभिसरत्यभिसारयति वा कामार्ता कान्तमित्यभिसारिका" अर्थात् जो स्वयं अभिसरण करती है या नायक को अपने पास बुलाकर अभिसरण कराती है वह काम से पीड़ित अभिसारिका नायिका कहलाती है।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने व्युत्पत्ति द्वारा ही आठों प्रकार की नायिकाओं के अर्थ स्पष्ट कर दिये हैं, अलग से लक्षण नहीं किये हैं। इन्हें ही उनके लक्षण समझना चाहिए। ये आठ अवस्थायें स्वकीया नायिका की हैं।

इनमें से अन्तिम तीन अवस्थाओं को परस्त्री नायिका की भी जानना चाहिये।[1] क्योंकि संकेत से पूर्व वह विरह के लिये उत्कंठित रहती है, बाद मे विदूषकादि के द्वारा अभिसरण करती है और किसी कारणवश संकेत स्थल पर नायक को न पाकर विप्रलब्ध रहती है। अतः ये तीनों अवस्थायें स्वकीया और परकीया दोनों की होती हैं।[2]

जैनाचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र[3] व वाग्भट द्वितीय[4] ने भी नायिका के उक्त आठ भेदों का उल्लेख इसी रूप में किया है।

प्रतिनायिका – काव्य में प्रतिनायक के समान प्रतिनायिका भी महत्व है। यह नायिका की प्रतिपक्षिनी होती है तथा प्रायः प्रधान नायिका के प्रणय-व्यापार में बाधक बनती है। अतः प्रधान नायिका द्वारा अनेक कष्टों को प्राप्त करती है। यह कथावस्तु को आगे बढ़ाने में सहायक होती है। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रतिनायिका का स्वरूप निरूपण करते हुये लिखा है – "ईर्ष्याहेतुः सपत्नी प्रतिनायिका" अर्थात् ईर्ष्या के कारणभूत सौत (सपत्नी) प्रतिनायिका कहलाती है। जैसे रूक्मिणी की सत्यभामा है। आचार्य हेमचन्द्र ने नायिका की केवल प्रतिनायिका का स्वरूप प्रस्तुत किया है। क्योंकि दूती आदि तो लोक में प्रसिद्ध ही हैं। अतः उनका निरूपण नहीं किया है।[5]

---

1. अन्त्यत्र्यवस्था परस्त्री।
   काव्यानुशासन, 7/31
2. वही, वृत्ति, पृ. 421
3. हि. नाट्यदर्पण, 4/23-26
4. काव्यानुशासन – वाग्भट, पृ. 63
5. "दूत्यश्च नायिकानां लोकसिद्धा एवेति नोक्ताः।
   काव्यानु. वृत्ति, पृ. 421

नायिकाओं के अलंकार : सामान्यतः स्त्रियों के 20 अलंकार माने गये हैं जो सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण सत्त्वज कहलाते हैं। ये नारी के सौन्दर्य के निखारने में सहायक होते हैं। यहाँ स्त्रीगत भावभंगिमा को ही अलंकार शब्द से अभिहित किया गया है। दशरूपककार ने स्त्रियों में यौवनावस्था में सत्त्वज स्वाभाविक जिन 20 अलंकारो को कहा है[1], उन्हीं को आ. हेमचन्द्र ने भी प्रतिपादित किया है। आ. हेमचन्द्र के अनुसार स्त्रियों के सत्त्व से उत्पन्न बीस अलंकार होते हैं।[2] उन्होंने सत्त्व की व्याख्या करते हुये लिखा है कि जो संवेदन रूप से विस्तार को प्राप्त हो तथा अन्य देहधर्मता से ही स्थित हो वह सत्त्व कहलाता है।[3] अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने "देहात्मकं भवेत् सत्त्वं" इस भरत-वचन को प्रस्तुत किया है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार ये अलंकार सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण सत्त्वज कहलाते हैं, राजस और तामस प्रकृतिवाले शरीरों में इनका होना असंभव है। चाण्डालिनों में भी रूप और लावण्य दिखाई देते हैं किन्तु चेष्टादि अलंकार नहीं, और यदि उनमें चेष्टादि अलंकार होते भी हैं तो उत्तमता के ही सूचक है। अलंकार मात्रदेहनिष्ठ होते हैं, चित्तवृत्तिरूप नहीं। वे युवावस्था में स्पष्ट दिखाई देते हैं। बाल्यावस्था में वे अनुत्पन्न रहते हैं और वृद्धावस्था में तिरोहित हो जाते हैं। यद्यपि ये अलंकार पुरुषों के भी होते है, तथापि

---

1. दशरूपक, 2/30-33
2. सत्त्वजा विंशतिः स्त्रीणामलंकाराः
   काव्यानुशासन, 7/33
3. संवेदनरूपात् प्रसृतं यत्ततोऽन्यद्देहधर्मत्वेनैव स्थितं सत्त्वम्।
   वही, वृत्ति, पृ. 425

स्त्रियों के ही वे अलंकार हैं, अतः तद्गत मानकर ही यहाँ उनका वर्णन किया गया है। पुरुष का तो उत्साह वर्णन अन्य अलंकार है और नायक के समस्त भेदों में धीरता विशेष रूप से कहा ही है, उसी से आच्छादित तो श्रृंगारादि धीरललित इत्यादि में धीर शब्द है।

उन्होंने आगे विश्लेषण करते हुए लिखा है कि कुछ अलंकार क्रियात्मक हैं और कुछ स्वाभाविक गुण। क्रियात्मकों मे भी कुछ पूर्वजन्म अभ्यस्त रतिभाव मात्र के द्वारा सत्त्वोत्पन्न होने से देहमात्र में होते हैं, वे अंगज कहलाते हैं। अन्य इस जन्म में समुचित विभाववशात् प्रस्फुटित रतिभावयुक्त देह में स्फुरित होते हैं वे स्वाभाविक कहलाते हैं अर्थात् स्वयं के रतिभाव से हृदयगोचरीभूत होते हैं। जैसे किसी नायिका के कुछ अलंकार स्वभाववशात् होते हैं, अन्य नायिका के दूसरे और किसी नायिका के दो-तीन अथवा इससे भी अधिक स्वाभाविक होते हैं। भाव, हाव और हेला सभी भाव सत्त्व की अधिकता होने से समस्त उत्तम नायिकाओं मे होते हैं। शोभा आदि सात अलंकार हैं। इसी प्रकार अंगज और स्वभावज क्रियात्मक हैं तथा शोभा आदि गुणात्मक होने से अयत्नज हैं आयासपूर्वक उत्पन्न होने से क्रियात्मक कहलाते हैं।[1] बीस अलंकारों का विवेचन इस प्रकार है—

<u>तीन अंगज अलंकार</u> - भाव, हाव और हेला - ये तीन अंगज अलंकार क्रमशः अल्प, अधिक और अत्यधिक विकारात्मक होते हैं।[2]

---

1. काव्यानुशासन, वृत्ति, पृ. 422
2. भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजा अल्पबहुभूयोविकारात्मकाः। काव्यानुशासन, 7/34

दश स्वाभाविक अलंकार – लीला आदि 10 स्वाभाविक अलंकार हैं।[1]

§1§ लीला : "वाग्वेषचेष्टितैः प्रियस्यानुकृतिर्लीला" अर्थात् वाणी, वेष और चेष्टाओं के द्वारा प्रिय नायक का अनुकरण करना लीला कहलाता है।

§2§ विलास : "स्थानादीनां वैशिष्ट्यं विलासः" अर्थात् प्रिय के स्थान आदि का वैशिष्ट्य विलास कहलाता है। आदिपद के ग्रहण से स्थान उर्ध्वता के अतिरिक्त बैठना, जाना, हाथ, भौंह, नेत्र कर्म आदि का वैशिष्ट्य भी विलास कहलाता है।

§3§ विच्छित्ति : "गर्वादल्पाकल्पन्यासः शोभाकृद् विच्छित्तिः" अर्थात् सौभाग्य के गर्व से अल्प आभूषणों का पहनना शोभावर्द्धक होने से विच्छित्ति कहलाता है।

§4§ बिब्बोक : "इष्टेऽप्यवज्ञा बिब्बोकः" अर्थात् इष्ट वस्तु में अनादर बिब्बोक कहलाता है। सौभाग्य के गर्वादि से इष्ट वस्तु में भी आदर न करना बिब्बोक है।

§5§ विभ्रम : "वागंगभूषणानां व्यत्यासो विभ्रमः" अर्थात् वाणी, अंग और आभूषणों का विपर्यय विभ्रम कहलाता है।

§6§ किलिकिंचित् : "स्मितहसितरुदितभयरोषगर्वदुःखश्रमाभिलाषसंकरः किलिकिंचितम्।" अर्थात् मुस्कराना, हंसना, रोना, भय, क्रोध,

---

1. लीलादयो दश स्वाभाविकाः। लीलाविलासविच्छित्तिबिब्बोकविभ्रम-किलिकिंचितमोट्टायितकुट्टमितललितविहृतनामानः।
   वही, 1/35, दृ. पृ. 424

गर्व, दुःख, श्रम और अभिलाष का एक साथ होना किलिकिंचित कहलाता है।

§7§ मोट्टायित : "प्रियकथादौ तद्भावभावनोत्था चेष्टा मोट्टायितम्" अर्थात् प्रिय की कथा आदि में उसके भाव से प्रभावित होने पर उत्पन्न चेष्टा मोट्टायित कहलाता है।

§8§ कुट्टमित : "अधरादिग्रहाद् दुःखेऽपि हर्षः कुट्टमितम" अर्थात् प्रियतम द्वारा अधरादि के ग्रहण से दुःख होने पर भी हर्ष का भाव कुट्टमित कहलाता है।

§9§ ललित: "मसृणोऽङ्गन्यासो ललितम्" अर्थात् कोमल अंगों का न्यास ललित कहलाता है। हाथ, पैर, भौंह, नेत्र, अधर आदि सुकुमार अंगों का विन्यास ललित है।

§10§ विहृत : "व्याजादेः प्राप्तकालस्याऽप्यवचनं विहृतम्" अर्थात् अवसर प्राप्त होने पर भी मुग्धता, लज्जा आदि गुणों के कारण न बोलना विहृत कहलाता है।

विलास : "कर्तव्यवशादायाते एव हस्तादिकर्मणि यद् वैचित्र्यं स विलासः" अर्थात् कर्तव्यवशात् नायक के आने पर ही हस्तादि के कार्यों में जो विचित्रता आती है, वह विलास कहलाता है। प्रकारान्तर से यह सातिशय ललित का ही स्वरूप है। आ. हेमचन्द्र ने "केचित आहुः" कहकर भोजराज के मत से क्रीडित और केलि इन दो अलंकारों को भी सोदाहरण प्रस्तुत किया है।[1]

1. केचित् बाल्यकुमारयौवनसाधारणविहारविशेषं क्रीडितम्, क्रीडितमेव च प्रियतम विषयं केलिं चालंकारौ आहुः।
काव्यानुशासन वृत्ति, पृ. 428

सात अयत्नज अलंकार : शोभा आदि सात अयत्नज अलंकार कहलाते हैं।[1]

शोभा, कान्ति और दीप्ति : "रूपयौवनलावण्यैः पुंभोगोपबृंहितैर्मन्दमध्य-तीव्राङ्गच्छाया शोभा कान्तिदीप्तिश्च" अर्थात् रूप, यौवन तथा लावण्य का पुरूष द्वारा उपभोग करने से वृद्धि को प्राप्त मन्द, मध्य और तीव्र अंगों की छाया क्रमशः शोभा, कान्ति और दीप्ति नामक स्त्रियों के अयत्नज अलंकार हैं।

माधुर्य : "चेष्टास्वमसृणत्वं माधुर्यम्" अर्थात् क्रोधादि में भी चेष्टाओं हाव-भावों की कोमलता माधुर्य है।

धैर्य : "अचापलाविकत्थनत्वे धैर्यम" अर्थात् चंचलता और आत्मप्रशंसा का अभाव धैर्य है।

औदार्य : "प्रश्रय औदार्यम्" अर्थात् अमर्ष, ईर्ष्या, क्रोध आदि अवस्थाओं में भी प्रश्रय-शिष्टतापूर्ण व्यवहार औदार्य है।

प्रागल्भ्य : "प्रयोगे निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्" अर्थात् प्रयोग-काम, चौसठ कला आदि के प्रयोग में निःसाध्वसत्व अर्थात् भय आदि का न होना प्रागल्भ्य है।

आचार्य हेमचन्द्र के प्रतिपादन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन पर भरतमुनि का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है तथा उन्होंने आचार्य धनंजय का अनुकरण किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने विलास नामक स्वाभाविक अलंकार का स्वरूप

1. शोभाद्याः सप्तायत्नजाः।
काव्यानुशासन 7/47, वृत्ति, पृ. 423

दो स्थान 7/37 और 7/45 पर प्रस्तुत किया है। द्वितीय स्वरूप को उन्होंने प्रकारान्तर से सातिशय ललित कहा है। शाक्याचार्य राहुल आदि आचार्यों ने मौग्ध्य (मुग्धता), मद, भाविकत्व, परितपन आदि अलंकारों को भी कहा है, परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने भरतमतानुसार ही उनकी उपेक्षा कर दी है।[1] अयत्नज अलंकारो के विषय में आचार्य हेमचन्द्र की मान्यता है कि शोभा, कान्ति, और दीप्ति बाह्यरूपगत हैं तथा इनमे आवेग, चपलता, अमर्ष, त्रास का तो अभाव ही है। माधुर्य आदि तो स्त्रियों के धर्म हैं, चित्तवृत्ति स्वभाव रूप नहीं। इसलिए इनमें भावों की शंका करने के लिए कोई अवकाश नहीं है।[2]

आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा बीस अलंकारों के लक्षण भी पूर्ववत हैं।[3] नवीनता की दृष्टि से उनके द्वारा किया गया ललित व विलास

---

1. शाक्याचार्यराहुलादयास्तु मौग्ध्यमदभाविकत्व परितपनादीन-प्यलंकारानाचक्षते। तेऽस्माभिर्भरतमतानुसारिभिरूपेक्षिता।।

   काव्यानु., वृत्ति, पृ. 43।

2. अत्र शोभाकान्तिदीप्तयो वाह्यरूपादिगता एव विशेषा आवेग-चापलामर्षत्रासानां स्वभाव एवं। माधुर्यादया धर्मा न चित्तवृत्ति-स्वभावा इति नैतेषु भावशंकावकाशः।।

   वही, 43।

3. हिन्दी नाट्यदर्पण, 4/27-37

का अंतर उपादेय है। उन्होंने लिखा है कि - देखने योग्य वस्तु के न रहने पर भी दृष्टि फैलाना, ग्रहण योग्य वस्तु के अभाव में भी हाथ आदि का चलाना जैसे निष्प्रयोजन व्यापार ललित हैं और सप्रयोजन व्यापार विलास है। यही इनमें अंतर है।[1]

जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने स्त्रियों के उक्त बीस सत्त्वज अलंकारों में से प्रथम तेरह को अप्राप्तसंभोगता में भी होने से अनुभाव भी माना है तथा शोभा कान्ति आदि अन्तिम सात को अलंकार मात्र।[2]

---

1. द्रष्टव्यं विना दृष्टिक्षेपो, ग्राह्यमृते हस्तादिव्यापृतिरित्येवं निष्प्रयोजनो ललितम्। सप्रयोजनस्तु व्यापारो विलास, इत्यनयोर्भेदः इति।

   वही, 4/33 वृत्ति

2. एते च भावाद्यो विंशतिरलंकाराः स्त्रीणामित्युक्तमन्यैः। अस्माभिस्तु तेष्वाद्यास्त्रयोदश अप्राप्तसंभोगतायामपि सम्भवन्तीत्यनुभावत्वेनापि प्रतिपादिताः। शोभा - कान्ति दीप्ति - माधुर्य - धैर्योदार्य प्रागल्भ्यनामानस्तु सप्त प्राप्तसंभोगमेव भवन्तीत्यलंकारा एव नानुभावतां भजन्तीति।

   अलंकारमहोदधि, पृ. 76-77

नाट्य वृत्तियाँ : यद्यपि वृत्ति शब्द का प्रयोग विविध अर्थों मे किया जाता है, किन्तु काव्यशास्त्र में यह विशिष्ट अर्थ का वाचक है। यहाँ यह तीन विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है - प्रथम शब्दशक्ति में अर्थात् अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या और व्यंजना के रूप में, द्वितीय उपनागरिका परूषा व कोमला नामक अनुप्रास के प्रकारों के लिये तथा तृतीय कैशिकी, आरभटी, भारती व सात्त्वती आदि नाट्यवृत्तियों के लिए होता है। प्रस्तुत में नाट्यवृत्तियों को ही ध्यान में रखकर इनका विवेचन किया जा रहा है। नाट्य प्रयोग की दृष्टि से नायक-नायिकादि पात्रों की कायिक, वाचिक व मानसिक व्यापाररूप चेष्टा ही "वृत्ति" रूप में विवक्षित है।

नाट्यवृत्तियों की उत्पत्ति : भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इन वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कथित है कि भगवान विष्णु नागशय्या पर शयन कर रहे थे। तदनन्तर शक्ति के मद में उन्मत्त मधु व कैटभ नामक असुरों ने विष्णु को युद्ध में ललकारा। उस समय असुरों के विनाश हेतु जिन चेष्टा - विशेषों का प्रदर्शन किया गया उन्हीं से वृत्तियों की उत्पत्ति हुई।[1] सर्वप्रथम विष्णु के द्वारा भूमि पर बलपूर्वक पैर रखने से जब भूमि

---

1. नाट्यशास्त्र, 22/11-14

पर अत्यधिक भार पड़ा तब भारती वृत्ति उत्पन्न हुई। विष्णु की गतिशाली तीव्र, दीप्तिकर एवं शक्तिशाली तथा भयरहित चेष्टाओं से सात्त्वती वृत्ति की उत्पत्ति हुई। विष्णु के विचित्र आंगिक हाव-भावों व लीला के द्वारा शिखा बंधन से कैशिकी नामक वृत्ति की उत्पत्ति हुई व प्रचण्ड आवेग के आधिक्य व विविध मुद्राओं से विष्णु के द्वारा युद्ध करने से आरभटी नामक वृत्ति की उत्पत्ति हुई।

आचार्य भरत के एक अन्य उल्लेखानुसार ऋग्वेद से भारती वृत्ति, यजुर्वेद से सात्त्वती, सामवेद से कैशिकी व अथर्ववेद से आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति हुई।[1]

इस प्रकार भरतमुनि ने उक्त चार प्रकार की वृत्तियों का निरूपण किया है। उक्त वृत्तियाँ प्रधान अंश की दृष्टि से परस्पर पृथक् होते हुए भी एक दूसरे से संवलित भी होती हैं, क्योंकि वाचिक, मानसिक और शारीरिक चेष्टाएँ परस्पर मिलकर ही एक दूसरे को पूर्णता देती है। अभिनवगुप्तानुसार शारीरिक चेष्टा भी सूक्ष्म मानसिक और वाचिक चेष्टाओं से व्याप्त रहती है।[2] अभिनवगुप्त के उक्त मत के आधार पर जैनाचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि चार वृत्तियां

---

1. वही, 22/24
2. अभिनवभारती, भाग-3, पृ. 1

किसी एक वृत्ति के प्रधान होने के कारण ही होती हैं, अन्यथा अनेक चेष्टाओं से मिलता हुआ वृत्तितत्व एक ही है, क्योंकि नाटक या प्रबन्धादि में किसी भी वृत्तितत्व का दूसरी वृत्तियों के योग के बिना निष्पन्न होना संभव ही नहीं। यदि नाटक में विदूषक भी हास्य के लिये चेष्टा करता है तो वह भी मन या बुद्धि से समझकर ही करता है। अतः वृत्तियां एक दूसरे से संवलित होने पर भी अंश-विशेष की प्रधानता होने से भारती, सात्वती, कैशिकी व आरभटी भेद से चार प्रकार की होती हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र अनभिनेय काव्य में भी वृत्तियों की स्थिति स्वीकार करते हैं, क्योंकि कोई भी वर्णनीय काव्य - व्यापार शून्य नहीं हो सकता।[1] उन्होंने वृत्तियों को नाट्य की माता स्वीकार किया है।[2]

<u>भारती वृत्ति</u> : नाट्यदर्पणकार के अनुसार, समस्त रूपकों में रहने वाली, आमुख तथा प्ररोचना से उत्थित (अर्थात् नाटक के प्रारंभिक भागों मे विशेष रूप से उपस्थित) सम्पूर्ण रसों से परिपूर्ण, तथा प्राय:

---

1. मानसैर्वाचिकैश्च व्यापारैः सम्भिद्यन्ते। शब्दोल्लिखितं मनः प्रत्ययं विना रुञ्जकस्य कायव्यापारपरिस्पन्दस्याभावात्। तेनानभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव। न हि व्यापारशून्यं किञ्चिद् वर्णनीयमस्ति।

    हि. नाट्यदर्पण, पृ. 274

2. भारती सात्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः
   रस-भावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः।।
   वही, 3/1

संस्कृत भाषा का अवलम्बन करने वाली, वाग्व्यापार-प्रधान वृत्ति भारती वृत्ति कहलाती है।[1]

भारतीवृत्ति की विशेषता ये है कि इसकी स्थिति अभिनेय तथा अनभिनेय सभी प्रकार के काव्यों में सामान्यरूप से रहती है।[2] कारिका में प्रयुक्त प्राय: शब्द का जो प्रयोग किया गया है उसकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि यद्यपि भारती वृत्ति का मुख्य स्थान आमुख तथा प्ररोचना भागों को माना गया है किंतु इनसे भिन्न स्थानों पर वीथी व प्रहसन में भी इसका स्थान पाया जाता है। इसी प्रकार मुख्य रूप से भारती वृत्ति में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग होता है किन्तु वह अनिवार्य नहीं है। कभी - कभी संस्कृत से भिन्न प्राकृत भाषा का भी भारतीवृत्ति में अवलम्बन किया जा सकता है।[3]

<u>सात्त्वती वृत्ति</u> - जैनाचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार, मानसिक, वाचिक तथा कायिक अभिनयों से सूचित, आर्जव, डाँट-फटकार(आधर्ष)

---

1. सर्वरूपकगामिन्यामुख - प्ररोचनोत्थिता।
   प्राय: संस्कृतनि: शेषरसाढ्या वाचि भारती।
   वही, 3/2
2. वही, वृत्ति, पृ. 275
3. वही, वृत्ति, पृ. 276

हर्ष व धैर्य से युक्त तथा रौद्र, वीर, शान्त व अद्भुत रसों से सम्बद्ध मानस-व्यापार सात्त्वती वृत्ति कहलाता है।[1]

इसी को व्याख्यायित करते वे लिखते हैं कि सत्त्व - मन से उत्पन्न होने वाली वृत्ति सात्त्वती वृत्ति है।[2] यद्यपि संसार की सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मक है तथापि सात्त्वती वृत्ति त्रिगुणात्मक होते हुए भी सत्त्वगुण प्रधान होती है। इसमें मानसिक, वाचिक तथा आंगिक अभिनय होने पर भी मानसिक व्यापार सत्त्व से नियंत्रित होते हैं।[3] मानसिक व्यापार की प्रधानता होने से आर्जव, आधर्ष, मृदु, धैर्य आदि भावों का वर्णन होता है। उक्त भावों से युक्त तथा वीर, रौद्र, शांत तथा अद्भुत रसों में रहने वाली वृत्ति सात्त्वतीवृत्ति है।[4]

---

1. सात्त्वती सत्त्व - वागंगाभिनेयं कर्म मानसम्।
   सार्जवाधर्ष - मृद् - धैर्य - रौद्र - वीर - शमाद्भुतम।।
   हि. नाट्यदर्पण 3/5

2. सत् सत्त्वं प्रकाशः तद्यत्रास्ति तत् सत्त्वं मनः, तत्र भवा सात्त्वती।
   वही, वृत्ति, पृ. 286

3. अभिनयत्रयभिधानेऽपि मानसव्यापारस्य सत्त्वप्रधानत्वात्
   सत्त्वाभिनय एवात्र प्रधानमितरौ गौणौ।
   वही, वृत्ति, पृ. 286

4. वही, 3/5

आ. भरत धनंजय[2] आदि आचार्यों के मत में सात्त्वती वृत्ति के संलाप उत्थापक, साङ्घात्य व परिवर्तिक ये चार अंग होते हैं।

कैशिकी वृत्ति : नाट्यदर्पणकार के अनुसार, हास्य, श्रृंगार(नृत्य गीतादि रूप) नाट्य तथा (नर्म अर्थात् शिष्ट परिहासादि के भेदों से युक्त कैशिकी) वृत्ति होती है।[3]

वे लिखते हैं कि अतिशय युक्त केश जिनके हों वे स्त्रियां कैशिका हुई अर्थात् कैशिकी वृत्ति की उत्पत्ति केश शब्द से हुई है। लम्बे केशों से युक्त होने के कारण स्त्री को केशिका" कहा जाता है। उनका प्राधान्य होने से उनकी यह वृत्ति कैशिकी कहलाती है।[4] स्त्रियों की प्रधानता होने से कैशिकी वृत्ति हास्य व श्रृंगारोचित क्रियाओं से युक्त होती है। इसमें नर्म-वाग्, वेष तथा चेष्टाओं से अग्राम्य परिहास भी रहता है।[5] जैसे – कुमारसंभव के सातवें सर्ग में

---

1. नाट्यशास्त्र, 20/41
2. दशरूपक, 2/53 ख
3. कैशिकी हास्य – श्रृंगार – नाट्य नर्मभिदात्मिका।
   वही, 3/6 का पूर्वार्द्ध।
4. वही, विवृति, पृ. 287
5. वही, विवृति, पृ. 287

सखियों द्वारा पार्वती से किया गया परिहास "पत्युः शिरश्चन्द्र-कलामनेन..... " इत्यादि नर्मवाक् परिहास है।[1]

आरभटी वृत्ति : आरभटी वृत्ति का लक्षण करते हुए आ. रामचन्द्र-गुणचन्द्र लिखते हैं कि अनृतभाषण, छल-प्रपञ्च, द्वन्द्वयुद्ध तथा (रौद्रादि) दीप्तरसों से युक्त (वृत्ति) आरभटी कहलाती है।[2]

इसी को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं कि "आर" अर्थात् चाबुक (अंकुश) के समान प्रहार करने वाले उद्धत पुरूष आरभट कहे जाते हैं और ये आरभट जिस व्यापार मे संलग्न हो, वह आरभटी[3] वृत्ति है। यह वीरों के क्रोधावेग, असत्यभाषण, प्रपंच, छल-छद्म, माया-इन्द्रजालादि[4] के वर्णन तथा रौद्रादि-दीप्तरसों में प्रयुक्त होती है। यह कायिक, वाचिक व मानसिक सब प्रकार के अभिनयों से युक्त होती है।[5] भरत तथा धनंजय आदि नाट्याचार्यों ने आरभटी के

---

1. वही, पृ. 287
2. आरभट्यनृत - द्वन्द्व-छद्म -दीप्तरसान्विता।।
   वही, 3/6
3. वही, विवृति, पृ. 288
4. हि. नाट्यदर्पण, वृत्ति, पृ. 288
5. वही, वृत्ति, पृ. 289

के क्रमशः संक्षिप्ति, अवपात, वस्तूत्थापन और सम्फेट चार अंग स्वीकार किये हैं।

उक्त वृत्तियाँ रस भाव व अभिनय का अनुसरण करती हैं। अस्तु निष्कर्षतः यह कहना सम्यक् प्रतीत होता है कि जैनाचार्यों ने जहाँ काव्यशास्त्रीय तत्वों का समग्ररूपेण विस्तृत विवेचन किया है वहीं नाट्यसम्बन्धी तत्वों का ही न केवल काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में समावेश किया है अपितु नाट्यशास्त्रीय स्वतंत्र ग्रन्थों का भी प्रचलन किया है। इनमें वर्णित समग्र तत्व भरत-परंपरा के अनुगामी होने के साथ ही साथ जैनाचार्यों की अपनी मौलिक विचारधारा से भी अनुप्राणित हैं। फलतः इनसे काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को एक नूतन दिशा प्राप्त हुई है जो निश्चित ही जैनाचार्यों के महनीय योगदान की सूचक है।

संक्षिप्त संकेत सूची

अ.	–	अध्याय
आ.	–	आचार्य
काव्या.	–	काव्यानुशासन
पृ.	–	पृष्ठ
वृ.	–	वृत्ति
हि.	–	हिन्दी
वाग्भटा.	–	वाग्भटालंकार
महा. वस्तु. का सा. व सं. सा. में उसकी देन	–	महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमंडल व संस्कृत साहित्य में उसकी देन
त्रि. श. पु. च.	–	त्रिशष्टिशलाकापुरूषचरित

सहायक ग्रन्थ - सूची

(1) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग
संपादक - अनु. डा. रामलाल शर्मा,
प्रकाशक - नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
दिल्ली - 6, द्वितीय संस्करण, 1969

(2) अलंकार धारणा: विकास और विश्लेषण
डा. शोभाकान्त मिश्र,
प्रकाशक - बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
पटना - 3, प्रथम संस्करण, 1972

(3) अलंकारमहोदधि : नरेन्द्रप्रभसूरि,
संपादक - लालचन्द्र भगवानदास गान्धी जैन पंडित,
प्रकाशक - गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज,
बड़ौदा, 1942

(4) आचार्य हेमचन्द्र -
लेखक डा. वि. भा. मुसलगांवकर
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल, से प्रकाशित

(5) (हिन्दी) अभिनवभारती : अभिनवगुप्त, भाष्यकार -
आचार्य विश्वेश्वर,
प्रकाशक - हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
द्वितीय संस्करण, सन् 1973

(6) हिन्दी अलंकारसर्वस्व : राजानक रूय्यक,
हिन्दी भाष्यानुवादकार-डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी,
चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी,
प्रथम संस्करण, सन् 1971

(7) काव्यप्रकाश : मम्मट,
व्याख्याकार - आ. विश्वेश्वर,
सम्पादक - डा. नगेन्द्र,
प्रकाशक - ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1960

(8) (हिन्दी) काव्यमीमांसा: राजशेखर,
व्याख्या - डा. गंगासागर राय, एम. ए., पी. एच. डी.,
प्रकाशक - चौखम्बा विद्याभवन,
वाराणसी - 1,
तृतीय संस्करण, वि. सं. 2039

(9) काव्यादर्श : दण्डी,
अनुवादक - ब्रजरत्नदास, बी. ए.,
प्रकाशक - श्री कमलामणि ग्रन्थमाला कार्यालय,
बुलानाला, काशी, वि. सं. 1988

(10) काव्यानुशासन: हेमचन्द्र,
सम्पादक - रसिकलाल सी. पारिख,
प्रकाशक - श्री महावीर जैन विद्यालय,
बंबई, प्रथम संस्करण 1938

(11) काव्यानुशासन: वाग्भट द्वितीय,
सम्पादक - पं0 शिवदत्त शर्मा और काशीनाथ पाण्डुरंग परब,
प्रकाशक - तुकाराम जावजी, निर्णयसागर प्रेस,
बम्बई, द्वितीयावृत्ति, 1915

(12) काव्यालंकार: भामह,
भाष्यकार - देवेन्द्रनाथ शर्मा,
प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,
पटना, ख्रिष्टाब्द - 1962

(13) हिन्दी काव्यालंकार: रूद्रट, नमिसाधुकृत
सं. टीका सहित, व्या. श्री रामदेव शुक्ल,
प्रका. - चौखम्बा विद्याभवन,
वाराणसी - 1, प्रथम संस्करण 1966

(14) काव्यालंकारसार: भावदेवसूरि
(अलंकारमहोदधि के अंत में -
पृ. 343 से 356 तक प्रकाशित)

(15) काव्यालंकारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या,
उद्भट एवं प्रतिहारेन्दुराज,
व्याख्या- डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी,
प्रका0-हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग,
प्रथम संस्करण, सन् 1966

(16) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र: वामन,
व्याख्या. आचार्य विश्वेश्वर,
सम्पादक - डा. नगेन्द्र,
प्रकाशक - आत्माराम एण्ड सन्स,
दिल्ली - 6, सन् 1954

(17) चन्द्रालोक: पीयूषवर्ष जयदेव,
व्याख्या. नन्दकिशोर शर्मा, साहित्याचार्य,
प्रकाशक - चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस,
बनारस, सन् 1937

(18) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 5:
पं0 अम्बालाल प्रे0 शाह,
प्रकाशक - पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
वाराणसी - 5, प्रथम संस्करण, 1969

(19) जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र मे योगदान:
डा. कमलेश कुमार जैन
प्रका. - पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
वाराणसी - 5, वि. सं. 2041

(20) तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, चतुर्थ खण्ड:
डा. नेमिचन्द्र शास्त्री,
प्रकाशक - अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत् परिषद्,
प्रथम संस्करण, 1974

(21) हिन्दी दशरूपक: धनञ्जय,
व्याख्या. - डा. भोलाशंकर व्यास,
प्रकाशक - चौखम्बा विद्या-भवन,
बनारस, चतुर्थ संस्करण, 1973

(22) हिन्दी ध्वन्यालोक: आनंदवर्धन,
व्याख्या - आचार्य विश्वेश्वर,
प्रकाशक - गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली
प्रथम संस्करण, अगस्त, 1952

(23) नलविलासनाटक : आचार्य रामचन्द्र,
सम्पादक - जी. के. गोण्डेकर,
प्रकाशक - गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज,
सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा, 1926

(24) हिन्दी नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र,
व्याख्या. - आचार्य विश्वेश्वर,
प्रकाशक - हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
प्रथम संस्करण, सन् 1961

(25) नाट्यशास्त्र: भरतमुनि,
संपादक - बटुकनाथ शर्मा, बलदेव उपाध्याय,
प्रकाशक - चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस,
बनारस सन् 1929

(26) हिन्दी नाट्यशास्त्र: भरतमुनि,
संपादक - एवं व्याख्या. बाबूलाल शुक्ल शास्त्री,
चौखम्बा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् 1972

(27) निर्भयभीमव्यायोग: आचार्य रामचन्द्र,
सम्पादक - पं0 श्रावक हरगोविन्ददास बेचरदास,
प्रकाशक - हर्षचन्द्र भूराभाई, धर्माभ्युदय प्रेस,
वाराणसी, वीर संवत् 2437

(28) भारतीय साहित्यशास्त्र: गणेश यम्बक देशपाण्डे,
प्रकाशक - पाप्युलर बुक डिपो, बम्बई - 7,
प्रथम संस्करण, 1960

(29) महामात्य वस्तुपाल का साहित्य-मंडल और संस्कृत साहित्य में उनकी देन:
डा. भोगीलाल ज0 सांडेसरा,
प्रकाशक - दलसुख मालवणिया, मंत्री जैन
संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी - 5,
प्रथम संस्करण, 1959

(30) रसगंगाधर : पंडितराज जगन्नाथ,
संस्कृत व्या. - पं0 श्री बद्रीनाथ झा,
हि. व्या. पं0 श्री मदनमोहन झा,
चौखम्बा विद्याभवन, चौक बनारस - 1,
1955

(31) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित: कुन्तक,
व्या. राधेश्याम मिश्र,
चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
प्रथम संस्करण, सन् 1967

(32) वाग्भट विवेचन: आचार्य प्रियव्रत शर्मा,
प्रकाशक - चौखम्बा विद्याभवन,
वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1968

(33) वाग्भटालंकार: वाग्भट प्रथम,
सिंहदेवगणि टीका सहित,
हि. व्याख्या. डा. सत्यव्रत सिंह,
प्रकाशक - चौखम्बा विद्याभवन,
चौक, वाराणसी, सन् 1957

(34) संस्कृत शास्त्रों का इतिहास: आचार्य बलदेव उपाध्याय,
प्रकाशक - शारदा मंदिर वाराणसी - 5,
प्रथम संस्करण, सन् 1969

(35) संस्कृत साहित्य का इतिहास:
ए. बी. कीथ. अनु0 मंगलदेव शास्त्री,
प्रकाशक - मोतीलाल बनारसीदास,
देहली, सन् 1960

(36) संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास:
लेखक - डा. सुशील कुमार डे
अनुवादक - श्री मायाराम शर्मा
प्रकाशक - बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
पटना, द्वितीय संस्करण, सितम्बर 1988

(37) सरस्वतीकंठाभरण भोज,
व्या. डा. कामेश्वरनाथ मिश्र,
प्रका. - चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी,
प्रथम संस्करण, 1976

(38) साहित्यदर्पण - विश्वनाथ,
व्याख्या. - डा. सत्यव्रत सिंह,
प्रकाशक - चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी
तृतीय संस्करण, वि. सं. 2026

(39) हेमचन्द्राचार्य जीवनचरित्र -
मूल जर्मन लेखक डा. जी बूहलर
अँग्रेजी से हिन्दी अनुवाद कस्तूरमल बांठिया
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1
प्रथम संस्करण, 1967

पत्रिका

जैन सिद्धान्त भास्कर: संपा0- डा0 ज्योतिप्रसाद जैन,
डा0 नेमिचन्द्र शास्त्री,
प्रकाशक- देवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट
जैन सिद्धान्तभवन, आरा, हीरक जयन्ती विशेषांक,
भाग 23 किरण 1 एवं भाग 14 किरण 2

ENGLISH BOOKS

(1) History of Indian Literaturer: M.Winternitz, Vol. II, University of Calcutta, Second Edition, 1972.

2. A History of Sanskrit Literature :
A Mecdonal, London William Heinemann, Second Edition 1905.

3. Kavyanusasana, Volume II Introduction, by - R.C. Parikh, Pub. - Sri Mahavira Jaina Vidyalaya, Bombay, First Edition, 1938.

4. The Number of Rasas :
V. Raghavan, Pub. - The Adyar Library, Adyar, 1940.

5. Sanskrit Drama : A.B. Keith, Oxford University Press, 1923.